ओशो का संदेश
जीने की एक नई राह

यह पुस्तक मा मोक्षा द्वारा लिए सदगुरु शैलेन्द्र जी के साक्षात्कारों का संकलन है। 'आस्था' टीवी चैनल पर प्रसारित इन धारावाहिक चर्चाओं का केन्द्रीय बिंदु सदगुरु ओशो से जुड़े हुए क्रांतिकारी विवादास्पद मुद्दे हैं। इन प्रश्नोत्तरों की ऑडियो रिकार्डिंग 'जीने की नई राह : टी.वी. इंटरव्यू' नामक सीडी में उपलब्ध है।

अनुक्रमणिका

पृष्ठ	साक्षात्कार का विषय
02	सदगुरु ओशो का परिचय
07	ओशोः जीने की एक नई राह
14	बच्चों को स्वतंत्रता कहां तक
20	अहंकारः उपयोग एंव मुक्ति
27	धर्म और धार्मिकता में भेद
33	विज्ञान, धर्म और कला
39	क्रियाकांडों का विरोध
46	संन्यासी की नई परिभाषा
50	लॉफ्टर इस माय मैसेज
56	पहले ध्यान, फिर भक्ति
62	मेडिटेशन इन मार्केट प्लेस
70	जीवन ही है प्रभु
76	काम, प्रेम और विवाह
82	अखंडता में ही पवित्रता
88	शिक्षा, तुलना, महत्वाकांक्षा
94	सृजनात्मकता, अद्वितीयता
101	नारी और क्रांति
107	शिक्षा प्रणाली कैसी हो?
113	ओशो ने नियम क्यों नहीं दिए?
119	अनुगमन नहीं, विवेक–जागरण
125	पर्व–त्योहारों का औचित्य
130	प्रार्थना– मांग नहीं, धन्यवाद
136	वास्तविक दान और तपस्या
142	तीर्थ–स्नान आदि के अर्थ
146	क्या ओशो अमीरों के गुरु हैं?
151	कम्यून में बच्चों की देख–रेख
156	पिताश्री का महापरिनिर्वाण

श्री रजनीश ध्यान मंदिर
कुमाशपुर–दीपालपुर रोड
जिलाः सोनीपत, हरियाणा 131021

contact@oshofragrance.org

www.oshofragrance.org

सदगुरु ओशो

विरले व्यक्ति के संबंध में विरली बातें

ओशो के विषय में कुछ कहना आकाश को मुट्ठी में बांधने जैसा असंभव काम है... और किस ओशो का परिचय दिया जाए– मृण्मय दीपक का अथवा चिन्मय ज्योति का? चैतन्य की वह लौ तो कागजी शब्द–पेटियों में समाती नहीं, केवल परोक्ष सांकेतिक भाषा में इशारे संभव हैं; जैसे उनकी समाधि पर अंकित ये स्वर्णाक्षर इशारा करते हैं–

जिनका न कभी जन्म हुआ और न ही मृत्यु
11 दिसम्बर 1931 एवं 19 जनवरी 1990 के बीच
जो इस पृथ्वी ग्रह पर केवल विचरण करने आए।

हां, उस अनूठी और प्यारी माटी की देह के संबंध में अवश्य कुछ कहा जा सकता है जिसमें वह अलौकिक ज्योति अवतरित हुई, और 58 वर्षों तक धरती के अनेक भूखंडों पर अपनी ज्ञान–रश्मियां बिखेरती रही।

गौतम बुद्ध के ढाई हजार साल बाद धर्म–चक्र–प्रवर्तक के रूप में अस्तित्व ने धरती पर ओशो को भेजा। 11 दिसम्बर 1931 को कुचवाड़ा नामक गांव में, ननिहाल में ओशो का जन्म हुआ। यह स्थान तत्कालीन अंग्रेजी हुकूमत की भोपाल रिसासत में था और अब मध्य प्रदेश के रायसेन जिले में, बरेली तहसील में है। नाना ने प्यार से उनका नाम 'राजा' रखा। बचपन के स्वर्णिम सात साल उन्होंने नाना–नानी के प्यार की छांव तले बिताए। नाना जी के देहावसान के पश्चात, वे सात वर्ष की उम्र में अपने माता–पिता के पास रहने के लिए गाडरवाड़ा नामक कस्बे में आए।

मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर जिले में स्थित उपरोक्त कस्बे में 'शक्कर' नदी बहती है। प्रवचन में जब ओशो 'मेरा गांव' या 'नदी' का जिक्र करते हैं तो उनका तात्पर्य इसी गांव व नदी से होता है। उन्हें खतरनाक तरीके से तैराकी का बेहद शौक था।

करीब दस साल की आयु में उन्होंने स्कूल में प्रवेश लिया। वे बाएं हाथ से लिखते थे। पेन पकड़ने का उनका ढंग कुछ विशिष्ट ही रहा। सौंदर्य के प्रति गहन संवेदनशीलता उनकी मनमोहक हस्तलिपि में स्पष्ट प्रतिबिंबित होती है। पाठशाला में प्रवेश के वक्त उनका नामकरण हुआ– 'रजनीश मोहन चंद्र जैन'। लेकिन हाई स्कूल में उन्होंने खुद के नाम से जातिसूचक 'जैन' शब्द हटा दिया। जबलपुर, म. प्र. के स्नातक कालेज में आने पर 'रजनीश चंद्र मोहन' लिखने लगे।

कुशाग्र बुद्धि, विद्रोही स्वभाव, असाधारण प्रतिभा एवं विलक्षण वाक्शक्ति के धनी ओशो, विद्यार्थी जीवन में अपने शिक्षकों तथा सहपाठियों के बीच सदा आकर्षण के केन्द्र रहे। 21 वर्ष की आयु में 21 मार्च, 1953 को जबलपुर के भंवरताल उद्यान में मौलश्री वृक्ष के नीचे वे परम जागरण अर्थात् बुद्धत्व को उपलब्ध हुए। उस समय वे डी. एन. जैन कालेज के विद्यार्थी थे।

सदगुरु ओशो के संबंध में कम ही लोगों को मालूम होगा कि वे अपनी नानी को 'मां' और मां को 'भाभी' कहकर पुकारते थे। उनके सौभाग्यशाली पिता स्वामी

देवतीर्थ भारती और मां अमृत सरस्वती ने कालांतर में अपने पुत्र का शिष्यत्व ग्रहण किया, एवं परमज्ञान को उपलब्ध हुए।

ओशो ने सन् 1956 में सागर विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर दर्शन शास्त्र में एम. ए. किया। तदुपरांत रायपुर (अब छत्तीसगढ़ में) के संस्कृत कालेज में लगभग एक वर्ष तक व्याख्याता, फिर सन् 1958 से 1966 तक जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक पद को संभालते हुए 'आचार्य रजनीश' के रूप में प्रसिद्ध हुए। इस अवधि में वे भारत भ्रमण कर व्याख्यान देते रहे। 1964 से ध्यान शिविरों का संचालन भी आरंभ कर दिये। जीवन के विभिन्न पहलुओं पर अपनी मौलिक व क्रांतिकारी दृष्टि प्रस्तुत करने वाले 'आचार्य रजनीश' के रूप में उनकी ख्याति सर्वत्र फैलने लगी। वर्ष 1967 से उन्होंने स्वयं को पूरी तरह धर्म-चक्र-प्रवर्तन एवं मनुष्य के आध्यात्मिक पुनरुत्थान के कार्य में संलग्न कर दिया। विभिन्न रमणीक स्थलों पर दस दिवसीय साधना शिविर लेने शुरु किए। अनेक महानगरों में उन्होंने बीस से पचास हजार श्रोताओं वाली विराट जन-सभाओं को संबोधित किया।

जुलाई 1970 में वे मुंबई आ गए और 'भगवानश्री रजनीश' के रूप में विश्व विख्यात होने लगे। इसी साल 26 सितंबर को मनाली में उन्होंने 'नव-संन्यास' दीक्षा देनी आरंभ की। हजारों मुमुक्षु घर-परिवार या नौकरी-व्यापार छोड़े बगैर, अपना सहज-सामान्य जीवन जीते हुए, नए नाम के साथ गैरिक वस्त्र व माला धारण कर आध्यात्मिक साधना में डूबने लगे। त्याग और तपश्या रहित संन्यास के अभिनव फूल खिलने आरंभ हुए।

21 मार्च 1974 को वे पूना के श्री रजनीश आश्रम, कोरेगांव पार्क में आ बसे, जहां सात साल तक निरंतर, एक-एक माह के लिए क्रमशः हिन्दी व अंग्रेजी में सुबह डेढ़ घंटे प्रवचन दिए। योग, भक्ति, झेन, ताओ, सांख्य, सूफी, हसीद आदि धाराओं पर; तथा बुद्ध, महावीर, मीराबाई, लाओत्से, गोरखनाथ, जीसस, जरथुस्त्र जैसे विश्व के तमाम रहस्यदर्शी संतों के वचनों के गूढ़ रहस्य उजागर किए। उनके अमृत प्रवचन करीब 5000 आडियो-वीडियो रिकार्डिंग व 650 किताबों में उपलब्ध हैं। लगभग 50 भाषाओं में उनका साहित्य अब तक अनुवादित हो चुका है।

इस अवधि में वे शाम को नियमित रूप से साधकों को संन्यास दीक्षा, ऊर्जा दर्शन व व्यक्तिगत मार्गदर्शन देते रहे। संन्यास नामों की व्याख्या के माध्यम से ओशो ने अनाहत नाद, अंतस-आलोक, दिव्य ऊर्जा, दिव्य रस-गंध-स्वाद एवं भागवत आनंद व प्रेम के गुह्य आयामों की चर्चा की, जिनके संकलन दर्शन डायरियों के रूप में प्रकाशित हुए। प्रतिमाह 11 से 20 तारीख तक दस दिवसीय 'समाधि साधना शिविरों' का आयोजन होता रहा।

24 मार्च 1981 को अचानक उन्होंने प्रवचन देना बंद कर दिया। उनके कार्य का नया आयाम मौन-सत्संग के रूप में प्रारंभ हुआ। समस्त शिष्य संघ उनके सान्निध्य में चुप होकर बैठता। गहन और गुह्य आत्मिक ज्ञान मौन सन्नाटे में, सदगुरु से शिष्यों के हृदय में हस्तांतरित होता। इसी शब्दातीत मौन में डूबने के लिए तो वे 30 सालों से लोगों को समझा-समझाकर तैयार कर रहे थे। मन का सदुपयोग कर लिया, मनातीत चैतन्य में ले जाने के लिए।

मई 1981 में वे अमेरिका प्रस्थान कर गए जहां उनके शिष्यों ने ओरेगॉन प्रांत के मरुस्थल में रजनीशपुरम नगर नामक हरा-भरा मरुद्यान बसाया। 20 किलोमीटर दूर स्थित एक पूरा गांव खरीदकर उसका नामकरण 'सिटी ऑफ रजनीश' किया। साढ़े तीन वर्ष के मौन के उपरांत अक्टूबर 1984 में ओशो ने पुनः प्रवचन देना शुरु किया। सितम्बर 1985 में ओशो की सचिव

अपनी कुछ प्रमुख सहयोगियों सहित अचानक रजनीशपुरम से चली गई और पीछे छोड़ गई अपराधों की एक लंबी सूची। ओशो ने अन्वेषण के लिए अधिकारियों को आमंत्रित किया, किंतु सरकार ने इस परिस्थिति को, कम्यून नष्ट करने के हथकंडे के रूप में इस्तेमाल किया। गैर-कानूनी रूप से बिना किसी वारंट के ओशो को गिरफ्तार कर 12 दिनों तक विभिन्न जेलों में रखने के दौरान उन्हें थैलियम नामक धीमा जहर देकर अंततः उन्हें अमेरिका छोड़ने को बाध्य किया।

नवंबर 1985 से लगभग नौ माह तक विश्व भ्रमण के दौरान, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की दुहाई देने वाले तथाकथित 21 प्रजातांत्रिक देशों ने, ओशो को या तो अपने मुल्क में प्रवेश की अनुमति नहीं दी अथवा कुछ समय के उपरांत निष्कासित कर दिया। इस दौरान भी विभिन्न प्रवचन-शृंखलाएं चलती रहीं। जुलाई 1986 की 29 तारीख को वे मुंबई आए। जनवरी 1987 में पुनः पूना आश्रम पधारे।

चेतना के तल पर ही नहीं, जीवन के बाह्य आयामों में भी ओशो बड़े बेजोड़ रहे। उन्होंने कभी जूते नहीं पहने। उन्हें चप्पलें पहनना पसंद थीं। कालेज में कुछ साल तक उन्होंने लकड़ी की खड़ाऊं भी पहनी। पेंट-शर्ट, बेल्ट, टाई कभी नहीं पहनीं। कालेज में खादी के श्वेत धोती-कुर्ता पहनकर जाते थे, और घर में केवल तहमत (लुंगी) पहनते थे। एक छोटा टावेल (नेपकिन) संग रखते थे। दिन में तीन बार स्नान करते और कपड़े बदलते थे। उनकी समय की पाबंदी बड़ी निराली थी। जिंदगी में केवल एक बार प्रवचन देने दो मिनिट देरी से आए- कारण यह था कि रास्ते में मोरों का एक झुंड कार के सामने आकर खड़ा हो गया, और हार्न सुनकर हटने को तैयार ही न था!

ओशो को खूबसूरत पेन एवं घड़ियां उपयोग करने और फोटो खिंचवाने का बेहद शौक रहा। अपने जीवन में उन्होंने अनगिनत फोटो सेशन दिए। पचास साल की आयु तक उन्होंने सिर्फ सफेद रंग के वस्त्र धारण किए। अंतिम आठ वर्षों में रंगीन रोब (गाउन) और टोपी पहनीं। अपने शिष्य-शिष्याओं को गेरुआ (भगवा, नारंगी, गैरिक) वस्त्र पहनाए किंतु उन्होंने कभी इस रंग का परिधान एक बार भी धारण नहीं किया। उनकी सुंदर चप्पलें और वस्त्र आश्रम में ही संन्यासियों द्वारा निर्मित होते थे।

ओशो ने अपने बाल्यकाल की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख 'स्वर्णिम बचपन' नामक पुस्तक में किया है। मस्तो बाबा नामक एक अनूठे फकीर, ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने रजनीश को किशोर अवस्था से ही 'भगवान' कहना कहना आरंभ कर दिया था। ओशो के माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-चाची, तथा संपूर्ण परिवार ने ही उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। उनकी सबसे पहली प्रबुद्ध संन्यासिनी उनकी नानी थीं। 1971 में नानी के देह त्यागने पर वे अंतिम बार अपने गांव गाडरवाड़ा पधारे।

ओशो को आनुवांशिक बीमारी डायबिटीज, तथा धूल, धुंआ व गंध से एलर्जी थी। इसी वजह से आश्रम में आने वालों को हिदायत दी जाती थी कि कोई सिगरेट, तमाखू, सुगंधित साबुन, इत्र या तेल का इस्तेमाल न करें। प्रवचन सुनने वालों अथवा दर्शनार्थियों को सूंघ-सूंघकर भीतर जाने की अनुमति दी जाती थी।

सुबह उठने पर चाय पीना ओशो को हमेशा पसंद रहा। सन 1961 से लेकर

1970 तक के दशक में भारतीय रेल की सर्वाधिक टिकिटें 'आचार्य रजनीश' के नाम से बुक हुई हैं। महीने में 10–12 दिन यात्राओं में बीतते, जगह–जगह पानी बदलने से स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता। इसलिए इस दौरान उन्होंने पानी की जगह सोडा पीना शुरु किये और फिर जिंदगी में कभी पानी नहीं पिये। कोल्ड ड्रिंक्स उन्हें पसंद थे। वक्त–वक्त पर उनके शौक बदलते भी रहे।

भोजन में वे स्वादिष्ट चाट, नमकीन व मिठाई के शौकीन थे। विशेषकर नमकीन काजू और देशी घी से बनी चीजें बहुत पसंद थीं। आलू पराठा, पकोड़े व कचौड़ी जैसी मसालेदार चीजें उन्हें अच्छी लगती थीं। मुंबई में उनकी बड़ी–सी गुजराती थाली चमचमाती हुई चांदी की होती थी। और उसमें दस चांदी की कटोरियां और सोने की चम्मच होती थीं। हालांकि उन्हें आदत या पकड़ किसी बात की नहीं रही। एक बार वजन घटाने हेतु उन्होंने 6 महीने तक केवल दलिया और मूंग की दाल खाई। अंतिम दो–तीन साल केवल एक कटोरी में ही उबला भोजन लेते रहे।

ओशो की साफ–सफाई का स्तर और जंगल जैसे घने बगीचे का शौक निराला था। जबलपुर में उनके पास रेलिस ब्रांड की एक लेडिज साइकिल थी, जिसे वे इतनी चमकाकर रखते थे कि हमेशा लगता था कि यह अभी–अभी नई आई है। फिर स्टैंडर्ड, फिएट, इम्फाला कार लीं, जिनकी शान किसी रोल्स रायस से कम न समझिए! अमेरिका में उनके पास 93 रोल्स रायस कारों का काफिला था, यद्यपि दोपहर को मात्र एक घंटा ड्राइविंग पर जाना होता था... बस!

ओशो की फास्ट ड्राइविंग, उनकी स्विमिंग की तरह ही जोखिम वाली होती थी। उनकी पूरी जिंदगी खतरों का खेल रही। उनकी हर पुस्तक पर छपा होता है सर्वाधिकार सुरक्षित, जबकि वे सदा असुरक्षा में जिये। अस्तित्व की तरह समस्त विरोधाभास उनमें समाहित हैं। विवाह–विरोधी उनके क्रांतिकारी विचारों से कौन अपरिचित है, किंतु अमेरिकी सरकार ने अपने अनुयायियों की शादियां करवाने का आरोप उन पर लगाया। इससे बड़ी हास्यास्पद बात और क्या होगी!

ओशो बचपन में बंशी बजाते थे। दूसरों को मध्यमार्ग सिखाने वाले ओशो स्वयं अति पर जीवन जीते। बंशी का शौक जब समाप्त हुआ तब तक घर में इतनी बांसुरियां इकट्ठी हो गईं थीं कि अंततः चूल्हे में जलाने के काम आईं। कुएं से पानी खींचने का, सुबह तेज गति से दौड़ने का, लंबी दूरी तैरने का तथा व्यायाम का शौक ऐसा कि तब तक डंड–बैठक लगाते थे जब तक कि पसीने से नीचे का फर्श गीला न हो जाए। फिर कुछ साल परम–आलस्य में भी बिताए। तमस गुण के बाद क्रमशः रजस गुण, सत्व गुण एवं गुणातीत अवस्था को भी उनकी पराकाष्ठा पर जिये।

गीत–गजल, संगीत सुनने की उन्हें गहरी रुचि रही। पंडित हरिप्रसाद चौरसिया के बांसुरी वादन के खास प्रशंसक थे। उन्हें नूरजहां, गुलाम अली, मेंहदी हसन, निर्मला देवी आदि की गायिकी बेहद प्रिय रही। बालीवुड और हालीवुड में ओशो की लोकप्रियता के बारे में तो सभी जानते हैं। फिल्में देखने में ओशो की भी बहुत रुचि रही। शायद ही श्रेष्ठ संगीत या फिल्म की कोई आडियो–वीडियो केसेट उनके पास से न गुजरी हो!

ओशो ने अपने छोटे से जीवन काल में करीब एक लाख पुस्तकें पढ़ीं। गाडरवाड़ा के सार्वजनिक पुस्तकालय में आज भी रिकार्ड मौजूद है कि ओशो खुद के नाम से, चाचा जी के नाम से और दो भाइयों के नाम से कार्ड बनाकर चार किताबें रोज ले जाया करते थे। क्योंकि लाइब्रेरी का नियम था कि एक व्यक्ति को एक बार में एक ही पुस्तक दी जाएगी। चारों कार्डों पर ले जाने वाले के नाम पर हस्ताक्षर ओशो के ही हैं। उनकी पढ़ी हुई लगभग साढ़े तीन हजार किताबों में विभिन्न प्रकार के सुंदर हस्ताक्षर, और उनके द्वारा बनाई गई रंगीन पेंटिंग्स भी हैं जिन्हें वे पुस्तक

के अंत में बनाते थे। किशोर अवस्था में ही पत्रिका प्रकाशन आरंभ हो गया– हस्तलिखित ही सही! जिंदगी में अनेक अंतर्राष्ट्रीय मैग्जीन और न्यूज़लैटर्स निकाले।

ओशो के विरोधी तक यह मानते हैं कि ओशो जैसा शब्दों का जादूगर, विचारशील एवं तार्किक विद्वान सदियों में होता है; लेकिन आश्चर्य कि वे स्वयं शब्दों, विचारों व तर्कों के सख्त विरोधी थे और मन के पार जाने की शिक्षा देते रहे– आध्यात्मिक अनुभूति विद्वता से नहीं, बौद्धिक ज्ञान से नहीं, बल्कि निर्विचार ध्यान में डूबने से होती है। आध्यात्मिकता में अक्सर बौद्धिकता ही सबसे बड़ी बाधा बनती है।

26 दिसंबर 1988 को उन्होंने 'भगवान' शब्द हटाकर, स्वयं को 'मैत्रेय दि बुद्धा' कहलाना पसंद किया। किंतु चार दिन बाद ही 30 दिसंबर को पुनः नाम परिवर्तन किया– 'श्री रजनीश, झोरबा दि बुद्धा'। एक सप्ताह बाद जनवरी 1989 में उन्होंने 'श्री रजनीश', फरवरी 1989 में 'ओशो रजनीश' और अंततः 12 सितंबर 1989 से केवल 'ओशो' नाम चुना। उनकी जीवन सरिता सदैव प्रवाहमान रही– 'अनप्रैडिक्टेबिल'!

दिनांक 10 अप्रैल 1989 को उन्होंने अंतिम प्रवचन दिया, तदुपरांत प्रति संध्या मौन सत्संग के माध्यम से अपनी आंतरिक दिव्य संपदा लुटाते रहे। 19 जनवरी 1990 को ओशो ने अपने शिष्यों के नाम यह संदेश छोड़ते हुए पृथ्वी से प्रयाण किया– 'मैं अपना स्वप्न तुम्हें सौंपता हूं।'

ओशो का मुख्य अनुदान सिर्फ वैचारिक क्रांति या ध्यान विधियों का सृजन नहीं, जैसा कि बहुधा समझा जाता है; और न ही जगत को यौन–कुंठा से मुक्त करना है, जिस विषय पर अक्सर उन्हें विवादित किया जाता है। भौतिक व आत्मिक दोनों समृद्धियों के समन्वय को ओशो ने 'जोरबा दि बुद्धा' के प्रतीक में प्रस्तावित किया।

ओशो ने जो सिखाया, एवं खुद उदाहरण बन के दिखाया भी– संसार व संन्यास का समन्वय; धन और ध्यान का, धर्म और विज्ञान का, पूरब और पश्चिम का मिलन, आंतरिक आनंद व बाहरी सुख–सुविधाओं में विवेकपूर्वक जीने की कलात्मक शैली। 'जोरबा' अर्थात् जीवन की परिधि पर विज्ञान, कला, सृजन, शिक्षा, प्रज्ञा, सुख–सुविधा, स्वास्थ्य की संपदा; और 'बुद्धा' अर्थात् जीवन के केन्द्र में बुद्ध, कृष्ण, पतंजलि, दादू, कबीर, नानक और उपनिषद के ऋषियों की तरह ध्यान, साक्षी, ओंकार, समाधि, सुमिरन से अद्वैत एवं निर्वाण तक की अनुभूति।

ओशोधारा में विभिन्न समाधि शिविरों के माध्यम से श्रृंखलाबद्ध तरीके से इस अंतर्यात्रा पर साधकगण चल रहे हैं। यही तो है सदगुरु ओशो का मूल संदेश, केन्द्रीय बिंदु; सभी बुद्धों, जिनों, और संतों के सपनों का सार–निचोड़!

आज, महापरिनिर्वाण के 27 वर्ष बाद भी ओशो उतने ही विवादास्पद हैं, जितने कि अपने जीवनकाल में रहे। ओशो की क्रांति–अग्नि आज भी प्रज्जवलित है और तब तक जलती रहेगी, जब तक इस जमीन पर एक भी मनुष्य जीवित रहेगा।

क्षणभंगुर दीए की संक्षिप्त लौकिक कथा तो समाप्त हुई... किंतु अलौकिक शाश्वत् ज्योति की आभा तो फैली है, फैलती रहेगी, और मुमुक्षुओं के जीवन–पथ को आलोकित करती रहेगी! जय ओशो!

–स्वामी शैलेन्द्र
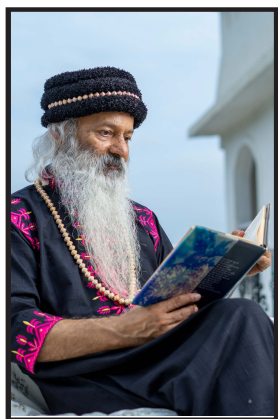
ओशो – जीने की एक नई राह

मा मोक्षा– प्यारे मित्रो, आज से हम एक नयी शृंखला की शुरूआत कर रहे हैं। इसका नाम है 'ओशो का संदेश' जीने की एक नयी राह।

सद्‌गुरु ओशो की शिक्षा को लेकर, उनकी नई दृष्टि को लेकर बहुत सारे विवाद खड़े हुए, गलत फहमियां भी हुईं, काफी लोग पक्ष में आ गए, बहुतेरे विपक्ष में खड़े हो गए। जैसे बंट ही गए अलग अलग दो वर्गों में। गुरुदेव, ऐसा क्यों हुआ? हमें समझाएं।

स्वामी शैलेन्द्र जी– ऐसा होना स्वभाविक है, जब भी कोई व्यक्ति अपनी मौलिक और क्रांतिकारी दृष्टि देता है तो पुराने रूढ़िवादी लोग जो एक परम्परा को पीटते हुए चल रहे हैं, लकीर के फकीर; वे नाराज हो जाते हैं। याद रखना परम्परावादी आदमी कम बुद्धिमान होता है, उसका आई. क्यू. लेवल कम होता है और जब भी कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति आएगा और नयी सूझ–बूझ की बात करेगा; परम्परावादी उसके विरोध में हो जाएंगे। नयी सूझ–बूझ की बातें केवल वहीं लोग ग्रहण कर पाएंगे जिनके हृदय और मन खुले हुए हैं। जिनके मन बंद हैं, पूर्वाग्रह से भरे हैं, वे पहले ही ऐसा मानते हैं कि वे आलरेडी जानते हैं; वे नयी बात देखने–सुनने के लिए तैयार नहीं होते। और ऐसा नहीं समझना कि यह धर्म और अध्यात्म के जगत में ही होता है, विज्ञान के जगत में भी ऐसा ही बार–बार हुआ, हो रहा है, और होगा।

लंदन में जब पहली बार रेलगाड़ी बनी तो कोई उसमें बैठने के लिए तैयार न हुआ। कुल बारह किलोमीटर उस रेल को चलना था। मुफ्त में टिकट दी जा रही थीं। साथ में खाना भी प्रोवाईड था कि ट्रेन में बैठकर आप लंच कर सकते हैं, लेकिन एक भी आदमी तैयार न

हुआ। पोप ने घोषणा कर दी, पादरियों ने पूरे इंग्लैंड में खबर फैला दी कि यह ट्रेन तो शैतान की बनाई हुई है, इसमें जो भी बैठेगा वह नरक चला जाएगा। और सबूत क्या है कि ट्रेन रुकेगी? यह तो समझ में आता है कि चलेगी, परंतु यह रुकेगी भी इसका कोई पता नहीं है। यह तो सीधी नरक में जाकर गिरेगी। कोई भी आदमी बैठने को तैयार नहीं हुआ, यह कोई बहुत पुरानी बात नहीं है। डेढ़–दो सदी ही हुए हैं इस घटना को। पूरे इंग्लैंड में जनता द्वारा भारी विरोध हुआ और अंततः यह निर्णय करना पड़ा कि जेल में जो भयंकर अपराधी बंद हैं, जिनको मृत्यु की सजा होनी है; उनको जबर्दस्ती बांधकर, रस्सियों से कसकर ट्रेन में बिठाला जाए। इन पापियों को तो वैसे भी मरकर नरक जाना ही है, अगर ट्रेन में बैठकर नरक चले गए तो कोई हर्जा नहीं। तो मुश्किल से बारह आदमी इस प्रकार के मिले जिनको जेल से निकालकर ट्रेन में बिठाल दिया गया। बेचारे रो रहे हैं, तड़फ रहे हैं कि हमको बचा लो किसी प्रकार। पहले ट्रेन के ऐतिहासिक यात्रीगण– चीखते–चिल्लाते, भयातुर, कांपते हुए लोग! पादरी ने आदेश दिया– अन्य लोगों को सावधान किया जाए कि शैतान की ट्रेन आ रही है; ट्रेन के आगे एक आदमी लालटेन लेकर चलेगा और जोर–जोर से चिल्लाता हुआ, डुंडी पीटता हुआ, कि भाईयों, दूर हो जाओ शैतान की ट्रेन आ रही है।

आज हम यह बात सुनते हैं तो कितनी हास्यास्पद चुटकुले जैसे लगती है। वो लोग जो विरोध कर रहे थे, वे उस समय के समझदार लोग थे, पढ़े–लिखे, सभ्य, सुसंस्कृत, धार्मिक, ईसा मसीह को मानने वाले, चर्च जाने वाले लोग आस्तिक, पांडित्यपूर्ण लोग थे। जो रेल 50 किलोमीटर प्रति घंटे की गति से चल सकती थी, उसे लालटेन लिए पैदल चलते आदमी के पीछे धीरे–धीरे चलना पड़ा। चारों तरफ तमाशबीनों की भीड़ लगी थी। भयभीत महिलाएं और बच्चे तो यह खतरनाक दृश्य देखने भी नहीं आए थे। तो ऐसा सिर्फ धर्म और अध्यात्म में ही नहीं, जहां कहीं कुछ नया होता है, पुराने लोग उसके आड़े आ जाते हैं। क्योंकि नयी बात अगर सही है तो एक बात सिद्ध हो जाती है कि पुरानी परंपरा में, हजारों साल से हमारे पूर्वज जिसका पालन कर रहे थे, उसमें कुछ भूल–चूक है। और इससे अहंकार को भारी चोट लगती है। हमारे सारे पूर्वज गलत थे, हमारी सारी मान्यताएं गलत थीं। वे सारे लोग बेवकूफ थे क्या? इसलिए नए विचार का सदा विरोध होता है।

ठीक ऐसा ही हम देखते हैं– ईसा मसीह के साथ हुआ। उन्होंने तो छोटी–मोटी बातें कही थीं। आज हमें उन बातों में कोई भी विरोध नहीं लगता है। लेकिन उन्हें जिन बातों के लिए सूली दी गयी, वो बातें क्या थीं; पता है? उन्होंने कहा कि ईश्वर प्रेमस्वरूप है, पितातुल्य है। ईश्वर क्षमाशील और करुणावान है। वे परमात्मा के सदगुणों की बात कर रहे थे, लेकिन परम्परावादी यहूदी बहुत नाराज हुए क्योंकि उनके धर्मशास्त्र में लिखा है कि परमात्मा बड़ा ईर्ष्यालु व हिंसक है और वो तुम्हारी छोटी से छोटी दुष्टता के लिए भयंकर दण्ड देगा, अनंत काल तक तुम्हें नर्क में सड़ाएगा। परमात्मा अत्यंत क्रोधी है। यहूदी ग्रंथ में ईश्वर का वचन है कि 'मैं तुम्हारा चाचा नहीं लगता, जरा भी रहम न करूंगा।' और ईसा मसीह कह रहे हैं कि परमात्मा हमारे पितातुल्य हैं, मां के समान है। अगर बच्चों से कोई भूल–चूक

हो गयी तो स्वीकार कर लो, माफी मिल जाएगी। बस इसी बात पर यहूदी पुरोहित भड़क गए, जनता आग–बबूला हो उठी। उन्होंने कहा कि तुम तो हमारे शास्त्र के खिलाफ बोल रहे हो कि परमात्मा करुणावान है। उन्होंने ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया। आज दो हजार साल बाद हमें सोचकर आश्चर्य होता है कि वे लोग कैसे क्रूर रहे होंगे? नहीं... क्रूर नहीं थे, केवल परंपरावादी थे। वे कट्टरपंथी कह रहे थे कि किताब में जो लिखा है वही सच है।

छोटी–सी बात गैलीलियो ने, कोपरनिकस ने खोज ली कि पृथ्वी गोल है और सूरज का चक्कर लगाती है। इस बात पर कितना उपद्रव हुआ। महान वैज्ञानिक ब्रूनो को तो जिंदा जला दिया गया। एक महान् सत्य का उसने उद्घाटन किया था। किंतु बाईबिल में लिखा है कि पृथ्वी चपटी है। यह पापी आदमी कौन है जो कहता है कि पृथ्वी गोल है? जबकि स्वयं भगवान द्वारा रचित बाईबिल में लिखा है कि सूरज पृथ्वी का चक्कर लगाता है। हमें दिखाई भी वैसा ही देता है और यह आदमी सिद्ध कर रहा है कि नहीं, पृथ्वी सूरज का चक्कर लगाती है। मृत्युदंड से बचने के लिए समझदार गैलीलियो ने क्षमा मांग ली। उसने कहा कि ठीक है, मैं अपनी किताब में सुधार लेता हूं कि पृथ्वी सूरज का चक्कर नहीं लगाती है, लेकिन याद रखना, कि मेरी पुस्तक न तो सूरज पढ़ता है और न पृथ्वी पढ़ती है।

पोप उस व्यंग्य को समझ न पाया। समझदार ही होता, तो पोप बनता! गैलीलियो मजाकिया किस्म का आदमी था। उसने इस बात को हंसी में उड़ा दिया, मगर आजीवन कारावास की सजा मिल गई। दूरबीन का आविष्कारक नजरबंदी की दुर्दशा में ही मरा।

कैसी छोटी–छोटी बात पर सख्त विरोध होता है? क्योंकि दुनिया का बड़ा जनमानस परंपरावादी है, रूढ़िवादी है, लकीर का फकीर है और जब भी प्रतिभाशाली व्यक्ति चाहे वह किसी भी क्षेत्र का हो, अध्यात्म और धर्म का सवाल नहीं, किसी भी क्षेत्र का हो; उसको सदा विरोध का सामना करना पड़ता है। थोड़े से प्रतिभाशाली लोग उसके पक्ष में होते हैं और बाकी सारे लोग विपक्ष में खड़े हो जाते हैं।

ठीक यही ओशो के साथ भी हुआ, ऐसा ही होना था। क्योंकि ओशो ने जीवन के संबंध में, विभिन्न पहलुओं के बारे में इतनी नयी दृष्टि दी कि हमें एकदम चौंकना पड़ेगा! अभी तक हम जिस ढंग से जीवन जी रहे थे वह बिल्कुल ही गलत था। अर्थात् हम मूढ़तापूर्वक जीवन जी रहे थे। नयी समझदारी की बात को, नए तथ्य को, उसके पक्ष में रखे गए वैज्ञानिक तर्कों को स्वीकार करो तो अपने अतीत को इंकार करना होगा।

इसलिए ओशो के बारे में इतनी गलत धारणाएं, भ्रांतियां, मनगढंत कथाएं, और फिर उन कथाओं की आलोचनाएं फैलीं। विशेषकर प्रचार–प्रसार तंत्र जो है, अखबार वाले, पत्रिका वाले, टेलीविजन वाले, मीडिया वाले इनके माध्यम से बहुत गलत–फहमियां फैलती हैं। ऐसा होना बिल्कुल स्वभाविक ही था, इसके अलावा और कुछ हो नहीं सकता। भविष्य में भी इसी प्रकार की घटनाएं घटती रहेंगी। जब कभी कोई मौलिक दृष्टिकोण लेकर आएगा, अतीत के पुजारी उसके विरोध में खड़े होंगे। इससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि ओशो की बात में दम है, जान है। पुराणपंथी डर गए, कहीं उनके झूठ उजागर न हो जाएं।

मा मोक्षा– तो मित्रो, आप सबसे अनुरोध है कि आप किसी भी बात को मानिए नहीं, उसे खुद जानकर देखिए। ओशो ने कितनी अनूठी दृष्टि दी, इस श्रृंखला में रोज एक–एक मुद्दे को हम लेंगे। मैं आपसे यही कहूंगी कि जो सद्‌गुरु स्वामी शैलेन्द्र जी ने कहा या आपने अलग–अलग स्रोतों से जो सुना–पढ़ा हो, उसे भी मानना मत। आप स्वयं प्रयोग करके परखिएगा, खुद जानिएगा।

गुरुदेव, आज हम पहला मुद्दा लेते हैं, स्वतंत्रता का, फ्रीडम का। आपके अनुसार ओशो की दृष्टि में फ्रीडम या स्वतंत्रता क्या अर्थ रखती है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– स्वतंत्रता के दो अर्थों को हम समझें, जिनकी ओशो ने बार–बार चर्चा की है। एक तो बाहरी परतंत्रताओं के खिलाफ, जैसे सामाजिक धारणाएं हैं, जिनमें आदमी बंध जाता है, नैतिक मान्यताएं अथवा जीवन के अन्य मूल्य, प्राचीन परम्पराएं, रूढ़ियां, क्रियाकाण्ड हैं; उन मानसिक गुलामियों से स्वयं को स्वतंत्र करना। एक ऊपरी स्वतंत्रता तो यह है। फिर दूसरी गहरी स्वतंत्रता है अपने अहंकार से भी मुक्ति, स्वयं के होने से मुक्ति। अतः इस के दोनों अलग–अलग पहलू समझिए। एक तो है अपने मन को, अपने ह्रदय को स्वतंत्र करना, ताकि हम सत्य का अन्वेषण करें। जो झूठी मान्यताएं चली आ रही हैं, जिन अंधविश्वासपूर्ण संस्कारों के बंधनों में हम बंधे हैं, उनसे हम मुक्त होकर देख सकें कि क्या है सही और क्या है गलत? और हम स्वयं निर्णय कर सकें अपने अनुभव के आधार पर। हमारे भीतर विवेक और प्रज्ञा जागृत हो। अगर हम बंधनों में हैं, पूर्वाग्रहों से भरे हैं, तब हमारा मन बंधा हुआ हो गया। और बंधा हुआ मन किसी काम का नहीं होता है।

कल ही मैं एक एस.एम.एस. पढ़ रहा था, बड़ा प्रिय लगा। उसमें लिखा था कि इंसान का जो मन है वह पैरासूट की तरह है। अगर वह खुल सके तो ही उपयोगी है, किसी काम का है। अगर पैरासूट न खुल सका तो फिर प्राण खतरे में हैं।

ठीक इसी प्रकार हमारा चित्त बहुत से प्रकार के विश्वासों व संस्कारों से बंधा है, तो हमारे लिए कारागृह के समान हो जाता है। हम एक जेल में बंद हो जाते हैं– स्व–र्निमित कैद, समाज के द्वारा, राजनीति के द्वारा, धर्मगुरुओं के द्वारा; शास्त्रों, ग्रंथों, सिद्धांतों, आदर्शों की ईंटों के द्वारा बनाया गया जेल। हम उसे अपना घर जैसा समझते हैं, लेकिन है वह कारागृह। जब एक हिंदू कहता है कि मैं हिंदू हूं, तो वह हिंदू विचारों के कारागृह में बंद है। जब एक मुसलमान कहता है कि मैं मुस्लिम हूं तो वह एक दूसरे प्रकार के कारागृह में बंद है।

इसी तरह चाहे कोई ईसाई हो, कि जैन हो, कि यहूदी, कि सिक्ख; सब अपनी–अपनी धारणाओं की कैदों में बंद हैं। कूप–मंडूक जिसे कहते हैं न– कुंए का मेंढक! उसे कुंए के बाहर के जगत का कुछ भी ज्ञान नहीं। वह समझता है कि बस यही सब कुछ है, यही पूरी दुनिया है। तो प्रथम स्थूल स्वतंत्रता तो है कि मन की धारणाओं से बाहर निकलकर ज़रा देखो। इस मेंढक को कुंए के बाहर आने दो और संपूर्ण संसार को पैनी दृष्टि से देखने दो।

द्वितीय स्वतंत्रता सूक्ष्म बात है– आध्यात्मिक स्वतंत्रता। उसका अर्थ है 'मैं' से मुक्ति। तो एक स्वतंत्रता हुई पर से मुक्ति, दूसरों ने जो हमें धारणाएं पकड़ा दीं, विचार दे दिए, सिद्धांत दे दिए; उनसे छुटकारा। इसमें राजनैतिक, अर्थिक, धार्मिक, अन्य प्रकार की बाहर से लादी गई परतंत्रताएं हैं, उनको तोड़ना होगा। अब इनके कंट्रास्ट में दूसरी स्वतंत्रता समझना– वह है सूक्ष्म; जहां पर दूसरे ने हमें कुछ नहीं दिया है। लेकिन हमारे भीतर ही एक मैं–भाव, अभिमान की झूठी, सर्वथा मिथ्या धारणा उत्पन्न हो गयी है, उससे छुटकारा।

उस मैं से मुक्ति को ही मोक्ष कहा जाता है। जहां 'मैं' भाव नहीं रह जाता, जहां घमंड विलीन हो जाता है और व्यक्ति अपने भीतर शून्यता का अहसास करता है। उसके अंदर जैसे आकाश प्रगट होता है, अंतर्आकाश, दि इनर स्पेस, तब वह मैं से मुक्त हुआ। यह मुक्ति ही मोक्ष, निर्वाण अथवा कैवल्य है। अद्वैत की अनुभूति में आत्मिक स्वतंत्रता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सद्गुरु ओशो ने इन दो स्वतंत्रताओं का पक्ष लिया है और इसके खिलाफ जहां–जहां, जो–जो परतंत्रताएं हैं; उन बेड़ियों पर भयंकर प्रहार किया है। उन्होंने आदमियत की सदियों पुरानी जंजीरों को तोड़ने का अथक प्रयत्न किया है। उनके अभूतपूर्व साहस की जितनी सराहना की जाए, उतनी कम है।

मा मोक्षा– गुरुदेव, अक्सर एक बात सुनाई पड़ती है। जैसे पहली स्वतंत्रता की आप बात कर रहे हैं, तत्संबंध में प्रायः लोगों को कहते सुना है कि अगर हम उस स्वतंत्रता के साथ जिएंगे तो क्या जीवन में एक अराजकता नहीं आएगी, इंडिसिप्लिन नहीं आ जाएगा?

शैलेन्द्र जी– जिस प्रकार मेडिसिन का ओवरडोज हानिप्रद होता है, उसी प्रकार डिसिप्लिन का जरूरत से ज्यादा होना भी खतरनाक है। जेल में सारे लोग डिसिप्लिन में रहते हैं। क्या हम चाहेंगे सारी दुनिया जेलतुल्य हो और सब अनुशासन में जकड़े हों? मिलिट्री वाले बहुत अनुशासनबद्ध होते हैं और उनका यह सख्त अनुशासन ही उनकी भीतर की बुद्धिमत्ता को नष्ट कर देता है। सालों–साल लेफ्ट–राईट, लेफ्ट–राईट करते–करते, कमांडर का कमांड सुनने की उनकी आदत पड़ जाती है। जो कहा जाता है, वही वे लोग करते हैं। बाएं मुड़ कहा जाता है तो सब बांए मुड़ जाते हैं। स्टॉप कहा जाता है सब रुक जाते हैं, सावधान कहा, सब सावधान हो गए। इसकी रोज–रोज प्रैक्टिस करते–करते एक टेंडेंसी बन जाती है, मन संस्कारित हो जाता है कि जो भी आदेश आए उसका पालन करो। जब एक दिन अचानक उन्हें कहा जाता है कि तोप चला दो, मिसाईल छोड़ दो। तब बगैर सोचे वे वैसा ही कर देते हैं। मन में विचार उत्पन्न नहीं होता, संदेह उत्पन्न नहीं होता कि हम क्या कर रहे हैं? इसका परिणाम क्या होगा। वे रोबोट जैसा, यंत्र मानव की तरह व्यवहार करते हैं। चिंतन–मनन की क्षमता नष्ट हो जाती है।

आपको जानकर हैरानी होगी कि सेकेंड वर्ल्डवार में हिरोसिमा और नागासाकी पर जिस आदमी ने एटम बम गिराया और करीब दो लाख आदमी तुरंत मर गए और लगभग

इतने ही आदमी आगामी कुछ वर्षों में भयंकर बीमारियों से मरे। समझो कि चार लाख आदमियों की हत्या हुई और उनकी आने वाली पीढ़ियां भी मानसिक और शारीरिक रूप से विकलांग हो गईं, जन–धन का बहुत नुकसान हुआ। जिस आदमी ने बम गिराया था, सुबह पत्रकारों ने उसका इंटरव्यू लिया। आपको पता है, आप क्या करके आए हैं? एक सेकेंड में आपने दो लाख आदमियों को राख कर दिया और वे निर्दोष लोग हैं, कोई सेना वाले भी नहीं हैं, सामान्य नागरिक हैं, उनमें छोटे बच्चे भी हैं, बूढ़े भी हैं, पुरुष भी हैं, स्त्रियां भी हैं, गर्भस्थ शिशु भी हैं, अभी बेचारों का जन्म भी नहीं हुआ और वे खाक हो गए। पत्रकारों ने पूछा कि आपको पश्चाताप नहीं हुआ? इतना बड़ा हत्यारा आज तक दुनिया में नहीं हुआ।

उस सैनिक पायलट ने कहा, 'मुझे कोई पश्चाताप नहीं है। बल्कि मैं तो गौरवान्वित महसूस कर रहा हूं कि जो आदेश मुझे मिला था ऊपर से, मैंने उसका लगनपूर्वक पालन किया।'

क्या यह आदमी, आदमी कहलाने योग्य है? क्या इसकी अनुशासन–बद्धता, इसकी आज्ञापालन–कारिता की प्रशंसा की जाए? इसने एक रोबोट की तरह व्यवहार किया। इंसानियत तो मानो खो ही गयी। इसकी अपनी बुद्धि, अपना विवेक, अपनी प्रज्ञा आदि सब नष्ट हो गयी। क्यों? कैसे? बहुत ज्यादा अनुशासन की वजह से।

ओशो जिस जीवन दृष्टि को प्रस्तावित करते हैं, उसमें एक सीमा तक अवश्य अनुशासन होगा, लेकिन उस सीमा से ज्यादा नहीं। जो बहुत जरूरी है, निश्चित रूप से उसके नियम होने चाहिए। हम एक सामाजिक प्राणी हैं, हम परिवार के, समाज के, देश के, मनुष्य जाति के हिस्से हैं और छोटे बच्चे को हमें सिखानी होंगी मर्यादाएं, एटिकेट्स, मेनर्स; जिनका पालन करना है। लेकिन वे इतने गंभीर, भारी बोझ न हो जाएं कि उसके मन को जकड़ लें, उसके जीवन के लिए कारागृह बन जाएं! उसके अपने विवेक को उत्पन्न होने की संभावना को खुला भी छोड़ देना होगा। तो थोड़ा–सा डिसिप्लिन अवश्य जरूरी है, लेकिन बहुत ज्यादा नहीं।

वो जो थोड़ा–सा डिसिप्लिन हम दे रहे हैं, वो भी तब तक के लिए जब तक बच्चा नासमझ है। जब उसके भीतर विवेक बुद्धि का जन्म होने लगा, उसके भीतर प्रौढ़ता, परिपक्वता आने लगी, तब हमारे द्वारा दिए गए अनुशासन और मर्यादाएं ऐसी होनी चाहिए कि तब उन्हें आसानी से छोड़ा भी जा सके।

....यानी हमने जंजीरें पहनायी हैं लेकिन वे मजबूत लोहे की जंजीरें नहीं हैं। एक दिन तोड़ी भी जा सकें आसानी से, बस कामचलाऊ थीं। अगर हम से बेहतर शैली में, वह कुछ और ढंग से जीना चाहे तो उसे ऐसे जीने की आजादी होनी चाहिए। तभी तो आदमियत विकसित होती रहेगी... होती रहेगी।

मा ओशो मोक्षा– आजादी के संग कुछ भूलचूक की संभावना भी रहती हैं, किंतु बगैर आजादी के तो कभी विकास ही न हो सकेगा।

भूलचूकों से ही तो सीखने मिलता है न?

शैलेन्द्र जी– हाँ, इसलिए ओशो अनुशासन के पक्ष में हैं, एक सीमा तक; और अनुशासन के विरोध में भी हैं। नासमझ के लिए नियम जरूरी, समझदार के लिए विवेक पर्याप्त है। उसका विवेक ही उसे भूलचूक से बचाएगा। अपरिपक्व के लिए मर्यादाएं आवश्यक, प्रौढ़ के लिए उसके अपने अनुभव काफी हैं। इसे ऐसा समझें कि अंधे को लाठी का सहारा अनिवार्य है, मगर आंखों का इलाज होने के बाद लाठी फेंक दी जाती है। हर वस्तु के भले–बुरे दो पहलू होते हैं। एक उदाहरण... जर्मनी की कौम, सारी दुनिया में सबसे ज्यादा अनुशासनबद्ध कौम है और आश्चर्य नहीं है कि हिटलर जैसा तानाशाह जर्मनी में पैदा हो सका। भारत में ऐसा अनुशासन नहीं है। यहां सब अपनी–अपनी ढफली बजा रहे हैं, अपना–अपना राग गा रहे हैं। भारत में हिटलर जैसा तानाशाह पैदा नहीं हो सकता, असंभव! कोई उसकी सुनेगा ही नहीं, मानेगा ही नहीं।

हर चीज के कुछ अच्छे पक्ष हैं, कुछ बुरे पक्ष हैं। तो माना कि जर्मन लोग बड़े अनुशासनबद्ध हैं, लेकिन जब एक बार किसी का नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उसके अंधे अनुयायी हो जाते हैं– ब्लाइंड बिलीभर! फिर वो कुछ भी करने को तैयार हैं। आपको पता ही होगा अकेले हिटलर के शासनकाल में लगभग 60 लाख यहूदियों की हत्या की गयी क्योंकि हिटलर ने कहा कि यहूदियों के कारण ही दुनिया में सारे कष्ट–संताप हैं और जर्मन जाति ही दुनिया पर राज्य करने के लिए बनी है, परमात्मा के द्वारा चुनी गयी है। अगर हम यहूदी जाति को नष्ट कर दें तो जर्मन सारी दुनिया पर राज्य करेंगे और ईश्वर यही चाहता है। यह धरती स्वर्ग बन जाएगी। जर्मनी के सारे लोगों ने मान लिया, उनका अहंकार तृप्त हुआ। वे एकदम अनुशासनबद्ध हैं, वे स्वर्ग बसाने का प्रयत्न करने लगे।

बचपन से सब को सिखाया गया है कि माता–पिता की मानो, धर्मगुरु की मानो, पंडित–पुरोहित की मानो, पादरी की मानो, राजनेताओं की मानो, अतः सबने मान लिया। साठ लाख यहूदी मारे गए, बेचारे बिल्कुल निर्दोष प्राणी! स्वर्ग तो न बसा, द्वितीय विश्वयुद्ध के नर्क से संपूर्ण संसार को गुजरना पड़ा। ऐसा शायद किसी और देश में नहीं हो सकता क्योंकि अन्य लोग इतने अनुशासनबद्ध नहीं हैं। कोई विरोध में आवाज उठाएगा, कोई विपक्ष में स्वर उठाएगा और ऐसा नहीं होने देगा। भारत में ऐसा कभी नहीं हो सकता।

निश्चित ही हमारे मुल्क में एक प्रकार से कुछ अराजकता है, लेकिन कुछ मात्रा में यह अराजक–स्वतंत्रता भी स्वागत योग्य है, होनी चाहिए। अनुशासन और अराजकता का एक समन्वय, नियम और उत्सव संग–साथ चलने चाहिए। छोटे बच्चे को हम अनुशासन दें लेकिन इतना सख्त नहीं कि वह तोड़ा न जा सके। जब विवेक विकसित हो जाए तो वह तोड़ा जा सके और व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने मौलिक विचारों के सहारे जी सके। दुनिया में ऐसी मानवीय, संवेदनशील व्यवस्था लाना ओशो चाहते हैं।

मा मोक्षा– आज की चर्चा को हम यहीं विराम देते हैं। दर्शक मित्रो, आगले एपिसोड हेतु आपके सवालों का स्वागत है।

बच्चों को स्वतंत्रता कहां तक...?

मा ओशो मोक्षा– गुरुदेव, हमने पिछली कड़ी में स्वतंत्रता के बारे में ओशो की दृष्टि को जाना। उसी को थोड़ा और विस्तार से समझना चाहेंगे। आप बात कर रहे थे कि बच्चों को स्वतंत्रता देनी चाहिए लेकिन पेरेंट्स की कुछ भूमिका भी रहेगी। तो हम जानना चाहेंगे कि शिक्षकों और पेरेंट्स का क्या रोल रहेगा? स्वतंत्रता कैसी, कितनी, कहां तक होनी चाहिए ओशो की दृष्टि में?

शैलेन्द्र जी– हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए कि जब तक बच्चे नामसझ हैं, हम उनको कुछ नियम, कुछ मर्यादाएं, कुछ औपचारिकताएं सिखाएं कि कैसे जीना है? समाज के जो एटिकेट्स हैं, मेनर्स हैं, सभ्यता के तौर–तरीके हैं, उन्हें उनमें पारंगत करें। लेकिन साथ–साथ यह भी कहते चलें कि इससे बेहतर अगर तुम कुछ और खोज सकोगे तो उसका भी स्वागत है। हमारी बात को अंधविश्वास की तरह मान मत लेना। अभी तक समाज में ऐसा चल रहा है, तो इस ढंग से जीना होगा; नहीं तो समाज के लोग तुम्हें अस्वीकृत कर देंगे। किंतु हो सकता है कि इससे बेहतर तुम रास्ता खोज लो, जीने की कोई नयी राह तुम पकड़ लो, तो वैसा करना। हमने उनको तरल सा अनुशासन, एक हल्का सा डिसिप्लिन दिया लेकिन बहुत जोर से उनको जकड़ नहीं लिया। थोड़ी–सी स्वतंत्रता भी उनको दी। और जगह–जगह इसके मौके आते हैं, जब आप जीवन में प्रयोग करना शुरू कर सकते हैं कि हम बच्चों को कैसे व कितनी फ्रीडम दें? कहां–कहां हम उसे स्वेच्छा पर छोड़ सकते हैं? विशेषकर जहां सुरक्षा का प्रश्न नहीं है, वहां पर हम उन्हें फ्रीडम दे सकते हैं कि अपने आपको वो कोई नुकसान न पहुंचा लें, किसी अन्य को कोई हानि न पहुंचा दें। वहां हम उनको स्वतंत्र छोड़ दें, उनकी मर्जी पर छोड़ दें। जहां हमें डर लगता है कि बच्चों की सुरक्षा का सवाल है या अन्य किसी की सुरक्षा का सवाल है, वहां हमें सावधान होना होगा और कुछ कर्म करने से उनको रोकना भी होगा।

माता–पिता का फिक्स्ड रोल नहीं होगा, डे–टू–डे, मूमेंट टू मूमेंट डिसाईड करना होगा। पहले से सुनिश्चित बातें नहीं हो सकतीं। जीवन में पल–पल परिवर्तन आते हैं, सजग रहना होगा। संवेदनशील बनना होगा। नियम–कानून जड़ मुर्दा होते हैं। वस्तुओं के संग, यंत्रों के संग सदाबहार नियम संभव हैं। बच्चों के संग, व्यक्तियों के संग सावधानीपूर्वक

व्यवहार करना होगा। कोई बात कल गलत थीं, आज वहीं ठीक हो सकती है। साल भर पहले जो सही थीं, वह आज बिल्कुल गलत हो सकती है।

मा मोक्षा– टीचर्स की भूमिका पर भी प्रकाश डालने की कृपा करें?

स्वामी शैलेन्द्र जी– जैसे माता–पिता का रोल होता है, ठीक वैसे ही संवेदनशील रोल शिक्षकों का भी होना चाहिए। स्कूल में अवश्य एक अनुशासन हो, मर्यादा की रूपरेखा हो, जिसके अंतर्गत सब जिएं लेकिन उससे बाहर निकलने की भी संभावना का द्वार खुला हुआ हो। जब भी हम देखें कि किसी बच्चे के भीतर अपनी मौलिक सूझ–बूझ आ गयी है और वह कोई नयी बात प्रस्तावित कर रहा है कि सर / मैडम; इस चीज को अगर ऐसा किया जाए तो कैसा रहेगा? क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं होगा? तब टीचर्स को भी खुले हृदय का होना चाहिए। अगर उस बच्चे की बात में सच्चाई है तो हम तुरंत ही उसका पालन शुरू कर दें। हम उसको धन्यवाद दें कि वाह! तुमने बहुत अच्छी बात बताई; आज से ऐसा ही शुरू करते हैं; तुमने तो सुंदर, बेहतर विकल्प सुझाया।

माता–पिता और शिक्षकगण ऐसा न सोचें कि सिर्फ हम बच्चों को शिक्षा देंगे। बच्चों से हमें भी बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है। तो एक दोस्ताना माहौल होना चाहिए। वन वे ट्रैफिक नहीं कि हम उपदेश देंगे, हम बताएंगे तुम्हें क्या करना है? कभी–कभी हम उनसे भी पूछें कि वो क्या करना चाहते हैं? क्यों करना चाहते हैं? उनके हृदय की भावना क्या है? उनके विचार क्या हैं? और हम आश्चर्य चकित होंगे कि एक प्रकार का मानसिक लेन–देन शुरू होगा। फिर हम ही केवल उनको आदेश नहीं देंगे कि ऐसा करो कि वैसा न करो, बल्कि हम उनकी बात सुनने को तैयार भी होंगे। और बहुत मौकों पर हम पाएंगे कि उनकी बात में सच्चाई है, उनकी बात में दम है और तब हमें झुकने के लिए तैयार होना चाहिए।

अक्सर क्या होता है कि पैरेंट का अहंकार होता है कि मैं ज्ञानी हूं, मैं अनुभवी हूं; यह कल का छोकरा, यह क्या जाने! मैं इससे 25 साल बड़ा हूं। ठीक है आप 25 साल बड़े हैं, आपके अनुभवों का स्वागत है। लेकिन वह जो नया–नया अभी परमात्मा के घर से आया है, उसके पास ज्यादा तीव्र प्रतिभा है। विशेषकर आप नयी आने वाली पीढ़ी में इस बात को खूब अच्छे से देख सकते हैं। यदि हम पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी की तुलना करें तो बहुत स्पष्ट दिखाई देता है कि जो नए बच्चे आ रहे हैं जगत में, इनके पास कुछ ज्यादा विशेष प्रतिभा है। इनके सीखने की क्षमता बहुत अद्भुत है। जो काम मैं अपनी जिंदगी में एक साल में सीख पाया होऊंगा, साठ साल बाद आज का बच्चा दो माह में सीख लेता है। मुझे आज भी टेलीविजन का रिमोट चलाना नहीं आता। मोबाइल के सिर्फ चार–छः फंक्शन के अलावा अन्य किसी फंक्शन का उपयोग नहीं कर पाता और मैं हैरान हो जाता हूं यह देखकर कि दो–ढाई साल का बच्चा मोबाइल से खेलते–खेलते सब उपयोग करने लगा। अभी उसको अल्फाबेट्स नहीं आते, वह पढ़ भी नहीं सकता कि क्या लिखा है? लेकिन वह आइकॉन देख–देख, पिक्चोरियल ढंग से सब सीख गया। आप अन्य आयामों में भी इसी बात को

परख सकते हैं कि पीढ़ी दर पीढ़ी प्रतिभा का खूब तीव्र गति से विकास होता जा रहा है। हमें इस बात को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। इसमें प्रसन्न होना चाहिए।

हमारी पुरानी पीढ़ी अब विदा होने के कगार पर है और परमात्मा के इस नियम को भी देखें– जो अनुभवी हो जाते हैं, प्रौढ़ हो जाते हैं, परिपक्व हो जाते हैं, उनको यहां से हटा लेता है और नए, कोमल, ताजगी से भरे बच्चों को भेज देता है, हम जिनको नासमझ कहते हैं। सच्चाई ऐसी नहीं है, वे जो नए बच्चे आ रहे हैं, उनके भीतर छिपी हुई बेहतर प्रतिभा है। अगर उसे मौका मिल जाए तो यह प्रतिभा बहुत तीव्रता से प्रगट हो सकती है, उजागर हो सकती है। उनके भीतर जो टेलेंट के बीज छिपे हैं वे पल्लवित, पुष्पित हो सकते हैं। और तब हम एक बहुत नयी, स्वर्ग जैसी दुनिया को बसा पाएंगे।

याद आता है ईसा मसीह का एक वचन। किसी ने उनसे पूछा कि आपके स्वर्ग के राज्य में प्रवेश के अधिकारी कौन होंगे? उन्होंने एक छोटे से बच्चे को उठाकर अपने कंधे पर बिठा लिया और उस भीड़ से कहा कि जो इस बच्चे की भांति सरल हैं। छोड़ो स्वर्ग की, प्रभु के राज्य की बातें; अगर हम बच्चों की ह्रदय की भावनाओं को समझ सकें, उनकी विवेक बुद्धि का हम सदुपयोग कर सकें तो हम इसी पृथ्वी पर स्वर्ग से श्रेष्ठतर राज्य बसा सकते हैं।

बूढ़े–बुजुर्गों की मान–मान कर हमने खूब देख लिया। पूरा इतिहास प्रमाण है कि कुछ भला नहीं हुआ। किसी भी देश का इतिहास उठाकर पढ़ो, सिवाय लड़ाई–झगड़ों, युद्धों–दंगों के और क्या है? फलां सन् में फलां–फलां राजा का झगड़ा हुआ, इतने लोग मारे गए, इतने काटे गए। बस, यही पूरे मनुष्य जाति की रक्तरंजित कथा है– युद्धों का इतिहास। इसमें निश्चित रूप से हमने जिस प्रकार का अनुशासन लोगों को सिखाया है, जिस प्रकार की आज्ञाकारिता उनको सिखाई है, उसका बड़ा हाथ है। काश, अब हम जरा नयी दृष्टि से देखना शुरू करें। तो एक सम्यक् मार्ग अपनाना होगा, एक मध्य–मार्ग पर चलना होगा। विद्रोह और बगावत की निंदा बंद करें, वह भी स्वागत योग्य है। इसका मतलब अराजकता नहीं। हाँ, थोपा हुआ शासन नहीं, अंदर से उपजा आत्म–अनुशासन चाहिए।

मा मोक्षा– सम्यक्ता की इस जटिल बात को आप किसी सरल उदाहरण से समझाएंगे?

स्वामी शैलेन्द्र जी– अवश्य... भगवान बुद्ध की मूर्ति यहां विराजमान है देखकर याद आया... सद्गुरु ओशो एक उदाहरण देते हैं बुद्ध के जीवन का। बुद्ध का एक शिष्य था श्रोण। इसके पहले कि भिक्षु बना, वह युवा राजकुमार था। उसके बारे में प्रसिद्ध था कि बड़ा भोगी विलासी है। दिन–रात सुरा–सुंदरी में वह डूबा रहता था। फिर वह बुद्ध का भिक्षु हो गया और कठोर तपस्वी बन गया। अगर अन्य भिक्षु दिन में एक बार भोजन करते तो श्रोण दो दिन में एक बार भोजन करता। गर्मी के मौसम में अन्य भिक्षु जब सड़क के किनारे पेड़ों के छाया तले चलते, तब श्रोण सड़क के बीच में से कड़ी धूप में चलता। छः महीने के भीतर उसने अपनी सुन्दर काया सुखाकर कांटे जैसी बना ली। बुद्ध के पास रोज खबर आती थी कि श्रोण कैसी कठिन साधना कर रहा है। महा–तपस्वी बन गया है।

छः महीने बाद बुद्ध ने उसको बुलाया और कहा, श्रोण, मैं तुमसे कुछ बातें पूछना चाहता हूं। मैंने सुना है कि जब राजकुमार की भांति महलों में रहते थे, तब तुम बहुत कुशल संगीतकार भी थे। उसने कहा, हां भगवन, मुझे वीणा बजाने का बहुत शौक रहा और मैंने वीणावादन में विशेष कुशलता हासिल की थी। काफी निष्णात हो गया था।

बुद्ध ने कहा कि उसी संबंध में सवाल पूछना चाहता हूं, यदि वीणा के तार बिल्कुल ढीले हों, क्या उनसे संगीत उत्पन्न होगा? श्रोण ने कहा, नहीं, अगर तार बिल्कुल ढीले हैं, तो स्वर उत्पन्न नहीं होगा। बस खटर-पटर होगी और कुछ भी नहीं। संगीत नहीं जन्मेगा। बुद्ध ने पूछा, यदि तार बहुत कस दिए जाएं, क्या तब संगीत उत्पन्न होगा? श्रोण ने कहा, नहीं भगवन्; अगर तार बहुत कसे हैं, तो उन पर टंकार करने से वे टूट ही जाएंगे। संगीत पैदा नहीं होगा। बुद्ध ने पूछा, फिर संगीत कैसे पैदा होता है? श्रोण ने कहा, तारों की एक ऐसी भी अवस्था होती है जब वे न तो बहुत कसे हैं और न बहुत ढीले हैं। उस मध्य अवस्था में ही सही सुर निकलता है। तब वीणा से मधुर संगीत उत्पन्न होता है।

बुद्ध मुस्कुराए और उन्होंने कहा कि श्रोण, जैसे तुम वीणा बजाने में कुशल हो, वैसे ही मैं भी जीवन-वीणा बजाने में कुशल हूं और मैंने जीवन का महासंगीत पैदा किया है। आश्चर्य की बात है तुमने वाद्य यंत्र के विषय में जो बात कही, वही जीवन-वीणा पर भी लागू होती है। तार अगर बहुत ढीले हों, जैसे तुम बहुत भोगी-विलासी थे, तुम्हारे तार बहुत ढीले थे तब जीवन का सुरीला संगीत उत्पन्न नहीं हुआ। फिर तपस्वी भिक्षु बनकर तुमने तारों को बहुत ज्यादा खींच दिया, बहुत तनाव से भर दिया; अभी भी विसंगीत, शोर ही उत्पन्न हो रहा है। अगर तुम चाहते हो कि जीवन-संगीत जन्मे, जिसे हम आध्यात्मिक-रस कहते हैं, धर्म की भाषा में शांति का स्वर, सच्चिदानंद का स्वाद कहते हैं, वह तुम्हारे भीतर पैदा हो; तो मध्य में आना सीखो। मैं इंतजार कर रहा था तुम एक अति से दूसरी अति पर पहुंच जाओ तब इस बात को स्वयं अपने अनुभव से भी जान सकोगे।

श्रोण ने सहमति में सिर हिलाया, बुद्ध के चरणों में झुका और उसने कहा, भगवन, आपने बिल्कुल ठीक कहा। मैंने दूसरी अति पर जीकर भी देख लिया और पाया कि यह भी निरर्थक है। इसलिए अब आपकी बात ठीक से समझ पा रहा हूं कि असली मार्ग मध्य में है।

गौतम बुद्ध के मार्ग को इसलिए 'दि गोल्डन मीन', मध्यम-मार्ग या मज्झिम निकाय कहा जाता है। ठीक यही बात सद्गुरु ओशो हमें सिखाते हैं। अनुशासन और स्वतंत्रता के बारे में। अनुशासन इतना ज्यादा न हो जाए कि स्वतंत्रता का गला घोट दे और स्वतंत्रता इतनी ज्यादा न हो जाए कि अराजकता उत्पन्न हो जाए। माता-पिता, शिक्षकों, परिवार के बड़े बुजुर्गों का यह कर्तव्य है कि उन्हें हमेशा इस बात का ख्याल रखना होगा।

इसका कोई सुनिश्चित, परिभाषित नियम नहीं बनाया जा सकता। ये तो क्षण-क्षण तय करना पड़ेगा कि कहां हमें स्वतंत्र छोड़ना है और कहां हमें थोड़ा सा बंधन में रखना है। दोनों ही अतियों का मध्य हमें पालन करना होगा।

संतुलन में है सम्यकत्व, शांति। अति सर्वत्र वर्जयेत।

मा मोक्षा– मित्रो, आप सबसे अनुरोध करना चाहूंगी, कि हम ओशो के इस प्यारे संदेश को आजमाकर देखें। जिंदगी की तारें न ज्यादा सख्ती से कसी हों, न ज्यादा ढीली हों। ताकि हमारे जीवन में भी अनूठा संगीत जागे, अद्भुत स्वर उत्पन्न हो जाएं और हम धरती को स्वर्ग बना पाएं। एक बार नए के प्रति हम खुलें तो सही, प्रयोगधर्मी बनकर देखें।

सद्‌गुरु, एक प्रश्न और उठता है कि आपने जिस संतुलन की, मज्झिम निकाय की बात की, क्या कोई माप–दण्ड है, जिस पर अपने आप को परख पाएं कि हम ठीक–ठीक उस मध्य मार्ग पर चल रहे हैं या नहीं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– यह सवाल थोड़ा कठिन है और इसका बहुत सुस्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। फिर भी हम कुछ इशारे समझ सकते हैं। यदि हमारे जीवन में शांति, प्रेम, आनंद, स्वतंत्रता, विवेक, प्रज्ञा का उदय हो रहा है; तो हम जानें कि हम ठीक रास्ते पर चल रहे हैं। परिणाम ही प्रमाण होंगे। हम एडवांस में तो नहीं जान सकेंगे कि यह करना सही है कि गलत है लेकिन परिणाम से तो पता लग ही जाता है। यदि हमारे जीवन में अशांति, तनाव, दुख, चिंता, निराशा, विषाद उत्पन्न हो रहे हैं, हम स्वयं को बंधा हुआ महसूस कर रहे हैं, जैसे गला घुट रहा हो; तब हम भली–भांति जानें कि नियम–मर्यादा इत्यादि जरूरत से ज्यादा हो गईं। अगर जीवन में अराजकता उत्पन्न हो जाए तब भी चीजें टूट–फूट जाएंगी, विसंगीत जन्मेगा तब हमें समझ में आएगा कि स्वतंत्रता अतिशय हो गयी। अतः एक बहुत सुनिश्चित ठोस बात नहीं कही जा सकती। ऐसा कोई थर्मामीटर नहीं बना कि उससे हम नाप लें कि यह साफ–सुथरा मापदण्ड, क्लियर–कट क्राईटेरिया होगा; लेकिन कुछ इशारे, कुछ संकेत तो किए ही जा सकते हैं। इन बातों का गहराई से अवलोकन करना होगा।

पैरेंट्स विवेक पूर्वक तय करें, कभी स्वतंत्रता दें, कभी मर्यादाएं सिखाएं, दोनों का मध्य मार्ग ढूंढने की कोशिश करें। ये बातें रोज–रोज बदलेंगी। एक बच्चे के लिए जो उचित है, संभवतः वह दूसरे बच्चे के लिए अनुचित हो। आज जो बात लागू होती है, चार दिन बाद वही बात परिवर्तित हो जाएगी, परिस्थितियां एवं मनिस्थितियां बदल जाएंगी। फिर बच्चा बड़ा होकर अनुभवी, समझदार होता जाएगा। पिछले साल उसे जो कहा गया था इस साल जरूरी नहीं कि वैसा ही उससे कहें। वह ज्यादा मेच्योर तथा ज्यादा उत्तरदायी हो गया। हम कुछ और स्वतंत्रता उसको दे सकते हैं। जिम्मेदारी और स्वतंत्रता संग–साथ चलेंगी, युगपत बढ़ेंगी। तो यह बात निरंतर बदलती हुई रहेगी और फिर निर्भर करेगी कि उस बच्चे का आई. क्यू. लेवल कितना है? हो सकता है कि कोई बच्चा बहुत प्रतिभाशाली, हाई इंटेलिजेंस क्योसिएंट वाला है, हम उसको अधिक से अधिक स्वाधीन छोड़ सकते हैं। हमने देख लिया कि स्वतंत्रता का वह सदुपयोग करता है, कोई हानि, कोई दुरूपयोग नहीं करता।

इसके ठीक विपरीत अगर कोई बच्चा है मेन्टली–रिटार्डेड, उसमें आयु के अनुसार

अक्ल नहीं है, तब उसे उंगली पकड़–पकड़ कर ही चलाना होगा। उसको हम उसकी मर्जी पर नहीं छोड़ सकते। क्योंकि हमें पता है कि इसके अंदर इतनी प्रतिभा नहीं है, बुद्धि नहीं है कि वह ठीक ढंग से स्वयं जी पाए। उसे तो पग–पग पर सहारा चाहिए।

तो स्वतंत्रता लेने वाले बच्चे की बुद्धिमत्ता पर निर्भर करेगा। स्वतंत्रता देने वाले व्यक्ति की बुद्धिमत्ता पर निर्भर करेगा। इसलिए बहुत फिक्स्ड रूल्स तो हम नहीं बना सकते, लेकिन माता–पिता, परिवार, समाज, शिक्षकगण सतत् इस बात के प्रति जागरूक रहें, यथासंभव स्वतंत्रता देने तैयार रहेंगे। और जहां बहुत ठोस जरूरत पड़े वहीं अनुशासन दें। इसके लिए थोड़ा सा फ्लैक्सिबल, लोचपूर्ण, तरल होना होगा। एकदम से सस्पष्ट बात मैं आपसे नहीं कह सकता कि ऐसा–ऐसा करो, या ऐसा–ऐसा न करो।

हमें रोज–रोज परखना होगा, तौलना होगा कि क्या ऐसा करने से बुद्धि के विकास में सहयोग मिल रहा है? क्या इससे बच्चे के शारीरिक, मानसिक, हार्दिक डेवलपमेंट में मदद मिल रही है? क्या वह आध्यात्मिक जिज्ञासा से भर रहा है? यदि हाँ, तो फिर हम भली–भांति जानें कि सब ठीक हो रहा है और हम ऐसा ही इसको चलने देंगे। लेकिन यह बात भी हमेशा के लिए तय नहीं हो जाएगी। छः महिने बाद, कि साल भर बाद, कि पांच साल बाद हमें फिर देखना होगा कि इस नई परिस्थिति में श्रेष्ठतर क्या किया जा सकता है।

मा ओशो मोक्षा– गुरुदेव, बहुत–बहुत धन्यवाद जो आपने हमें फ्रीडम की विस्तृत बात समझाई, हमारे मन की कई शंकाओं का समाधान किया। आपने हमारे सवालों के इतने सरल तरीके से जवाब दिए... इसके लिए आपको साधुवाद!

टी.वी. चैनल के दर्शक मित्रो, एक छोटे से अंग्रेजी कथन में ओशो की इस पूरी शिक्षा को संक्षेप में कहना चाहूंगी। विद ग्रेट पॉवर, विद ग्रेट फ्रीडम, कम्स ग्रेट रिस्पांसिबलिटी। जितनी स्वतंत्रता, जितनी शक्ति, उतनी ही जिम्मेदारी बढ़ती है। अतः हम सब फ्रीडम के साथ अपने दायित्व को भी समझें।

अगली कड़ी में सदगुरु ओशो से संबंधित अन्य विवादास्पद मुद्दों पर चर्चा जारी रहेगी। आपके मन में कोई सवाल उठें तो हमें ईमेल से भेजिए या एस.एम.एस. कीजिए। ओशो ने जो भी कहा है, वह वैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरता है, किंतु रूढ़िवादियों को कांटे सा चुभता है।

इसी वजह से धर्म और समाज के ठेकेदारों ने, तथाकथित बुद्धिजीवी पत्रकारों ने ओशो के विषय में इतनी गलतफहमियां फैला दीं। मुझे पूरी उम्मीद है कि इस धारावाहिक प्रश्नोत्तरी के माध्यम से सत्य का अनावरण अवश्य होगा।

आप सबका बहुत–बहुत धन्यवाद! शुभ रात्रि। जय ओशो।

अहंकार का उपयोग एवं मुक्ति के उपाय

मा मोक्षा– मित्रो, ओशो एवं उनकी शिक्षा को लेकर मिसअंडरस्टैंडिंग्ज हैं, मिथ्या धारणाएं हैं, वाद–विवाद हैं। हम इस श्रृंखला में उसी चर्चा को जारी रख रहे हैं। आइए सद्‌गुरु से विविध विषयों पर उनकी दृष्टि को समझते हैं और हमारे जीवन में कैसे वह जीने की एक नयी राह हो सकती है? ओशो के जीवन–संदेश को हम अपनाना चाहेंगे, जानना चाहेंगे, ताकि हम सब आनंदमय जिंदगी जी सकें।

सद्‌गुरु, पिछली कड़ी में आप फ्रीडम की बात कर रहे थे। उसमें आपने दूसरे प्रकार की फ्रीडम की भी चर्चा की– अपने अहंकार से मुक्ति। उस संबंध में कुछ और विस्तार से बताने की अनुकंपा कीजिए।

स्वामी शैलेन्द्र जी– जरूर। वह दूसरा मुद्दा भी बहुत महत्वपूर्ण है, यद्यपि बहुत लोगों को उसमें उत्सुकता नहीं है इसलिए संक्षेप में ही चर्चा करेंगे। एक तो फ्रीडम है, फ्रीडम फ्रॉम दि अदर, जैसे भारत 1947 में आजाद हुआ। किससे? अंग्रेजों से। वे कोई अन्य लोग थे जिनके हम गुलाम थे, हम उस राजनीतिक गुलामी के बाहर निकले। ठीक इसी प्रकार आर्थिक स्वतंत्रता है, सामाजिक स्वतंत्रता है, और कई–कई प्रकार की आजादियां हैं, जो बाहर से आरोपित परतंत्रता के खिलाफ होती हैं। बाहरी गुलामी है, बाहरी आजादी है।

एक बिल्कुल भिन्न तरह की स्वतंत्रता है– फ्रीडम फ्रॉम दि सेल्फ। यह जरा सूक्ष्म मामला है। फ्रीडम फ्रॉम दि अदर, तो समझ में आती है, परंतु फ्रीडम फ्रॉम दि सेल्फ...? हमारे भीतर, हम जो स्वयं के होने का एहसास कर रहे हैं, संतगण जिसे नाम देते हैं– अभिमान, अहंकार, घमण्ड; अंततः उससे भी मुक्त होना है। वह हमारा आंतरिक बंधन है। आत्मा, अहंकार की जंजीर में कस गयी है। इस 'मैं–भाव' की जंजीर को हम स्वयं ही खोल सकते हैं। फ्रीडम फ्रॉम दि अदर, इसमें दूसरा व्यक्ति या व्यवस्था इनवाल्व है, जिसने हमें गुलाम बनाया है और चाहे तो वह हमें स्वतंत्र छोड़ सकता है।

उदाहरण के लिए अंग्रेजों ने तय किया 1947 में कि भारत छोड़कर जा रहे हैं। उस बंधन से हम मुक्त हो गए। बंधन दूसरे के हाथ में था। डाला भी उसने था, खोल भी वही सकता है। एक कैदी जेल में बंद है, उसे बंद किया है न्याय ने, कानून ने, न्यायाधीश ने, जेलर ने। अगर जेलर चाहे तो उसे खुला छोड़ सकता है। कानून परिवर्तित हो जाए तो उसे आजादी मिल सकती है। बाहर के जगत में परतंत्रता भी दूसरे के हाथ में है और स्वतंत्रता भी दूसरे के हाथ में है। अब हम जिस दूसरी सूक्ष्म स्वतंत्रता की बात कर रहे हैं यह किसी और ने निर्मित नहीं की है। ये हथकड़ियां हमने स्वयं ही बनायी हैं। और मजे की बात है, उन

हथकड़ियों को हम आभूषण समझ रहे हैं। तभी तो उन्हें गर्व से धारण किए हैं।

लोग गले में चैन पहनते हैं– सोने की जंजीर। गहना समझ कर पहनते हैं, है वह जंजीर। चैन में उन्होंने अपना गला बांध लिया है। लेकिन उस मंहगी सोने की जंजीर में हीरे–जवाहरात जड़कर बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। ठीक इसी प्रकार हमने एक अहंकार नाम की जंजीर अपनी आत्मा के ऊपर चढ़ा ली है और उसे बड़ा सजा–धजा लिया है। यह हमारा आध्यात्मिक बंधन है, स्प्रिचुअल बान्डेज। सदगुरु ओशो उस सूक्ष्म स्वतंत्रता को हासिल करने की बात करते हैं, वह है फ्रीडम फ्रॉम दि सेल्फ, स्वयं के होने से मुक्ति।

मा मोक्षा– क्या भगवान बुद्ध इसी को महाशून्य में डुबकी लगना कहते हैं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हाँ, महाशून्य को ही सकारात्मक भाषा में, ओशो समझाते हैं जैसे कोई बूंद सागर में गिर जाए फिर वह बूंद, बूंद न रही। पहले उसका एक व्यक्तित्व था, एक पर्सनालिटी, एक सीमा थी, एक परिभाषा थी। उसकी निश्चित रूपरेखा थी। अब वह आकार विदा हुआ, वह रूप समाप्त हुआ। वह विराट, असीम, अरूप सागर के संग एकाकार होकर स्वयं परिपूर्ण हो गयी। सद्‌गुरु ओशो ने अपना स्वयं का नाम भी उसी आधार पर चुना है, ओशनिक ऐक्सपिरियंस, 'सागरीय अनुभव' से उन्होंने ओशो शब्द गढ़ा। अब आत्मा न रही, परमात्मा ही हो गयी। वह जो सेल्फ की फीलिंग थी, 'मैं हूं' वह न बची। उपनिषद के ऋषि जिसको कहते हैं– अहम् ब्रह्मास्मि। अहम् तो सिर्फ कहने के लिए है, भाषा में कैसे कहेंगे ? संस्कृत भाषा की मजबूरी है, उसमें कर्ता के बिना वाक्य पूरा नहीं होता है। अकेला ब्रह्मास्मि कहेंगे तो व्याकरण के अनुसार वाक्य अधूरा और गलत कहलाएगा। मजबूरी में कहना पड़ रहा है अहम् ब्रह्मास्मि। लेकिन अब अहम् जैसी कोई चीज है नहीं। जो है वह ब्रह्म ही है।

तो जैसे बूंद ने अपना आकार खो दिया, ठीक ऐसे ही हम जिसको आत्मा कहते हैं उसका नामो–निशान भी विदा हो जाता है। भगवान बुद्ध ने उसे बड़े प्यारे नाम दिए हैं 'अनात्मा' 'नो सेल्फ' 'शून्य' 'निर्वाण' सुनने में नकारात्मक लग सकते हैं। किंतु पूर्ण तथा शून्य, दोनों शब्द, उस एक परम सत्य की ओर ही इंगित करते हैं। यह ज़रा सूक्ष्म बात है।

मा मोक्षा– जो यह 'मैं' है, अहंकार है, आखिर यह जन्मता कैसे है? बच्चा तो अहंकार लेकर पैदा नहीं होता तो फिर यह आता कहां से है? इसका क्या कोई उपयोग भी है या फालतू ही है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– नहीं, फालतू नहीं है। प्रकृति ने जो भी दिया है, वह सब उपयोगी है। इस बात को थोड़ा समझना। बच्चा जब जन्म लेता है, उसके भीतर कोई अभिमान नहीं होता, वस्तुतः उसे स्वयं का एहसास भी नहीं होता। उसकी इंद्रियां खुलती हैं, जन्म लेते ही आंखों से वह आस–पास मौजूद लोगों को देखता है। मां को देखता है, दाई को देखता है। अस्पताल में डॉक्टर और नर्स मौजूद हैं, उनको देखता है। फिर परिवार के

अन्य लोग आते हैं, वस्तुएं दिखाई देती हैं। दीवार दिखाई दे रही है, दरवाजा दिखाई दे रहा है, फर्निचर दिखाई दे रहा है। बस, उसे स्वयं के होने का एहसास नहीं है। धीरे–धीरे कुछ माह लग जाते हैं उसे समझने में कि ये लोग कोई और हैं, दूसरे हैं, पृथक हैं। कभी ये पास होते हैं, कभी नहीं भी होते। किंतु मैं तो रहता ही हूं। तब उसको 'दि अदर' की फीलिंग शुरू होती है, कि मां कभी उसके निकट होती है, कभी नहीं भी होती। परिवार के अन्य लोग कभी उसके निकट, कभी उससे दूर भी हैं, वहां मौजूद नहीं हैं; लेकिन वह तो है ही।

कमरे के सामान को बच्चे ने जब पहली बार देखा तो उसको चीजें अलग–अलग नहीं दिख रही थीं। आपने ख्याल किया होगा बच्चे आंखों को फोकस करके नहीं देखते। उनको दीवार, फर्निचर, फोटो और कलेंडर सब इकट्ठा दिखता है। कुर्सी और उस पर बैठा आदमी संयुक्त दिखता है। वह सबको इकट्ठा, जुड़ा हुआ समझता है। धीरे–धीरे पता चलता है कि आदमी कभी–कभी उठकर चला जाता है, कुर्सी खाली रह जाती है। फिर कोई अन्य व्यक्ति आकर बैठ जाता है। तब उसको समझ में आता है कि आदमी कोई और है तथा कुर्सी कोई और है। फिर कुर्सी को वहां से खिसका दिया गया तब उसको पता चला कि अरे! ये दीवार का हिस्सा नहीं है। दीवार अभी भी वहीं है, कुर्सी यहां–वहां खिसकायी जा रही है। तब उसे 'अदरनेस' 'अन्य–पन' की फीलिंग आती है कि ये सब दूसरे हैं, 'पर' हैं।

समबडी एल्स, समथिंग एल्स; फिर इस कंट्रास्ट में 'मैं' का भाव उत्पन्न होता है। धीरे–धीरे उसे स्वयं के होने का एहसास होता है कि मैं इनसे भिन्न हूं। इसके पहले तक वह सारे जगत के साथ, संपूर्ण अस्तित्व के संग, भक्तों की शब्दावली में कहो कि वह परमात्मा के संग एकात्म रहता था।

मा ाे मोक्षा– यानि वह अविभाजित था?

ओशाे शैलेन्द्र जी– अविभाजित कहो या योग की भाषा में युक्त जिसको कहते हैं, वह ब्रह्मांड से संयुक्त था। क्रमशः वियोग शुरू हुआ। स्टार्टिंग हुई 'द अदर' से। पहले अन्य आए, दूसरे आए। दूसरे के साथ कंट्रास्ट में तब 'मैं–भाव' उपजा, अभिमान आया। फिर माता–पिता ने, परिवार ने, शिक्षा–संस्कार ने, स्कूल–कालेज ने, शिक्षकों व समाज के अगुवा लोगों ने, धर्मगुरुओं ने; सबने उसके 'मैं' भाव को उकसाया, मजबूत किया। सबने उसके अहंकार को पोषित किया। उसे कहा गया कि तुम्हें प्रतियोगिता में आगे आना है, तुम्हें क्लास में फर्स्ट आना चाहिए, खेल में तुम्हें जीतना चाहिए, हमारी कुल मर्यादा का प्रश्न है। उसके भीतर 'मैं' भाव प्रगाढ़ किया कि तुम कोई साधारण बच्चे नहीं। तुमको ये करके दिखाना है, तुम्हें वो करके दिखाना है, खानदान की इज्जत का सवाल है। बच्चे के अंदर प्रतिष्ठा, इज्जत, मान–सम्मान, बेइज्जती, अपमान, हीनभावना, ये सब चीजें पनपनी शुरू हुई। अहंकार जन्मा कि हर हाल में मुझे जीतना है, दूसरों को हराना है। घमंड घना होने लगा।

आपने पूछा है कि क्या इस अभिमान का भी कोई उपयोग है? निश्चित रूप से उपयोग है। ये बच्चा अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा इसी अहंकार के बलबूते! उसका जो भी विकास होगा इस अहंकार के ईर्द–गिर्द ही होगा। लेकिन एक समय ऐसा आएगा जब इस

अहंकार की आवश्यकता न रहेगी। इस अहंकार से प्राप्त चिंता, दुख, कष्ट, संताप, संघर्ष, जलन, निराशा, हताशा; वे सब अनुभव में आएंगे। अहंकार एक तरफ तो विकास में सहयोगी है और दूसरी तरफ इसके साथ जुड़े हुए क्लेश भी मिलेंगे। इस पौधे में कांटे भी हैं, फूल भी हैं। परिपक्व होने पर जब समय आता है कांटों से मुक्त होने का, तब मुश्किल खड़ी होती है कि जिसको मैं स्वयं का होना कहता हूं, मैं भला इससे कैसे छुटकारा पा सकता हूं? यह तो मैं ही हूं। भीतर ऐसा ख्याल तक पैदा नहीं होता कि यह 'मैं' कभी छूट सकता है।

एक–दो उदाहरणों से समझें।

समझो, एक मुर्गी का अण्डा है। हार्ड शैल में, एक कड़े कवच में चूजा बंद है। यह चूजे के विकास के लिए बहुत उपयोगी है। कुछ दिन लगेंगे जब चूजा पूरा विकसित हो जाएगा तब एक दिन अण्डा फोड़ दिया जाएगा और चूजा उसमें से बाहर निकलेगा, उसका स्वतंत्र जीवन शुरू होगा। ठीक इसी प्रकार एक बीज भी कड़े कवच में बंद रहता है। सालों–साल वह जिंदा रह सकता है इस कठोर सुरक्षा के भीतर। उसकी प्राणरक्षा का इंतजाम है इस कवच में। लेकिन एक दिन ऐसा आएगा जब बीज को जमीन में गड़ा देंगे, खाद–पानी डालेंगे। तब कोमल से अंकुर फूटेंगे और दो छोटी–छोटी पत्तियां बाहर निकलेंगी। एक नाजुक से पौधे की जिंदगी शुरू होगी। यह पौधा एक दिन बड़ा वृक्ष बनेगा; फूलेगा, फलेगा, सैकड़ों लोगों को छाया देगा।

अगर बीज गलने से इंकार कर दे कि इस कड़े कवच ने मेरा इतना साथ दिया, मेरी रक्षा की, अब मैं इसको कभी न छोड़ूंगा, इसको गलने न दूंगा तो वह वृक्ष कभी न बन पाएगा। फूल तक कभी न पहुंच पाएगा। अण्डे की कवच उपयोगी है, अत्यंत जरूरी है एक सीमा तक। वरना प्रकृति ने बनायी ही न होती। लेकिन एक सीमा के बाद उसे टूटना चाहिए, नष्ट हो जाना चाहिए। तभी मुर्गी बड़ी हो सकेगी। बीज के मिटने पर ही वृक्ष का पूर्ण विकास संभव होगा।

ठीक ऐसे ही हमारे तन–मन का, हृदय का, भावनाओं का विकास अहंकार के इर्द–गिर्द होता है। चीन में ताओवादी एक बड़े अच्छे प्रयोग द्वारा इस बात को समझाते हैं। दो अलग–अलग बर्तनों में मछलियां पाली जाती हैं। एक बर्तन में, बीच में एक डण्डा गड़ा दिया जाता है किंतु दूसरे बर्तन में वह डण्डा नहीं होता। सब समान मछलियां हैं, उनको एक सा खाना–पीना, सब कुछ बराबरी से दिया जाता है।

आश्चर्य की बात है, जिस बर्तन में बीच में डण्डा गड़ा है, वहां मछलियां उसके चहुं ओर घूमती है, उनका एक सेंटर बन जाता है और वे मछलियां ज्यादा स्वस्थ होती है, ज्यादा बड़ी होती है, ज्यादा विकसित होती हैं और दीर्घायु होती हैं। जिस बर्तन में कोई सेंटर नहीं था, वहां की मछलियां कहीं भी, यहां–वहां अराजक ढंग से घूमती हैं। केन्द्र में डण्डा नहीं है, वहां की मछलियां जल्दी बीमार हो जाती हैं, उनका शरीर ठीक से विकसित नहीं हो पाता, उनका वजन उतना नहीं बढ़ता, तथा वे कम उम्र तक ही जी पाती हैं।

ताओवादी संत कहते हैं कि अहंकार हमारे जीवन में एक झूठा 'मैं' खड़ा करता है– केन्द्रीय डंडा, काल्पनिक ही सही! मगर उसके सहारे काफी विकास हो जाता है। जहां तक ऐसा होता है, वहां तक ऐसा किया जाना चाहिए। लेकिन एक समय, सीमा आती है जब वह

अनुपयोगी हो जाता है। तब उससे मुक्त भी हुआ जाए। जैसे अण्डे का कवच टूट जाता है, बीच की खोल गल जाती है वैसे ही स्प्रिचुअल मेच्योरटी का भी वक्त आता है।

सद्गुरु ओशो कहते हैं कि अगर व्यक्ति ठीक ढंग से अपना जीवन जिए तो लगभग 42 वर्ष की उम्र में आध्यात्मिक प्रौढ़ता आती है। जिस प्रकार 14 साल में स्वाभाविक रूप से सेक्सुअल मेच्योरटी आती है, इसी प्रकार 42 साल में स्प्रिचुअल मेच्योरटी आती है और तब अहम् भाव से मुक्ति होनी चाहिए। अहंभावना उपयोगी है, वरना परमात्मा ने उसका विधान ही न रचा होता। लेकिन उससे मुक्त हो जाना भी जरूरी है, वह भी उपयोगी है। अहम्-अनुभव से छूटेंगे तो ब्रह्म-अनुभव होगा। बूंद मिटेगी तो सागर होगी।

मा मोक्षा– क्या अहंकार जूते जैसा है, जब उपयोगी है तब पहन लो; जब उपयोग न हो तो उसे उतारकर रख दो।

स्वामी शैलेन्द्र जी– एकदम ठीक! ऐसा कह सकते हैं। यह उपमा सुन्दर है। जैसे हम घर के बाहर जाते हैं जूते-मोजे पहनकर, टाई लगाकर और छाता हाथ में लेकर। तेज ध्ूप या बरसात में छाता काम आएगा। ठीक इसी प्रकार ये अहं-कवच है, लेकिन जब कोई व्यक्ति अपने घर के भीतर विश्राम कर रहा है, अपने बेडरूम में आराम से लेटा हुआ है और अगर वह जूते-मोजे धारण किए हो, कमर में बेल्ट कसे हो, गलफांसी यानि टाई बांधे हो, टोपी लगाए और हाथ में छाता लेकर सो रहा हो; तो हम पूछेंगे कि तुम पागल हो क्या? यह तुम्हारे विश्राम करने की जगह है। आराम से रहो, रिलैक्स हो जाओ।

ऐसा ही मैं-पन का भाव है। हम दूसरों के बीच में जाएंगे, दुकान में या फैक्ट्री में काम करेंगे, कि आफिस जाएंगे तो वहां चल रहे संघर्ष में हमें एक सुरक्षा कवच चाहिए। हम अहंकार का अवश्य उपयोग करें। जैसे हम वस्त्र पहनते हैं, बस वैसे ही। लेकिन चौबीस घंटे का वह संगी-साथी न हो जाए, वह हमारी अंतर्आत्मा पर चढ़ न बैठे, हावी न हो जाए। जब हम अपनों के बीच में हैं, परिवार में आए हैं, मित्रों-प्रियजनों के मध्य बैठे हैं; तब वहां अहंकार न हो। क्योंकि यहां अहंकार प्रेम को, मित्रता को खत्म करेगा। अतः विवेकपूर्वक उसका उपयोग किया जाना चाहिए जैसे नाटक में अभिनेता अपने मुखौटे का प्रयोग करते हैं। आपने ठीक उपमा दी जूता या छाता की तरह... ओशो उनके विरोध में नहीं हैं। जूता कांटों-कंकड़ों से बचाएगा, जरूर बचना। लेकिन उसको हमेशा ही नहीं पहने रहना। धूप से बचना, रात को छाता ताने मत सोना। रक्षक कहीं भक्षक न बन जाए, जरा ख्याल रखना।

मा मोक्षा– लेकिन यह जो ओशो की दृष्टि आपने प्रस्तुत की कि अहंकार का भी स्वीकार है, उसका भी उपयोग है। यह कितनी नयी बात है! अन्य संतों ने अहंकार को सदा ही निंदात्मक रूप से देखा है। अभिमान को मिटाकर विनम्रता साधने को कहा है। लेकिन एक नया ही दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ, आज की चर्चा से कि अहंकार का भी सम्यक् उपयोग किया जाना चाहिए। यह कितनी सरल सी बात है लेकिन विरले ही कही गयी या समझी गई है!

स्वामीशैलेन्द्र जी– अन्य मनीषियों ने भी कही है– मगर थोड़े अच्छे शब्दों की आड़ में। 'संकल्प' की साधना वस्तुतः अहंकार का सम्यक् उपयोग ही तो है। बस, एक खतरे से सावधान रहना चाहिए– विनम्रता साधने वाला, अहंकार का दमन करके विनम्रता ओढ़ने का ढोंग रचता है। घमंड भीतर ज्यों का त्यों मौजूद रहता है। शायद बढ़ ही जाता है... 'मैं विनम्र हूं'... यह व्यक्तित्व का एक नया आभूषण बन जाता है। इससे बेहतर होगा कि अहंकार जैसा है, वैसा ही प्रगट हो। वह कांटा दूसरों को ही नहीं, खुद को भी चुभता है; अच्छा है। क्योंकि उसकी पीड़ा, उससे मुक्ति की ओर प्रेरणा दिलाती रहती है।

मा मोक्षा– एक मित्र ने ई–मेल द्वारा प्रश्न पूछा है। ओशो धर्म के नहीं धार्मिकता के पक्ष में है, उनकी एक पुस्तक का नाम भी है 'मैं धर्म नहीं, धार्मिकता सिखाता हूं।' इस वक्तव्य से उनका क्या तात्पर्य है? कृपया समझाएं।

स्वामी शैलेन्द्र जी– धार्मिकता एक गुणवत्ता है, चेतना की एक क्वालिटी है। लोग जिन्हें धर्म कहते हैं वे एक प्रकार के संगठन हैं। और स्मरण रहे कि सभी प्रकार के संगठन अंततः राजनीति के अड्डे बन जाते हैं। इसलिए अध्यात्म के नाम पर संगठनों के पक्ष में नहीं हैं ओशो, लेकिन आध्यात्मिकता की जो गुणवत्ता है, रिलीजेसनेस; वह जीवन में होनी चाहिए। विशेषण रहित, नाम रहित, समग्रतापूर्वक जीवन जीने की आनंदमयी शैली।

बेहत्तर हो हम एक उदाहरण से समझें। जैसे कि जगत में अनेक तरह के विज्ञान हैं, किंतु हम वैज्ञानिकता के पक्ष में होते हैं कि सभी समाज, दुनिया में सभी लोग वैज्ञानिक चिंतन–मनन वाले हों अर्थात् खुले मन के हों। हम प्रयोग से, कार्य–कारण की खोजबीन करके, तर्क के आधार पर निष्कर्ष निकालें। अगर विज्ञान की शाखाएं अपने आप को संगठित कर लें, कोई कहे यह भारतीय फिजिक्स है, कोई कहे यह चाईनीज कैमेस्ट्री है तो कितनी हास्यास्पद बात हो जाएगी। कोई कहे हम तो जापानी गणित के समर्थक हैं, और दूसरे गणितों को नहीं मानते। अन्य देश के कट्टरपंथी गणितज्ञ उसके विरोध में हो जाएं, उसकी किताबों में आग लगा दें और दंगे–फसाद होने लगें; तो बहुत ही मजेदार, चुटकुले जैसी बात हो जाएगी। ऐसे लोगों को तो फिर वैज्ञानिक कहना भी अनुचित लगेगा।

धर्म के नाम पर ऐसी हास्यापद स्थिति हजारों सालों से बनी हुई है। यह तमाशा देखकर कोई नहीं हंस रहा, अद्भुत गंभीर लोग हैं! सब कह रहे हैं ईश्वर एक है और उसके नाम पर वे सांप्रदायिक दंगा–फसाद, युद्ध करने को तैयार हैं। सच पूछो तो अतीत में जितना खून–खराबा धर्मों के नाम पर हुआ है इतना किसी अन्य नाम पर नहीं हुआ। क्या हम चाहेंगे कि इस प्रकार के धार्मिक संगठन आगे भी जारी रहें? ये मनुष्य जाति के इतिहास पर धब्बे की तरह हैं। अब समय आ गया है कि धर्मों का जो सारतत्त्व है वह अवश्य ग्रहण किया जाए और वह 'क्वालिटी आफ लाइफ' सार्वभौमिक हो, सार्वजनिक हो, सभी के लिए हो। किसी धर्म के लोगों ने कोई विशेष बात खोजी है, यदि सार्थक है तो समस्त मनुष्य जाति उसका उपयोग करे। उदाहरण के लिए हिंदुओं ने योग खोजा, इसका मतलब यह नहीं है कि योग

अब हिंदुओं का हो गया!

देखिए, यहां बिजली का बल्ब जल रहा है और इसे एक ईसाई वैज्ञानिक ने खोजा था। क्या हम इसके विरोध में होंगे कि हम सनातनधर्मी ईसाई बिजली नहीं जलाएंगे अपने घर में। हम तो परंपराबवादी हैं, हमारे पूर्वज मिट्टी के दीए जलाते थे, हम उससे आगे नहीं बढ़ेंगे। ये परदेशी बिजली, ये फिरंगी बल्ब... हटाओ यहां से! अरे, बिजली तो बिजली है, बिजली कहीं हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम होती है। ठीक है, खोजी होगी ईसाई ने। धन्यवाद उसका।

क्या हम कहेंगे कि ये दवाई तो एक यहूदी डॉक्टर ने खोजी थी, हम ये विधर्मी दवाई नहीं खाएंगे। तो क्या हम बीमारी से मरेंगे? दवाई बस दवाई है। किसी ने खोजी हो, हमें क्या लेना-देना? हमारे लिए फायदेमंद है तो हम उसका उपयोग करने को तैयार हो जाते हैं।

ठीक ऐसे ही न तो योग हिंदू है, न प्रार्थना चर्च की है, न कोई व्हिर्लिंग ध्यान पद्धति सूफियों की है, न विपस्सना बौद्धों की है, न उपवास जैनियों का है। किसी की बपौती नहीं है। ठीक है बुद्ध ने खोजा, प्रचारित किया अनापानसती योग को। बहुत सुन्दर बात, लेकिन सांस तो सभी की चल रही है, सभी लोग विपस्सना कर सकते हैं और उसका मजा ले सकते हैं। इसका बौद्ध धर्म से क्या लेना-देना है?

ठीक इस प्रकार धार्मिकता के गुण अर्थात् जागरूकता, प्रीति, संवेदनशीलता, करुणा; इनकी वृद्धि हम सबके भीतर हो। सभी धर्मों में जो-जो ग्रहण करने योग्य है वह सारतत्व जरूर, सधन्यवाद ग्रहण कर लिया जाए। अब वक्त आ गया है कि ओशो के इशारे को समझें और वे जो धर्म के नाम पर अधर्म के संगठन खड़े हो गए हैं, जिनसे लड़ाई-झगड़ा, वाद-विवाद, युद्ध पैदा होते हैं; उनको तिलांजलि दी जाए।

इस बारे में हम आगे और भी चर्चा जारी रख सकते हैं। थोड़ी विस्तृत बात करनी आवश्यक है, क्योंकि यह एक बहुत बड़ा विषय है। संक्षेप में कहने में सदा डर लगता है कि कहीं कोई नयी गलतफहमियां निर्मित न हो जाएं। सदगुरु ओशो की स्वतंत्रता की शिक्षा का यह भी एक महत्वपूर्ण पहलू है।

तथाकथित संगठित धर्मों ने मनुष्यता को खंडों में बांटकर, धारणाओं की जंजीरों में बुरी तरह कस दिया है। और ऐसा अंधविश्वास भी ठूस-ठूसकर भर दिया है कि ये बेड़ियां नहीं, वरन आभूषण हैं। इन पर गर्व करो, इनकी रक्षा के लिए लड़ो। इन मिथ्या धर्मों की वजह से ही आदमी वास्तविक अर्थ में धार्मिक नहीं हो पा रहा है।

बच्चे के बड़े हो जाने पर उसके पुराने वस्त्र व्यर्थ हो जाते हैं, और उन्हें छोड़कर नए परिधान धारण करने पड़ते हैं। चाहे पुराने कपड़ों से कितना ही मोह क्यों न रहा हो! ऐसे ही वर्तमान युग में मनुष्य प्रौढ़ हुआ है। हजारों वर्ष पुराने वस्त्र अब उसके लिए बंधन और कष्ट का कारण बन गए हैं। जीवन की कार में रिवर्स गेयर नहीं हैं, आगे ही जाना होगा।

मा मोक्षा- आपका बहुत-बहुत धन्यवाद गुरुदेव।

प्रिय मित्रो, सदगुरु ओशो द्वारा प्रस्तावित 'धार्मिकता' ही अब गृहण करने योग्य है। शुक्रिया। शुभ रात्रि। जय ओशो।

धर्म और धार्मिकता में भेद

मा मोक्षा– पिछली कड़ी में धर्म और धार्मिकता की चर्चा हुई थी। क्या आप उसके अनछुए पहलुओं के बारे में हमें विस्तार से कुछ और कहना चाहेंगे?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हाँ। समस्त धर्म एक प्रकार के राजनैतिक संगठन हैं। याद रखना आध्यात्मिक संगठन जैसी कोई चीज नहीं होती। आत्मा तो एक है, परमात्मा तो एक है; उसका संगठन कैसे होगा? तो संगठन का मुख्य आधार हमेशा राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, जातिगत, विचारगत, सिद्धांतगत, शास्त्रगत, व्यवस्थागत होता है। अंततः निश्चितरूपेण इनमें विवाद होगा, झंझट होगी। कोई ऊंचे पद पर है, कोई नीचे पद पर है। नीचे वाला ऊपर जाने की तिकड़म बैठाएगा। किसी का शास्त्र कुछ कहता है, किसी का शास्त्र कुछ और कहता है। किसी के सिद्धांत कुछ हैं, किसी अन्य के सिद्धांत भिन्न ही नहीं, विपरीत भी हैं। इनमें तो फिर मार–काट होगी, लड़ाई–झगड़ा होगा।

इसलिए हम देखते हैं पूरा इतिहास उठाकर कि धर्मों के नाम पर बहुत खून–खराबा हुआ। लगभग सारे युद्ध अतीत में धर्म के आधार पर ही लड़े गए हैं और आज भी वह स्थिति कमोवेश वैसी ही चल रही है। साम्प्रदायिक दंगे–फसाद सारी दुनिया में होते ही रहते हैं। आतंकवाद की जड़ें फैलती जा रही हैं।

कुछ दिन पहले जिक्र आया था अडोल्फ हिटलर का, जिसने साठ लाख यहूदियों को मरवाया। यह कोई नयी बात नहीं थी, पिछले दो हजार साल से ऐसा हो रहा है। यहूदियों ने ईसा मसीह को सूली दी थी, एक आदमी को मारा था; और तब से ईसाई पीछे पड़े हैं यहूदियों को मारने के लिए... बदला लिए जा रहे हैं, लिए जा रहे हैं। कब तक यह बदला चलेगा? दो हजार साल हो गए। किसी जमाने में यहूदियों की संख्या दुनिया में लगभग पचास प्रतिशत हुआ करती थी आज उनकी आबादी सिर्फ दो प्रतिशत बची है। कहां गए 48 प्रतिशत यहूदी? उन्होंने एक ईसा मसीह की हत्या की थी, तब से निरंतर उनकी सामूहिक हत्या चल रही है। धर्म की रक्षा के नाम पर ये सारे अपराध होते हैं!

और याद रखना, ईसा मसीह ने क्या सिखाया था? अपने शत्रु को भी वैसा ही प्रेम करो जैसा तुम स्वयं को करते हो। अगर कोई तुम्हारा कोट छीने तो उसको अपनी कमीज भी दे देना। क्या पता बेचारा संकोचवश तुम्हारी कमीज न मांग पा रहा हो! ये ईसा मसीह हैं

जो सूली पर चढ़कर भी अपने हत्यारों के लिए क्षमा करके, प्रार्थना करके विदा हुए थे कि हे प्रभु! इन्हें क्षमा कर देना, माफ कर देना; ये बेचारे जानते नहीं कि क्या कर रहे हैं!

अब इतिहास उठाकर देखें दो हजार साल में ईसाईयों ने क्या किया है यहूदियों के संग? क्या वे ईसा मसीह की शिक्षा का पालन किए हैं? क्या वे क्षमाशील हैं? क्या वे प्रेमपूर्ण हैं? क्या वे करुणावान हैं? नहीं, जरा भी नहीं। और ये तो उदाहरण मैंने दिया। दुनिया के समस्त धर्मों के बारे में आप खोजबीन करेंगे तो पाएंगे कि जिसको वह आदर्श महापुरुष कहते हैं, अवतार, पैगम्बर, तीर्थंकर आदि नामों से पुकारते हैं; वे उसकी शिक्षाओं का पालन नहीं कर रहे। वे तो कुछ और ही कर रहे हैं, जो लगभग उसके ठीक विपरीत है।

मैं जैन परिवार में पैदा हुआ और मैं जैनों के बारे में काफी जानता हूं क्योंकि मैं निकट संपर्क में रहा। हैरानी की बात है यह है कि अधिकांश जैन धर्मावलंबी वस्त्र व्यापारी हैं, कपड़ों का धंधा करते हैं। क्योंकि वे जिन गुरुओं के शिष्य हैं, वे चौबीसों तीर्थंकर नग्न रहे। उन्होंने कपड़े का ही त्याग कर दिया था। अब देखना कैसा मजा घटित होता है? जिन लोगों ने कपड़े छोड़ दिये, दिगम्बर हो गए; उनसे आकर्षित वे लोग होंगे जिनको कपड़ों में बहुत रस है, जो बड़े शौकीन हैं वस्त्र पहनने के। उनको लगता है अरे, ये कितने महान त्यागी हैं! हम तो मरे जा रहे थे वस्त्रों के लिए और ये निर्वस्त्र खड़े हैं। ये उनके शिष्य बन जाएंगे।

विपरीत का आकर्षण, प्रकृति का नियम है। जैसे चुम्बक का नार्थ पोल साउथ पोल को अट्रेक्ट करता है, ठीक वैसा ही विपरीत के आकर्षण का नियम सर्वत्र लागू होता है। स्त्री–पुरुष के बीच में जो प्रेमाकर्षण है, वह भी वपरीत ध्रुवों का आकर्षण है, खिंचाव है।

ठीक ऐसा ही गुरु–शिष्यों के बीच में होता है। वैसे शिष्य निकट आ जाते हैं जो उस गुरु के बिल्कुल विपरीत किस्म के लोग हैं। ईसा मसीह प्रेम के मसीहा थे तो उनके फॉलोवर कौन होंगे? बहुत क्रूर किस्म के लोग! उनको लगेगा ये आदमी अद्‌भुत है, हत्यारों को तक माफ कर गया और हम तो अपने प्रियजनों को भी माफ नहीं कर पा रहे। ये उसके इर्द–गिर्द इकट्ठे हो जाएंगे, उससे अट्रेक्ट होंगे।

महावीर के पास कोई नग्न भिखारी नहीं आएगा। वह कहेगा, इनमें क्या खूबी? ऐसा तो मैं खुद ही हूं। जो वस्त्रों का लोभी–लालची है, वह महावीर से बहुत आकर्षित हो जाएगा। अंत में कुल मिलाकर निरीक्षण करें तो जैन धर्म महावीर ने नहीं निर्मित किया। महावीर तो एक दिन विदा हो गए उनके शिष्यगण रह गए। ये वस्त्रों के लोभी, कपड़ों से सम्मोहित लोग; इन्होंने धर्म का संगठन बनाया। वह संगठन बिल्कुल विपरीत होगा महावीर से।

जो ईसा मसीह के पास लोग आ गए, बहुत कठोर और क्रूर किस्म के; ईसा मसीह तो सूली पर विदा हो गए, इन क्रूर लोगों ने तब एक संगठन बनाया जो ईसाई धर्म कहलाया। याद रखना ईसा मसीह ने तो ईसाई धर्म का नाम भी नहीं सुना था। गुरु नानक देव जी ने तो सिक्ख धर्म का नाम भी नहीं सुना था। ये तो सैकड़ों साल बाद निर्मित हो गए। बुद्ध को पता ही नहीं था कि बौद्ध धर्म क्या है? वह तो एक हिंदू थे, हिंदू की तरह जिए, हिंदू की तरह मरे। ईसा मसीह एक यहूदी थे, एक यहूदी की तरह जन्मे, यहूदी की तरह जीए, यहूदी की

तरह मरे। क्रिश्चियनिटी का तो उन्होंने नाम तक नहीं सुना था। ये ईसाईयत आयी कहां से? ये उनके शिष्यों ने बनाई यानी विपरीत प्रवृत्ति वालों ने बनाई।

ठीक इसी प्रकार अन्य सारे धर्म संगठित हुए। ये बुद्ध पुरुषों के द्वारा, जागृत लोगों के द्वारा नहीं बनाए गए। ये तो सोई हुई, मूर्च्छित भीड़ ने बनाए। तो स्वभावतः इनका आधार राजनीति होगी, इनका आधार वाद–विवाद होगा, इनके कट्टर पंथी सिद्धांत होंगे, ये लड़ने–मरने के लिए सदा तैयार होंगे। अपने सिद्धांत के पीछे दूसरे की जान लेने को तैयार होंगे। अपने प्राण गंवाने को भी तैयार होंगे। इनको लड़ने–भिड़ने में रस है। इन लोगों ने इसी कार्य हेतु संगठन बनाया।

संगठन हमेशा दूसरों को जीतने के लिए बनाया जाता है। उसकी आधार में ही हिंसा छिपी होती है। अन्यथा प्रेम काफी है। पावर की कोई जरूरत नहीं है, संगठन पावर पैदा करता है। तो उसमें जो पावर ओरिएंटेड है, राजनीतिक किस्म के लोग; वे उभर के ऊपर चढ़ जाएंगे। उन्हें एक अच्छा मौका मिला, एक छोटी सी संस्था है, उसके मालिक बन सकते हैं। गलत प्रकार के लोग आ जाएंगे जिनका अध्यात्म में कोई रस नहीं है, वे धर्म–संचालक हो जाएंगे। स्वभावतः, इसका जो दुष्परिणाम होना है वही हुआ। हमारा पूरा इतिहास प्रमाण है, सारी पृथ्वी की अतीत–कथा गवाह है इस दुष्परिणाम की।

ओशो ने हमें चौंकाया, जगाया और उन्होंने कहा, संगठन आदि पर जोर न दो, इनसे मुक्त हो जाओ। धार्मिकता के लक्षणों को जियो– ईसा मसीह जिनकी शिक्षा दे रहे हैं, महावीर और बुद्ध जिनका उपदेश दे रहे हैं, गुरु नानक देव जिनकी शिक्षा दे रहे हैं। उन दिव्य गुणों को अपनाओ। भगवान कृष्ण और भगवान शिव के जीवन में जो क्वालिटी है, उस क्वालिटी को तुम जीना शुरू करो। महत्वपूर्ण बात वह है। संगठन का कोई सवाल नहीं है, यह तो हर इंडिविजुअल अपने लिए स्वयं कर सकता है। अगर प्रेम महत्वपूर्ण है तो मैं प्रेमपूर्ण ढंग से जीऊं, इसमें संगठन की क्या जरूरत है?

संगठन की बुनियाद हिंसा होती है। अभी तक प्रेम के आधार पर कोई संगठन नहीं बना और न बनाने की कोई जरूरत है। क्या कभी तुमने सुना कि लैला–मजनू ने प्रेमी–प्रेमिका–संगठन बना लिया हो, प्रेम के ठोस सिद्धांत निर्मित करे हों, ग्रंथ रचे हों, नियमावली और अनुशासन तय किए हों, मंदिर–मठ और मठाधीसों की शक्तिपीठ बना दी हो? ऐसा होता तो हमेशा के लिए प्रेम की संभावना ही नष्ट हो जाती।

ठीक इसी प्रकार हम जिन्हें बुद्ध पुरुष या महान धर्म के प्रवर्तक कहते हैं, हमेशा वे अकेले पड़ गए। उनका तो कोई संगी–साथी न था। उनकी बातें समझ के पार थीं। अलौकिक का, अकथनीय का निर्वचन उन्होंने किया। जन मानस के सिर के ऊपर से बातें निकल गईं। हाँ, गलतफहमियां अवश्य उत्पन्न हुईं।

संगठन बनाने वाले अनुयायी, अपने आदर्श के ठीक विपरीत किस्म के लोग होते हैं। मुझे एक बहुत मजेदार घटना याद आती है, तब ओशो जबलपुर में रहते थे। एक सज्जन ने अपनी नयी कपड़ों की दुकान खोली और उन्होंने ओशो से निवेदन किया कि आप मेरी

दुकान का उद्घाटन करने आएं। ओशो वहां पर गए, उनका प्रवचन आयोजित था, बड़ी भीड़ जमा थी। वे बोले– जब यहां आकर दुकान का बोर्ड देखा तो मुझे बड़ी हंसी आ रही है तब से। दुकान का नाम है दिगम्बर वस्त्र भंडार। दिगम्बर का मतलब होता है नग्न। मतलब हुआ– नंगों की कपड़ों की दुकान! ओशो ने कहा कम से कम दुकान का नाम तो बदल लो। महावीर भी देखकर अपना सिर ठोक लेंगे। तुम उनके नाम पर यह क्या तमाशा कर रहे हो?

इस बात को हुए तो पचास साल हो गए, लेकिन आपको हैरानी होगी जानकर कि आज भी दिगम्बर वस्त्र भंडार वहां ज्यों का त्यों है। लोगों के भीतर कॉमन–सेंस भी नहीं है, कि वह नामकरण क्या कर रहे हैं?

ऐसे लोग उच्च दार्शनिक बात या आत्मिक अनुभवों की बात क्या खाक समझेंगे?

मैं आपसे कहना चाहूंगा धर्मों के नाम पर बहुत अनाचार हो चुका। अब मनुष्य जाति सुशिक्षित हुई है, ज्यादा सभ्य व सुसंस्कृत हुई है और अब समय आ गया है कि हम सब प्रकार के धार्मिक संगठनों से मुक्त हो जाएं। अपनी चेतना को उन संकीर्ण दायरों से बाहर निकालें और जो–जो रिलिजेशनेस की क्वालिटिज हैं, हम जिन्हें भी श्रेष्ठ गुण समझते हैं, अतिमानवीय गुण या सुपर ह्यूमन क्वालिटीज, दिव्य गुण, भागवत गुण; हम उनको अपने जीवन में उतारें। इसमें संगठनों की क्या जरूरत है? जरा सोचो, स्वयं महावीर किस संगठन के हिस्से थे? स्वयं गौतम बुद्ध किस संप्रदाय के अंग थे? किसी भी प्रचलित धार्मिक संस्था के भाग न थे। वे तो बड़े मौलिक, क्रांतिकारी, विद्रोही तबियत के व्यक्ति थे, अत्यंत ओरिजनल! उन्होंने अपने साहसी तथा नवीन ढंग से अपनी जिंदगी को जिया है। उन्होंने किसी परंपरा का अनुकरण नहीं किया। तभी वे आत्मज्ञान हासिल कर सके।

अगर बुद्ध से, महावीर से, ईसा मसीह से, गुरु नानक से कोई सबक सीखना है तो कृपया एक बात सीखो कि इन लोगों ने अपना जीवन बड़े ओरिजनल तरीके से, बड़े स्वतंत्र ढंग से जिया। इन्होंने स्वयं ही किसी संगठन का, किसी शास्त्र का, किसी सिद्धांत का पालन नहीं किया। इन्होंने किसी का अनुकरण नहीं किया तो हम उनका अनुकरण क्यों करें? अगर हमारे मन में सच्ची श्रद्धा है इन लोगों के प्रति, तो एक बात सीखने जैसी है कि हम भी किसी का अनुकरण न करें, बल्कि हम अपने भीतर विवेक बुद्धि जागृत करें। और जो भी हम समझते हैं श्रेष्ठ गुणवत्ताएं हैं, जिसको हम रिलिजेशनेस कह सकें, उसके अनुसार हम जीना शुरू करें। संगठन की जरूरत ही कहां है? तो यही आशो संक्षेप में कह रहे हैं– आई टीच रिलिजेशनेस, नॉट रिलिजन। मैं धार्मिकता सिखाता हूं, धर्म नहीं।

मा मोक्षा– 'धर्म नहीं, धार्मिकता' के समान ही ओशो की प्रवचनों में एक और बात आती है 'भगवान नहीं, भगवत्ता'। क्या आप इस पर कुछ प्रकाश डालेंगे?

ओशो शैलेन्द्र जी– आपने बहुत सुंदर प्रश्न उठाया; ये दोनों बातें जुड़ी हुई हैं। सभी संगठनवादी धर्मों ने अपने–अपने भगवान खड़े कर दिए। हिंदुओं के भगवान अलग, यहूदियों के अलग, पारसियों के अलग, जैनों के अलग, बौद्धों के अलग और सबके

अलग–अलग। दुनिया में लगभग तीन सौ बड़े धर्म हैं और लगभग तीन हजार संप्रदाय हैं, फिर उनकी उपशाखाएं हैं। सबके अपने–अपने देवी–देवता हैं और सब कहते हैं कि परमात्मा एक है। अकेले हिंदू धर्म में ही तैंतीस करोड़ देवता हैं। उस जमाने में तो हिन्दुस्तान की जनसंख्या भी तैंतीस करोड़ नहीं रही होगी, जब ये शास्त्र रचे गए। तैंतीस करोड़ देवी–देवता और सब एक–दूसरे से बहुत भिन्न।

उनमें से तुम किसके जीवन को आदर्श मानकर जिओगे, किसके जीवन को नहीं। उनमें खुद ही इतनी भिन्नताएं हैं, इतने लड़ाई–झगड़े हैं और वाद–विवाद हैं– जिनका हिसाब नहीं। और एक धर्म के भगवान की दूसरे धर्म के भगवान से कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। दूसरे को तो वे भगवान मानने को ही तैयार नहीं, दूसरा तो उन्हें शैतान दिखता है।

जैन शास्त्र कहते हैं कि कृष्ण महानर्क में गिरे हैं क्योंकि उन्होंने महाभारत का युद्ध कराया। जैन सिद्धांत है– 'अहिंसा परमो धर्मः' अर्थात् हर हालत में अहिंसा का ही पालन करना, हिंसा नहीं। कृष्ण भगवान ने तो महाभारत में भाग लिया। वे चाहते तो रोक भी सकते थे, महाभारत न होता। भयंकर युद्ध हुआ। समझो उस जमाने का विश्वयुद्ध हुआ। अगर शास्त्रों की मानो तो कई अरब लोग उसमें मारे गए। इससे बड़ी हिंसा कभी न हुई, इतना खून पहले कभी नहीं बहा था। तो जो अहिंसा का सिद्धांत मानते हैं कि अहिंसा ही एक मात्र धर्म है – वे कैसे स्वीकार करेंगे कि युद्ध करना धर्म हो सकता है। गीता की शुरूआत होती है– 'धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे।' अहिंसावादी कभी नहीं मानेंगे कि कुरूक्षेत्र धर्मक्षेत्र है।

सिद्धांतों की आपस में टक्कर है और इसलिए उनके भगवानों में भी आपस में टक्कर है। जैन नहीं मान सकते कि ईसा मसीह कोई महापुरुष है, क्योंकि वे कहते हैं कि जो तीर्थंकर हैं, जिसके सारे कर्म बंध नष्ट हो गए, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट संताप नहीं मिलता। ईसा मसीह को तो सूली पर चढ़ा दिया गया। कर्मो के सिद्धांतानुसार सभी कर्मों का फल मिलता है। ईसा मसीह ने जरूर कुछ ऐसे कर्म किए होंगे कि उनको सूली लगी। इसका मतलब उन्होंने कभी कुछ दुष्कर्म किए थे, चाहे इस जन्म में, या पिछले जन्म में, जिनका फल उन्हें मिला। तो जैन उन्हें एक मुक्त पुरुष नहीं मान सकते। उनका सिद्धांत आड़े आ जाता है।

ये तो मैंने छोटे–छोटे उदाहरण दिये। विस्तार में जाएंगे तो बहुत लंबी चर्चा हो जाएगी। किसी भी धर्म का भगवान दूसरे धर्म के भगवान से बिल्कुल मैच नहीं करता और अक्सर ऐसा होता है कि जिसे एक लोग भगवान कह रहे हैं, दूसरे के नजरों में वह बिल्कुल शैतान है। जहां धर्म नहीं, धार्मिकता की बात समझी, वहीं हमें ओशो का एक नया शब्द स्वीकारना होगा– 'भगवान नहीं भगवत्ता।' जब हम कहते हैं 'भगवान' तो हम कोई रूप और आकार कल्पित कर लेते हैं। याद रखना, ये भगवान वह सृष्टा नहीं है, जिसने हमें बनाया है।

ये भगवान तो स्वयं हमारे द्वारा निर्मित है। ये मूर्ति तो किसी मनुष्य ने बनायी है, इस मूर्ति ने हमें नहीं बनाया, मनुष्य को नहीं बनाया। ये तो हमारे खेल–खिलौने हैं। ठीक है कि बहुत सुन्दर हैं, गौतम बुद्ध की याद दिलाते हैं, हम उन्हें प्रणाम करते हैं, लेकिन यह तो हमारे द्वारा निर्मित हैं। हमें उस भगवान की तलाश करनी है, जिसके द्वारा हम निर्मित हैं। निश्चित

रूप से वह एक है। एक भी कहना ठीक नहीं– अद्वैत, वहां दुई नहीं है। लेकिन जब धर्मशास्त्रों की, ग्रंथों की, सिद्धांतों की मानकर चलो, तब तो फिर अनंत–अनंत भगवान हो जाते हैं। फिर बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाती है, तब तो लड़ाई–झगड़ा होगा। किसका भगवान श्रेष्ठ, किसका भगवान निकृष्ठ? कौन नीचे, कौन ऊपर? फिर तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी और कोई भी दूसरे को मानने को तैयार नहीं होगा। उसके अपने फिक्स्ड एटिट्यूड– अपनी सुनिश्चित धारणाएं हैं। वह अपने उस चश्मे के माध्यम से देखता है, जिसमें दूसरा उसे भगवान नजर ही नहीं आता।

हम रूप और आकार वाले भगवानों से मुक्त हों और उस अरूप निराकार, निर्गुण परमात्म सत्ता को सबसे पहले तो अपने भीतर पहचानें। ध्यान में डूबें। धार्मिकता का प्रथम मुख्य बिंदु है 'ध्यान' (मेडिटेशन)। द्वितीय है 'प्रेम या भक्ति' (डिवोशन)। हम निराकार की भक्ति में लीन हों और तब हम पाएंगे कि मेरे भीतर जो है, वही सबके भीतर है। जैसी चेतना मेरे भीतर है, जैसा अनहद नाद मेरे भीतर गूंज रहा है, और जैसा आत्मा का आलोक मेरे भीतर प्रकाशित है, वैसा ही सब मनुष्यों के भीतर, समस्त प्राणियों के भीतर, वनस्पतियों के भीतर और कीट–पतंगों के भीतर है।

उस एक को जान लिया जो सर्वव्यापी है, फिर तत्संबंध में विवाद न हो सकेगा।

ओशो जब कहते हैं– 'भगवान नहीं, भगवत्ता'– तो फिर व्यक्तित्व को हटाकर वे गुणवत्ता पर ला रहे हैं। ड्रॉप दि पर्सनॉलिटीज़, द फॉर्म्स एण्ड कैच होल्ड ऑफ़ फॉर्मलेस क्वालिटीज़। पर्सनॉलिटी को जाने दो, क्वालीटीज़ पैदा करो। तो यह बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दा है और मैं समझता हूं कि आने वाली पीढ़ियां शीघ्र ही इसे स्वीकार करेंगी। खेल–खिलौने वाले भगवान हमें नहीं चाहिए जो हमने ही फैक्ट्री में बनाए हैं। और आजकल तो हमारे देश में बनते भी नहीं, सब देवी–देवता चीन से आते हैं। वे ज्यादा सस्ते हैं। ये बचकाने खिलौने अब बंद होने चाहिए। मनुष्य परिपक्व बने और धार्मिकता के गुणों को, जैसे मुख्य रूप से ध्यान और भक्ति, उन्हें अपनाए तो जगत में नयी क्रांति हो सकती है – आध्यात्मिक क्रांति।

मा मोक्षा– अंत में इस टीवी चैनल के समस्त दर्शकों से निवेदन है कि खुले हृदय से धार्मिकता और भगवत्ता को अपने जीवन में उतारने का यह अवसर न चूकें। विनम्र विनती है कि एक बार ध्यान में डूबने के लिए, भक्ति की राह पर चलने के लिए, समाधि कार्यक्रम में जरूर पधारें। दिव्यता का स्वाद चखें और स्वयं के जीवन को धन्य–धन्य करें।

इन चर्चाओं से संबंधित कोई अन्य सवालात आपके मन में उठें तो पूछने में संकोच न करें।अगले एपिसोड में हम उन प्रश्नों पर चर्चा करेंगे।

धन्यवाद! जय ओशो।

विज्ञान, धर्म और कला

मा ओशो मोक्षा– परमगुरु ओशो की एक अनूठी किताब का शीर्षक है 'विज्ञान, धर्म और कला'। बताने की अनुकंपा करें कि धर्म को विज्ञान एवं कला से क्यों जोड़ा गया? ये तो संसारी विषय हैं। इनका धर्म से क्या लेना–देना है?

ओशो शैलेन्द्र जी– अतीत में जीवन को हमेशा दो हिस्सों में बांटकर देखा जाता था जैसे– संसार और संन्यास, भोगी और त्यागी, धन और ध्यान। दोनों को बिल्कुल अलग–अलग ही नहीं, आपस में शत्रु भी माना जाता था। कुछ लोग आसक्ति में जी रहे हैं, कुछ लोग विरक्त हो गए हैं। कुछ गृहस्थ है, कुछ संन्यस्थ है। कुछ मकान में रह रहे हैं, कुछ मंदिर में रह रहे हैं। कुछ समाज में रह रहे हैं, कुछ जंगल में रह रहे हैं। कुछ नगर वासी हैं, कुछ गुफावासी हैं, कुछ परिव्राजक हैं।

अनेक प्रकार के विभाजन खड़े हुए जिससे बहुत भारी नुकसान पहुंचा। प्रतिभाशाली लोग समाज को, संसार को छोड़कर ध्यान की खोज में चले गए। इससे बड़ा अहित हुआ, संसार मूढ़ों के हाथ छूट गया और फिर जो संसार की दुर्गति होनी थी... सो हुई। प्रतिभा का जो कंट्रीब्यूशन, योगदान समाज व देश को मिलना चाहिए था वह नहीं मिला। खतरनाक और हानिकारक विभाजन, मानसिक द्वन्द्व का यह आधार अब विदा होना चाहिए।

दूसरी बात और याद रखना– पुराने जमाने में जिस प्रकार का संन्यास प्रचलित रहा, उसको हम एक प्रकार का अनैतिक संन्यास कहेंगे। नीति और अनीति की एक छोटी–सी परिभाषा आपको बता दूं। नीति उसको कहते हैं, जिसका पालन करके सभी लोग सुख–सुविधा पूर्वक रह पाएं। और अनीति वह है, जिसका पालन अगर सभी लोग करेंगे तो बड़ी अराजकता उत्पन्न हो जाएगी; संसार की व्यवस्था चल ही नहीं पाएगी।

उदाहरण के लिए, नौकरी या व्यापार करके, फैक्ट्री चलाकर, खेती–बाड़ी या मजदूरी करके पैसा कमाए जाएं, अगर दुनिया के सारे लोग ऐसा करें तो सभी लोग धन कमा पाएंगे और संसार की अर्थ व्यवस्था खूब अच्छे से चलेगी। इसको हम कहते हैं नैतिक ढंग से धन कमाना। चोरी–डकैती–रिश्वतखोरी को हम कहते हैं, अनैतिक। क्यों? क्योंकि अगर सारे लोग कहें कि... ठीक है हम भी धनोपार्जन चोरी करके करेंगे, हम भी जेब कतरे हो जाते हैं। तो बताइए समाज चलेगा कैसे? कोई उत्पादन करेगा ही नहीं, कोई गेहूं बोएगा नहीं, चावल

बोएगा नहीं, खेती करेगा नहीं, फैक्ट्री चलाएगा नहीं। सभी सोचें कि हम क्यों मेहनत करें? हम क्यों दुकान खोल के दिन भर ग्राहकों का इंतजार करें? एक मिनट में जेब काटी, फटाफट पैसे मिल जाएंगे। अगर सभी लोग जेब कतरे हो जाएं तो तुम किसकी जेबें काटोगे?

मा ओशो मोक्षा– चोरों के घर में भी चोरी होगी...!

ओशो शैलेन्द्र जी– चुटकुला बन जाएगा न! समाज को तो उत्पादकता चाहिए, सृजनशीलता चाहिए। नौकरी करके, फैक्ट्री चलाकर, किसानी करके, मजदूरी करके जब हम जीवकोपार्जन करें, वह नैतिक है। क्योंकि सब लोग उसका पालन करें तो समाज सुंदर तरीके से, व्यवस्थित ढंग से चलेगा। चोरी को हम अनैतिक कहते हैं। क्योंकि सब लोग इसका पालन नहीं कर सकते। कोई इक्के–दुक्के चोर हों तो ठीक... दो–चार प्रतिशत लोग चल जाएंगे। मगर सारे लोग चोर नहीं हो सकते। और वे जो थोड़े से चोर जी पा रहे हैं, उनकी आजीविका का साधन, उनके भोजन का आधार भी यही लोग हैं जो नैतिक ढंग से धन कमा रहे हैं।

याद रहे, अनैतिक लोगों का भरण–पोषण भी नैतिक लोगों की वजह से हो पा रहा है।

अब इसी उदाहरण की कसौटी पर संन्यस्थ और गृहस्थ को कसें। अगर सारे लोग गृहस्थ जीवन जी रहे हों, तब यह संसार बड़ी सुविधापूर्वक व्यवस्थित ढंग से चलेगा। ज़रा सोचें, अगर सारे लोग संन्यासी हो जाएं, सभी तय कर लें कि हम दुकान नहीं चलाएंगे। हम भी त्याग करते हैं, हम क्यों भोग में उलझें? हम भी प्रभु की खोज करते हैं, चलते हैं जंगल में, पर्वत में, हिमालय पर। अगर साढ़े सात अरब लोग हिमालय पहुंच गए तो हिमालय की बर्फ पिघल जाएगी। हिमालय भी हिमालय नहीं रहेगा, वहां भी भीड़–भड़क्का और बाजार लग जाएगा। ऐसे त्यागी सब बन ही नहीं सकते। इक्के–दुक्के सिरफिरे लोग वैरागी होते रहे तो काम चलता गया। वे त्यागी भी इन्हीं भोगियों पर आधारित थे, उनके लिए भोजन यही जुटा रहे थे, भिक्षा दे रहे थे, उनके लिए वस्त्रों का इंतजाम यही कर रहे थे। संन्यासी बीमार पड़ेगा तो समाज के लोग ही उसकी चिकित्सा करवाएंगे। उसके रहने के लिए मंदिर, मठ आश्रम यही समाज के लोग बनवाएंगे। त्याग आधारित भोग पर है– यह कैसा परजीवी त्याग है?

अतः इस प्रकार के संन्यास को सद्गुरु ओशो अनैतिक कहते हैं और उन्होंने 'नव संन्यास' की नूतन धारणा दी कि गृहस्थ रहते हुए अपनी साधना शुरू करें, ध्यान में डूबें, भक्ति में, प्रार्थना में तल्लीन हों। यह सुगमता से संभव है। अगर ऐसा सारी दुनिया भी करे तो किसी का कोई नुकसान नहीं होगा। संसार खूब सुंदर तरीके से चलता रहेगा।

इस नयी धारणा की भूमिका समझाने के बाद अब आपके प्रश्न का जवाब देता हूं कि जब आदमी जीवन में रहेगा और जीवन को सघन रूप से जिएगा और साधना में भी डूबेगा तब उसके लिए ध्यान, प्रार्थना, धर्म, कला, व्यवसाय ये सारी चीजें संयुक्त हो जाएगी। अब केवल आत्मज्ञान ही नहीं, विज्ञान भी महत्वपूर्ण होगा। ऐसा व्यक्ति बाहर भी वैज्ञानिक अन्वेषक, आविष्कारक बनेगा। उसका चिंतन–मनन साइंटिफिक ढंग का होगा और अपने भीतर अंतर्यात्रा करके वह ध्यान में डूबेगा। विज्ञान व आत्मज्ञान का नूतन समन्वय होगा।

ध्यान और विज्ञान में कोई विरोध नहीं है, दोनों ही सत्य के खोजी हैं। एक बाहर जगत

में पदार्थ का सत्य खोज रहा है, प्रकृति के नियमों की खोज कर रहा है और दूसरा अपनी अंतरात्मा में डूबकर स्व-चेतना की खोज कर रहा है। इनमें विपरीत क्या है? दिशाएं अलग-अलग हैं और विवेकपूर्ण व्यक्ति दोनों तरफ तलाश करेगा। न तो कोई व्यक्ति चौबीस घंटे बहिर्मुखी हो सकता न चौबीस घंटे अंतर्मुखी हो सकता। ऐसा व्यक्ति धन भी कमाएगा और ध्यान की पूंजी भी कमाएगा। क्यों न कमाए? धन से सुविधा उत्पन्न होती है, ध्यान से शांति उत्पन्न होती है। क्या हमें दोनों की जरूरत नहीं है? सुविधा भी चाहिए और शांति भी चाहिए। अतीत में विभाजन था, समझो पूरब वाले थोड़ा झुक गए शांति की तरफ तो बाहर से दीन-हीन, दरिद्र हो गए। अशिक्षित रह गए, अशक्त गुलाम रहे हजारों साल तक।

पश्चिम के लोग ज्यादा झुक गए विज्ञान की तरफ, धन की तरफ, देह के पक्ष में, बहिर्मुखी हो गए। वे भीतर से अशांत हैं, तनाव ग्रस्त हैं, निराशा में डूब रहे हैं, विक्षिप्तता बढ़ रही है, बड़ी हिंसक-वृत्ति पनपी है। पिछले दो विश्वयुद्ध पश्चिमी देशों की देन हैं। और तीसरा, अंतिम विश्वयुद्ध होगा तो भी इन्हीं बुद्धिजीवियों की देन होगी। सुखदायी स्थिति न पूरब में घट सकी, न पश्चिम में। पूरब में थोड़ी-सी आंतरिक समृद्धि है लेकिन बाहर गरीबी है। पश्चिम में बाहर समृद्धि है, भीतर बड़ी दरिद्रता है। इन दोनों का समन्वय क्यों नहीं हो सकता? हर व्यक्ति दोनों ढंग से जिए। पूरब और पश्चिम का मिलन- समग्र संस्कृति का जन्म- ओशो की यह देशना है।

उनकी एक किताब का शीर्षक है- 'पूरब का धर्म, पश्चिम का विज्ञान' इसी को वे कहते हैं नये मनुष्य की जीवन शैली। निश्चितरूपेण ऐसा व्यक्ति वैज्ञानिक भी होगा और सृजनात्मक कलाकार भी होगा। वह खेल-कूद में भी रस लेगा, मनोरंजन में भी रुचि रखेगा। आपको पता ही होगा कि ओशो का जीवन काल में बंबई फिल्म इंडस्ट्री के बहुत से अभिनेता, निर्माता, दिग्दर्शक ओशो से जुड़े, उनके शिष्य बने, उनके संन्यासी बने और अपना कार्य भी उन्होंने जारी रखा। ठीक इसी प्रकार पश्चिम के हजारों मनोवैज्ञानिक ओशो के शिष्य बने और अपना कार्य भी उन्होंने जारी रखा। उनके कार्य में एक प्रकार की नवीनता एवं कुशलता आ गयी। एक नयी ध्यान की दृष्टि भीतर से खुल गयी। अन्य मनोवैज्ञानिकों और कलाकारों से वे आगे निकल गए। उनके पास एक अनूठा विजन आ गया ध्यान के द्वारा। संन्यासी बनकर सृजनशीलता का नुकसान नहीं हुआ बल्कि बेहतर विकास हुआ।

ओशो की दृष्टि में एक पूर्ण मनुष्य को हम चार तलों में बांटें तो वे हैं फिजिकल, मेंटल, इमोशनल या सोशल और स्प्रिचुअल। हमारे होने के चार आयाम- शारीरिक, मानसिक, हार्दिक और आत्मिक। इन चारों ही तलों पर विकास हो तो उसी को हम पूर्ण विकास कह सकते हैं। उसे पूर्ण शिक्षा कह सकते हैं जो इस प्रकार का विकास करवाए। देह के तल पर बेहतर स्वास्थ्य हो। क्यों न हो? पुराने जमाने में बीमारी को एक प्रकार की आध्यात्मिकता समझा गया। बिल्कुल ही गलत। इंसान स्वस्थ हो, दीर्घायु हो, ठीक से भरण-पोषण हो, उचित आहार लिया जाए, अपने शरीर का ध्यान रखा जाए। बिल्कुल ही उचित बात है कि अपने मन का भी ख्याल रखा जाए। सम्यक ज्ञान हम हासिल करें, उचित जानकारी हमारे

पास हो। मन के तल पर हम चिंतन–मनन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले हों, तर्कयुक्त हों, तर्क संगत हों, अंधविश्वासी न हों, पूर्वाग्रह से ग्रसित न हो हमारा चित्त। संस्कारों के बंधनों से मुक्त होकर हम उस नये को स्वीकारने के लिए तत्पर व तैयार हों, जो भी उचित है, श्रेष्ठ है, कल्याणकारी है। अगर हम उसे अंगीकार कर सकें, तो होगी विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति।

हृदय के तल पर हम भाव में जिएं। ऐसा न हो कि हम केवल बुद्धि में जिएं और हमारा हृदय सूख जाए। हमारे भीतर दिल और दिमाग दोनों हैं, दोनों को बराबर–बराबर ऊर्जा मिलनी चाहिए। दिमाग के संग हमारा दिल भी विकसित हो। हम हार्दिक हों, इमोशनल हों, भावनात्मक रूप से लोगों से जुड़ सकें, हमारे जीवन में प्रेम हो, मैत्री हो, हमारे मधुर संबंध हों, यह भी जीवन के लिए अत्यंत जरूरी है।

बुद्धि से ज्यादा तृप्ति हृदय से मिलती है। कोई आदमी कितना भी बुद्धिमान हो, उसके जीवन में जरूरी नहीं कि कोई सेटिस्फैक्शन हो। जब तक वह हृदय तल पर नहीं जिएगा, उसकी जिंदगी में संतोष नहीं आएगा। चाहे वह प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति क्यों न बन जाए। फिजिकल लेवल पर उसने बड़ा सम्राज्य स्थापित कर लिया, दुनिया का नंबर एक अमीर हो गया लेकिन अगर उसका हृदय कुंठित, दमित, अविकसित रह गया तो उसके जीवन में कंटेंटमेंट, परितोष का अनुभव कभी नहीं होगा, वह असंतुष्ट जियेगा, अतृप्त ही मरेगा।

चारों तल पर विकसित होने से पूर्णता आती है। आत्मिक तल ध्यान के द्वारा विकसित होता है। मेडिटेशन तथा भक्ति भाव में डूबना भी महत्त्वपूर्ण है। इसलिए धर्म, विज्ञान, कला। विज्ञान मन से संबंधित, बाहर के जगत से संबंधित, शरीर से संबंधित है। कला हृदय से संबंधित है। धर्म यानी अध्यात्म, अपनी आत्मा से संबंधित है। सब में एक सामंजस्य हो, समन्वय हो; हम खंड–खंड विभाजित जीवन न जिएं। तभी सर्वश्रेष्ठ प्रकार की जीवन शैली हो सकेगी। सद्‌गुरु ओशो ने हमें यही उपहार दिया, मानवता के विकास में अमूल्य योगदान दिया– पूर्ण संस्कृति की खिलावट की संभावना का सूत्र दिया है।

मा ओशो मोक्षा– ओशो की कृपा से 'नव संन्यास' की अतुलनीय प्रायोगिक धारणा हमें मिली। उन्होंने संन्यासी को एक नया नाम दिया 'झोरबा दी बुद्धा' इसका क्या तात्पर्य है?

ओशो शैलेन्द्र जी– झोरबा शब्द एक ग्रीक उपन्यास से आता है, उस पर एक फिल्म बनी है 'झोरबा दी ग्रीक' अब तो काफी पुरानी हो गयी शायद आपने न देखी हो। उसमें झोरबा नामक एक चरित्र वर्णित है, वह व्यक्ति भौतिकवादी दृष्टिकोण का है। खाओ, पीओ, मौज करो यह उसकी मेंटलिटी है और इसी पर वह फिल्म आधारित है। ओशो को वह पात्र बहुत पसंद आया। एक प्रकार से वह पश्चिमी मानसिकता का प्रतीक है। बुद्ध को पूर्वीय मानसिकता का प्रतीक समझ लें, जहां आध्यात्मिकता, शांति, प्रेम, दया, करुणा, समाधि, आत्मज्ञान, मोक्ष, निर्वाण– 'बुद्ध' शब्द में ये सारे गुण समाहित हो जाते हैं। गौतम बुद्ध की मूर्ति को हम देखें तो उसमें एक विशेष शांति का भाव झलकता है। जैसे भीतर कोई फूल खिला है और उसकी सुगंध बाहर निकल रही है– करुणा बनकर फैल रही है।

ओशो कहते हैं कि बुद्ध और झोरबा दोनों अपूर्ण हैं। धर्म व विज्ञान अधूरे हैं। दोनों का सम्मिलन चाहिए। उन्होंने एक नया शब्द गढ़ा, अपने शिष्यों से कहा कि तुम्हें झोरबा दि बुद्धा होना है। अर्थात् भौतिकवादी और आध्यात्मवादी एक साथ। दोनों का समन्वय। तुम बाहर से झोरबा जैसा समृद्ध जीवन जियो, और बुद्ध जैसे आंतरिक संपदावान भी बनो।

याद रखना, बुद्ध स्वयं एक राजकुमार थे। किंतु अपने राजमहल का धन, सम्पत्ति का त्याग करके भिक्षु बन गए। ओशो सहमत नहीं हैं कि तुम्हें भिक्षु बनना है। हां, बुद्ध ने अपने भीतर जो खजाना पाया वह जरूर पाना लेकिन इसके लिए महल छोड़ने की क्या जरूरत है? राजपाट, सुख–सुविधा त्याग की क्या आवश्यकता है? अपनी पत्नी को, बच्चे को, अपने पिता को, मां को, अपने परिवारजनों को दुख देना क्या अनिवार्य है?

अतीत के संन्यासियों ने लोगों को बहुत दुख दिया है। अकेले बुद्ध के काल में ही लगभग 40–50 हजार लोग अपना गृह त्याग करके भिक्षु बन गए। महावीर के जीवन काल में भी लगभग इतने ही भिक्षु–भिक्षुणी बन गए, मुनि बन गए। बुद्ध व महावीर लगभग समकालीन थे, करीब एक लाख लोग अपने घर गृहस्थी का त्याग करके भिक्षु और मुनि बन गए। इन्हें शांति और आनंद मिला होगा, मानता हूं कि कुछ लोगों को जरूर मिला होगा, लेकिन बाहर के जीवन में इन्होंने कितना कष्ट उत्पन्न किया, ज़रा वह भी तो सोचो।

पुराने जमाने में बड़े–बड़े संयुक्त परिवार हुआ करते थे। एक परिवार में तीस–चालीस लोग हुआ करते थे। एक व्यक्ति कमाने वाला होता था और तीस–पैंतीस लोग उस पर आश्रित हुआ करते थे। उस एक व्यक्ति के हट जाने से कितनी कठिनाईयां झेलनी पड़ी होंगी उस परिवार को? यह आदमी तो आदरणीय भिक्षु हो गया। जिस पत्नी को यह विवाह करके लाया था और अग्नि के सात फेरे लगाकर कसम खायी थी कि सुख–दुख में साथ निभाऊंगा; क्या हुआ उस आश्वासन का? अचानक पत्नी को छोड़कर भाग गया।

बुद्ध अपनी पत्नी को छोड़कर चले गए, तो यशोधरा को इतनी तकलीफ कभी नहीं हुई थी। आखिर वह रानी थी, उसके ससुर सम्राट थे, एकलौती रानी उस घर की। उसका बेटा होने वाला राजा है। उसे कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ होगा। लेकिन जब साधारण जन अपनी पत्नी को छोड़कर चला गया, उन महिलाओं पर क्या गुजरी होगी ज़रा सोचो। पति के जिंदा रहते हुए, उन्होंने विधवा जैसा जीवन जिया होगा। किसी को झाड़ू–बुहारी लगानी पड़ी होगी, मेड–सर्वेंट बनना पड़ा होगा। किसी के जूठे बर्तन साफ करने पड़े होंगे। यहां तक कि शायद किसी को वैश्या बन जाना पड़ा होगा अपने बच्चों के पेट पालने के लिए।

उन बच्चों पर क्या गुजरी होगी जिनका बाप जिंदा है और उसके जिंदा रहते–रहते वे अनाथ जैसा जीवन जी रहे हैं। उनकी पढ़ाई–लिखाई छूट गयी होगी, कोई उनका मार्गदर्शक न रहा, उस छोटी सी उम्र में अपने पैर पर खड़ा होना पड़ा। इस संघर्षशील समाज में उनके खड़े होने लायक जगह न थी। हो सकता है इनमें से बहुतेरे भिखमंगे बन गए हों। जिंदगी भर उन्हें भीख मांगनी पड़ी हो। उस साधु के बूढ़े माता–पिता जो आशा लगाए बैठे थे कि हमारा बेटा बुढ़ापे में हमारा सहारा बनेगा, बुढ़ापे की लाठी बनेगा; अचानक वह लाठी गायब हो

गयीं, वे बूढ़े मां–बाप असहाय रह गए। वे क्या करेंगे, कैसे जिएंगे? उनसे अब खेती–बाड़ी भी नहीं होती, उनसे हल नहीं चलाया जाता। अब वे कुंए से पानी भी नहीं खींच सकते हैं।

एक आदमी को हो सकता है कि शांति मिल गयी हो भिक्षु बनकर, लेकिन कम से कम तीस–पैंतीस लोगों को उसने बहुत कष्ट दे दिया। क्या इतनी महंगी शांति पाने योग्य है? यह प्रश्न चिह्न लगाया ओशो ने, सवाल उठाया। और जब शांति अपने घर का काम–काज करते हुए, गृहस्थी में रहते हुए पायी जा सकती है तो सबको छोड़ने की क्या जरूरत है?

ऊपर–ऊपर से लगता है कि बुद्ध और महावीर ने प्रेम की और करुणा की गहन शिक्षा दी, अहिंसा सिखाई। ज़रा गौर से देखना ये जो मुनि बन गए हैं, वे तीस–पैंतीस लोगों को भारी दुख देकर आए हैं, क्या यह भी हिंसा नहीं हो गयी? हिंसा तो हो गयी परोक्ष रूप से, सीधी तुमने नहीं की लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा तो हो गयी, अत्याचार तो हो गया। यह दया और करुणापूर्ण तो नहीं है। यह कतई प्रेमपूर्ण नहीं है।

इसलिए ओशो ने अपने संन्यास के लिए जो नाम दिया है 'झोरबा दि बुद्धा' अर्थात् गृहस्थ और संन्यस्थ का मिलन। धन और ध्यान दोनों का समन्वय, विज्ञान और आत्मज्ञान दोनों की खोज। बाहर हम सारे ब्रह्माण्ड के रहस्यों को खोजें टेलिस्कोप से और अपने भीतर ब्रह्म के राज़ को खोजें, अपने अंतस चक्षु से, तीसरे नेत्र से। इन दोनों बातों में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है।

ओशो ने स्वयं यह करके दिखा दिया। उन्होंने त्याग नहीं किया, वे जंगल नहीं भागे, वे पर्वत और गुफाओं में जाकर नहीं छिपे। उन्होंने यहीं संसार में रहते हुए, अपना काम–धाम करते हुए पढ़ाई–लिखाई की, नौकरी की, परिवार की सारी जिम्मेदारियों को निभाया। वह तो कभी किसी दायित्व को छोड़कर पलायन नहीं किये और उन्होंने परम बुद्धत्व को हासिल किया। जो उनके जीवन में घटा, वही वे चाहते हैं सब के जीवन में हो। इसलिए 'झोरबा दि बुद्धा।'

मा ओशो मोक्षा– गुरुदेव, आपका बहुत–बहुत शुक्रिया।

आस्था टीवी चैनल के समस्त दर्शको, अध्यात्म के जिज्ञासुओ, हम सबके लिए यह बात कितनी प्रेरणादायक है। जब उनके जीवन में यह संभव हुआ सभी दायित्वों को निभाते हुए, संसारी होते हुए भी संन्यस्थ हुए, तो क्या यह हम सब के लिए आशा की किरण नहीं है?

आइए, ऐसी जीवन शैली में हम भी जीने का प्रयास करें, जिसमें हमारी जिंदगी में संसार भी हो, संन्यास भी हो। बाहर की समृद्धि हो और भीतर की शांति भी हो। बहुआयामी सम्पन्नता हो, पूर्णता हो, परम संतुष्टि हो।

आप सबको अनेक धन्यवाद!

जय ओशो।

क्रियाकाण्डों का विरोध

ओशो : धर्म के खिलाफ या पक्ष में?

मा मोक्षा– सद्‌गुरु, आज एक प्रश्न आया है। ओशो पहले सब धर्मों के खिलाफ बोले, बाद में फिर उन्होंने संतों की वाणी पर, अनेक धर्मग्रंथों पर और धार्मिक क्रियाओं के पक्ष में भी बहुत सुंदर व्याख्यान दिए। यह अंतर्विरोध क्यों?

स्वामी शैलेन्द्र जी– इसमें विरोध कुछ भी नहीं है। हर चीज के दो पक्ष होते हैं। कालांतर में चीजें बिगड़ जाती हैं। शुरूआत में बहुत शुद्ध होती हैं, फिर धीरे–धीरे अशुद्ध हो जाती है। तो वह जो अशुद्धि जमा हो जाती है, उसके खिलाफ बोले, उसके विपरीत बोले ताकि उसे साफ–सुथरा कर सकें और वह जो मौलिक बात थी, शुद्ध बात थी धर्म की; उसको उन्होंने उजागर किया। उदाहरण के लिए, कोई क्रियाकांडी प्रतिष्ठा पाने हेतु मंदिर जा रहा है, आरती कर रहा, घंटी बजा रहा, मंत्रोच्चार कर रहा है। इस पाखंड का उन्होंने सख्त विरोध किया, क्योंकि यह सच्ची प्रार्थना नहीं है। यह प्रभु की खातिर नहीं है।

आश्चर्य की बात है– लगभग पंद्रह साल तक वे सारे धार्मिक क्रियाकांडो के विपक्ष में बोलते रहे। पूरे देश में क्रांति की बड़ी हवा उन्होंने फैलायी किंतु एक भी पंडित, पुरोहित या विद्वान ने उनकी बात का जवाब नहीं दिया। ओशो ने हजारों ज्वलंत प्रश्न खड़े किए। उनकी एक किताब का नाम है 'भारत के जलते प्रश्न' किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। क्योंकि उनके पास उत्तर ही नहीं है, वे सब पोंगा पंडित हैं। बस एक क्रियाकांड दोहराए चले जा रहे हैं, क्योंकि उनके माता–पिता करते थे, दादा–दादी करते थे, पूर्वजों से चला आ रहा था। क्यों कर रहे हैं, उन्हें स्वयं ही नहीं पता। लगभग पंद्रह सालों के पश्चात् ओशो ने स्वयं ही उन क्रियाकांडों के पीछे जो सकारात्मक व उपयोगी रहस्य छिपा हुआ था, उसे उजागर किया।

उनकी एक अद्भुत प्रवचन माला है– 'मैं कहता आंखन देखी'। एक दूसरी प्रवचन माला है– 'गहरे पानी पैठ'। इनमें उन्होंने धर्म के नाम पर चल रहीं क्रियाओं के पीछे क्या साइकोलॉजी है? कौन–सा मनोविज्ञान है? यह वैज्ञानिक रूप से समझाया कि कौन सी मैकेनिज़्म है जो काम करती है? उन्होंने बताया कि मंदिर की डिजाइन ऐसी क्यों बनायी

जाती है? गुंबद का क्या उपयोग है? घंटा क्यों बजाया जाता है? आरती, धूप, अगरबत्ती, लोभान आदि मंदिर-मस्जिद में जो प्रयोग किए जाते हैं, इनका आध्यात्मिक साधना में कैसे उपयोग किया जा सकता है? ये सब ध्यान की विधियों के लिए हैं।

जो निरर्थक चीजें जमा होकर थोथे क्रियाकांड बन गयीं उन्होंने उनका जमकर विरोध किया, धज्जियां उड़ाई। लेकिन जो बात सार्थक थीं, उपयोगी थीं मनुष्य जाति के हित और कल्याण के लिए, उसके पीछे छिपे विज्ञान का भी उन्होंने अनावरण किया।

किसी को लगेगा कि ये विरोधाभासी बाते हैं। कहीं पर तो वे कह रहे हैं कि तीर्थों की क्या जरूरत है? सारी धरती ही तीर्थ है। 'सबै भूमि गोपाल की' ऐसी कौन-सी जगह है जो अपवित्र है? सब जगह परमात्मा व्याप्त है- वह सर्वव्यापी है! फिर किसी प्रवचन में आप पाएंगे कि वे तीर्थ की अनुशंसा कर रहे हैं कि कोई ऐसी जगह हो जहां पर एक विशेष वातावरण योग का, समाधि का, भक्ति का निर्मित हो सके। ध्यानमय क्लेक्टिव कॉन्सेसनेस जहां बह रहीं हो कि नया आदमी भी वहां आए तो वह उस प्रवाह में बह जाए। तो निश्चित रूप से ऐसे तीर्थों की जरूरत है। उन्होंने मंदिर के विज्ञान को, तीर्थ के विज्ञान को बहुत विस्तार से बताया। ठीक इसी प्रकार अन्य बहुत से क्रियाकांडों के बारे में, माला के बारे में, तिलक-टीका की गहन उपयोगिता समझाई। इसी प्रकार संतमत की किताबें, संतो के सूत्र, उनके द्वारा गाए पदों की, साखियों की उन्होंने अति-सुंदर विस्तृत व्याख्या की।

लगभग पंद्रह साल तक उन्होंने केवल भारत के ही नहीं अपितु विश्व में जहां कहीं भी संत हुए हैं, आध्यात्मिक ज्ञानी हुए हैं, उनके अनुभवों को मानो पुनर्जीवित कर प्रगट किया। निश्चित रूप से वे शास्त्र के विरोध में हैं, लेकिन किताब के विरोध में नहीं हैं। उन्होंने अपने जीवन में एक लाख से अधिक किताबें पढ़ीं। आज भी वे पुस्तकें उनकी लाईब्रेरी में मौजूद हैं।

शास्त्र और किताब में क्या भेद है? शास्त्र जिद्द करता है कि मैं जो कहता हूं वह बिल्कुल सही है और बाक़ी सब गलत। बस, मेरा सिद्धांत सही है। उसमें एक प्रकार की कट्टरपंथी हठधर्मिता है। तुम केवल मेरी मानो बस, और किसी की नहीं। जबकि किताबों में सूचनाएं हैं। तुम पढ़ो, समझो, सीखो फिर अपना चिंतन-मनन करो। जो तुम्हें उसमें से ग्रहण करने योग्य लगता है, वह ग्रहण करो। जो त्याज्य है, उसे छोड़ दो। किताब का आग्रह नहीं है कि मैं जो कह रही हूं ,वह ठीक है, बाकी सब गलत है।

किताब और शास्त्र का यह भेद ख्याल में रखना। अगर कोई व्यक्ति शास्त्र की बात उठाएगा तो ओशो उसका विरोध करेंगे। क्योंकि वह अंध-विश्वास के लिए कह रहा है। किताब के रूप में निश्चित रूप से, गीता अद्भुत है। ओशो ने जितनी लंबी प्रवचनमाला गीता पर दी है, आज तक किसी ने नहीं दी। करीब सवा तीन सौ व्याख्यान, अठारह अध्यायों पर। लगभग पांच साल तक यह लंबी प्रवचन शृंखला चली। गीता के एक-एक श्लोक पर एक-एक डेढ़-डेढ़ घंटे ओशो बोले हैं। कभी इतनी मार्मिक व्याख्या किसी ने नहीं की थीं। ओशो के पहले जो बड़ी से बड़ी टीकाएं हैं गीता पर, ओशो की किताब उससे कोई सवा

गुनी, डेढ़ गुनी, दो गुनी, तीन–चार गुनी ज्यादा नहीं है.... करीब बीस गुनी अधिक है!

ठीक इसी प्रकार भगवान बुद्ध के धम्मपद पर, महावीर वाणी पर, चीन के संत लाओत्सु पर, च्वांग–सू पर, लिहत्सु पर, जापान के सैकड़ों झेन फकीरों पर, ईसाई संतों पर, पाईथागोरस और हेराक्लाईट्स पर, ईसा मसीह पर, सूफी फकीरों की एक लंबी श्रृंखला पर ओशो ने बहुत सुन्दर प्रवचन मालाएं दीं। यहां पर उन्होंने सार तत्व को उजागर किया। अब जो व्यक्ति इस विस्तार में नहीं जाएगा, उसको लगेगा हद हो गयी पहले तो आप एक जगह इनकी मजाक उड़ा रहे थे, इनकी आलोचना कर रहे थे और छोड़ने योग्य बता रहे थे। अब आप एक सार्थक तत्व बता रहे हैं, ग्रहण करने योग्य।

क्या करो...जीवन में विष–अमृत का मिश्रण है, लाईफ इज वेरी कांप्लैक्स!

यहां कुछ चीजें पकड़ने जैसी, कुछ चीजें छोड़ने जैसी हैं। अशुद्ध सोने में सोना है, लेकिन बहुत कुछ खोट भी है। अगर लोग उसी को सोना मानते हैं तो फिर दो भिन्न वक्तव्य देने होंगे। हमें खोटे का विरोध करना होगा, कहना होगा कि यह सोना नहीं है। फिर हमें यह भी बताना होगा कि सोना भी है, दोनों चीजे हैं। समझो... इनमें विरोधाभास कुछ भी नहीं हैं।

आपकी बात बिल्कुल ठीक है। ओशो ने समस्त धर्मों की खूब मजाक उड़ाई, कठोर व्यंग, कटाक्ष किए, जैसे आज तक किसी ने नहीं किए थे। लेकिन वे थोथी बातों पर हैं, झूठे क्रियाकांडों पर हैं, वे पाखण्ड के ऊपर हैं। लेकिन केवल थोथा पाखण्ड ही नहीं है, वहां भीतर कुछ सोना, सच्चा खजाना भी छिपा है, उसे खोलने की चाबी भी उन्होंने दी और उसका महत्व समझाया। इस प्रकार से कहीं पर विपक्षी स्वर और कहीं पर पक्ष में स्वर सुनाई पड़ता है। मगर हमें बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए, जो कूड़ा–कचड़ा, अशुद्धि जमा हो गयी, उसका विरोध है। जो शुद्ध सोना है, उसका तो कोई कैसे विरोध करेगा?

ओशो सदैव ही सत्य के पक्ष में हैं, असत्य के विरोध में हैं। लेकिन चीजें मिश्रित हैं, शुद्ध सौ प्रतिशत सत्य कहीं नहीं है और न कहीं सौ प्रतिशत असत्य है। झूठ कितना ही हो, याद रखना, वह भी चलता है सत्य की दम पर। जैसे खोटा सिक्का या नकली रुपया इसलिए चलता है क्योंकि वास्तव में सच्चे सिक्के भी हैं और असली नोट भी हैं। नकली नोट भी असली की क्रेडिट पर, प्रतिष्ठा पर चलता है, धोखा दे पाता है। ठीक ऐसे ही अध्यात्म के जगत में जहां बहुत कुछ असली है, कहीं सैकड़ों गुना उससे ज्यादा नकली भी चल रहा है। नकली का विरोध और असली का सहयोग होना चाहिए। ओशो ने ठीक वैसा ही किया।

मा मोक्षा– कितने अद्भुत जौहरी, पारखी हैं ओशो कि हर धर्म के सार से हमें परिचित कराया और असार से मुक्त कराया गुरुदेव, अगला सवाल है: आजकल दो फिल्में प्रसिद्धि पाई हैं– 'ओ माई गॉड' और 'पीके'। इनके संदर्भ में आपका क्या कहना है?

वे भी जन मानस में अवेयरनैश क्रियेट कर रही हैं, क्या आज के युग में लोगों को सही दिशा दे रही हैं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– मैं प्रशंसा करना चाहूंगा इन दोनों फिल्मों की। इनकी कहानी बहुत कुछ ओशो की शिक्षा पर आधारित है। कथाकार और संवाद लेखक ने ओशो साहित्य से बहुत कुछ लिया है और कहानी जिस ढंग से प्रस्तुत की है वह निश्चित ही ह्रदय को छूने वाली है। धर्म के नाम पर जो पाखण्ड चल रहा था, उस पर कठोर प्रहार किया है, बिल्कुल ठीक... होना ही चाहिए! ताकि लोग चौंके, जागें कि क्या गलत चल रहा है? पंडित, पुरोहित, पादरी, मौलवी क्या कर रहे हैं, उसके प्रति सजग होना चाहिए ताकि हम उनसे बच सकें।

किंतु वास्तव में धर्म क्या है, इन दो फिल्मों में वह सार तत्व वे लोग उजागर नहीं कर पाए। शायद उनकी क्षमता के बाहर है वह सूक्ष्म मामला... उसको उजागर करना कठिन भी है। फिल्म में उसे दर्शा पाना मुश्किल है। मैं मानता हूं वह कठिन है लेकिन आगे इसी दिशा में और प्रयास होना चाहिए जिसमें सार तत्व भी उजागर किया जा सके।

धर्म के नाम पर जो पाखण्ड चल रहा है, उस पर कुठाराघात हो, अच्छा प्रहार हो लेकिन केवल झूठ ही नहीं है, असली भी कुछ चल रहा है, वह भी जनता के सामने लाया जाना चाहिए। आपने जिन दो फिल्मों के नाम लिए हैं, उन्हें इस दिशा में प्रथम प्रयास के रूप में, मैं उनकी तारीफ करता हूं। यहां हमारे आश्रम में, हमारे ध्यान मंदिर में, हमने इन दोनों फिल्मों को सब लोगों को दिखाया है। क्योंकि हमारे यहां हमेशा नये–नये लोग आते रहते हैं। हर सप्ताह लोग बदल जाते हैं, तो हमने विशेष निवेदन करके सबको एक रात ये फिल्में जरूर देखनी हैं। दोनों ही फिल्में श्रेष्ठ प्रयत्न हैं, फिर भी मैं कहूंगा, इनमें थोड़ी–सी कमी है, इन्होंने पाखण्ड तो उजागर किया, चलो एक काम तो बहुत सुन्दर किया, लेकिन धार्मिकता का जो सार तत्त्व है– उस भगवत्ता को सुस्पष्ट करने से चूक गए हैं। इस कड़ी में कोई और फिल्म निर्मित करे तो मैं आशा करता हूं कि दिव्य सार तत्त्व भी अच्छे से उजागर हो।

मा मोक्षा– हम आपसे ही निवेदन करते हैं कि उस सार तत्व की तरफ कुछ संकेत देने की कृपा करें।

ओशो शैलेन्द्र जी– वह सार तत्व हम दो हिस्सों में बांटकर समझ सकते हैं। एक को हम कह सकते हैं संकल्प का मार्ग, दूसरा समर्पण का मार्ग। पहले मार्ग में ध्यान, योग इत्यादि आते हैं और दूसरे में भक्ति, पूजा, प्रार्थना आदि आते हैं। तो एक है झूठी पूजा, थोथी पूजा लेकिन एक वास्तविक पूजा भी है। हमारे पास जो उपनिषद हैं, उनमें से एक अद्भुत उपनिषद है और उसका नाम है–'आत्म पूजा उपनिषद'। आस्था चैनल पर हमने करीब तीन महीने इसके सूत्रों की चर्चा की थी। तो वह वास्तविक उपासना है, वह झूठी अर्चना नहीं है। प्रार्थना के दो रूप हैं, एक प्रार्थना है– जिसको लोग समझते हैं मांगना, याचना, हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना, रोना, हे प्रभु ऐसा कर दे, हे प्रभु वैसा कर दे! सद्गुरु ओशो कहेंगे कि यह सच्ची प्रार्थना नहीं है। यह तो तुम भगवान से शिकायत कर रहे हो कि हे प्रभु! जो तुमने किया है वह गलत किया है। अब हम सलाह देते हैं कि हे भगवन! ऐसा कर दे और वैसा मत

कर। हम अस्तित्व को अपनी मर्जी के मुताबिक झुकाने की कोशिश करते हैं।

जगत में जो चल रहीं हैं, ये तो सच्ची प्रार्थनाएं नहीं हैं। इनमें मुख्य रूप से शिकायत है और सलाह है। अगर दुनिया की सारी प्रार्थनाओं का सार–निचोड़ निकालें तो वह क्या होगा? कभी आप मंदिर में, मस्जिद में, चर्च में बैठकर सुनना। गुरुद्वारे में लोगों से जाकर पूछना कि आज आपने मन ही मन क्या प्रार्थना की? किसी मज़ार पर जाकर देखना, लोगों की सुनना, पूछना, ज़रा उनका इंटरव्यू लेना कि आप क्या मांगने आए थे? आप हैरान होंगे कि सब का सार निचोड़ एक है; प्रार्थना= शिकायत + सलाह। अर्थात् हम प्रभु से नाराज हैं– तुमने जो किया है, वह गलत है। हम समझदार हैं, अरे! हमारी सलाह सुनो, कुछ ऐसा करो जो हम बता रहे हैं। इसमें कल्याण होगा, इसमें भला होगा। ये रहीं हमारी मांगों की सूची!

क्या ऐसी प्रार्थना करने वाले लोगों को हम आस्तिक कह सकते हैं? इनको तो भगवान पर बिल्कुल भी भरोसा नहीं है। ये तो भगवान से राजी भी नहीं हैं। ये तो अपनी नाराजगी प्रगट कर रहे हैं। मैंने तो यहां तक सुना है कि लोग धमकी भी दे आते हैं कि भगवान, मेरी इच्छा इतने दिन में पूरी नहीं हुई तो फिर मैं पूजा बंद कर दूंगा। लोग गुस्से में धर्म भी बदल लेते हैं, उनकी इच्छा जो पूरी नहीं हुई! किसी और ने लोभ दे दिया कि हमारे धर्म में आ जाओ, यहां कामनापूर्ति हो जाएगी। वहां चले जाएंगे। उन्हें धर्म अथवा भगवान से क्या लेना–देना? वे वासना ग्रस्त हैं, लोभी हैं; उन्हें अपनी इच्छाओं से मतलब है.... बस!

नेपाल में काठमांडू से चितवन जाते हुए मार्ग में एक जगह पड़ती है, जहां प्रायः ट्रैफिक जाम मिलता है। हजारों कारें वहां खड़ी दिखती हैं। मैंने पूछा कि यहां क्या है? हमेशा ही भीड़ क्यों लगी रहती है? पता चला कि वहां मनोकामनापूर्ति देवी का मंदिर है।

क्या ये धार्मिक लोग हैं? अस्तिक लोग हैं? ये तो शुद्ध सांसारिक मटेरियलिस्टिक एटिट्यूड वाले लोग हैं। किसी को धन चाहिए, नौकरी चाहिए, किसी को प्रमोशन चाहिए, किसी को बेटा चाहिए। कोई कह रहा है कि बेटी का विवाह हो जाए, कोई कह रहा है कि बेटा उच्च शिक्षा प्राप्त करने अमेरिका चला जाए। अगर तुम इनकी प्रार्थनाएं सुनो तो उसमें कहीं धर्म का नामो–निशान नजर नहीं आएगा। ये तो शुद्ध भौतिकवादी चीजें मांग रहे हैं। इसमें अध्यात्म कहां है? तो इस प्रकार की प्रार्थना का तो विरोध होना चाहिए। इसके पाखण्ड को उजागर किया जाना चाहिए।

लेकिन वास्तविक प्रार्थना भी होती है, ओशो कहते हैं कि वह धन्यवाद का भाव है। हम राजी हैं प्रभु की रजा में, उसने जो किया हमें स्वीकार है। पूर्ण तथाताभाव में हम खुश हैं। यह राजीपन ऐसा नहीं कि लाचारी और मजबूरी वाला कि क्या करें, हे भगवान! जो तूने किया वह ठीक। ऐसा वाला नहीं, हम नाच रहे हैं, हम गीत गा रहे हैं प्रसन्न होकर! प्रभु जैसा चाहता है, वैसा ही हो। अगर मुझे इसमें कुछ गलत दिखता है तो वह मेरी दृष्टि का दोष होगा। मैं अपना नजरिया सुधारूं। परमात्मा जो कर रहा है वह ठीक ही कर रहा है। मैं उसकी रजा में राजी हूं और मैं शुक्रिया अदा करने आया हूं। और 'धन्यवाद' सिर्फ शब्द से नहीं होगा,

बेचारा शब्द तो बड़ा ओछा है। अनुग्रह का भाव पूरे जीवन से प्रगट हो। मैं खुशी से जी रहा हूं, आनंद–उत्सव मना रहा हूं– यह प्रमाण होगा धन्यवाद का, अहोभाव का।

इस तरह ओशो ने प्रार्थना का अर्थ ही पलट दिया। कहां याचना और मांगना था कि हमें कुछ चाहिए! और अब धन्यवाद देना... मांगने का सवाल ही नहीं। प्रभु ने इतना दिया है! हद हो गयी भिखमंगेपन की, हम और मांग रहे हैं। जो दिया उसके लिए धन्यवाद भी नहीं दे रहे हैं। तो धन्यवाद, अनुग्रह, अहोभाव, यह है असली प्रार्थना।

कहानी में दोनों ही बातें उजागर होनी चाहिए। अवश्य दिखाएं फिल्म कथानक के माध्यम से कि झूठी प्रार्थना क्या है। और सच्ची प्रार्थना क्या है, वह भी दिखाएं। धर्म के सारतत्त्व के उदाहरण भी प्रस्तुत करें। ठीक इसी प्रकार झूठी भक्ति और सच्ची भक्ति में विभाजन बताया जाए। प्राचीन शब्दावली में जिसे गौणी भक्ति और पराभक्ति कहते हैं।

गौणी भक्ति बच्चों का खेल है, छोटे बच्चे छोटे–छोटे खिलौनों से खेलते हैं– सस्ते, रबर, प्लास्टिक या कपड़े के बने गुड्डा–गुड़िया। फिर यही लोग जब प्रौढ़ हो जाते हैं; शरीर तो बड़ा हो जाता है पर मन वही बचकाना बना रहता है। ये अप्रौढ़ लोग देवी–देवता बना लेते हैं, ईष्ट बना लेते हैं, भगवानों की मूर्तियां बना लेते हैं। अब वे अमीर हो गए हैं, धन है उनके पास। अब ज़रा संगमरमर के या सोने चांदी के भगवान निर्मित कर लिए हैं, कीमती हीरे जवाहरात जड़े हैं। लेकिन हैं तो वही खेल–खिलौने; ये गौणी भक्ति है। इसके पीछे छिपी जो चाईल्डिश मेंटेलिटी है, बचकानी मानसिकता है वह उजागर की जाए और बताया जाए कि इसका अध्यात्म से कोई लेना–देना नहीं है। फिर वास्तविक अध्यात्म क्या है वह भी बताया जाए कि अपने भीतर के निराकार में, अरूप चैतन्य में डूबना; वह सच्चा धर्म है। अपनी चेतना को जानना– आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, कैवल्य ज्ञान, निर्वाण ज्ञान; यह है धर्म का सार।

शास्त्रों–ग्रंथों का किताबी ज्ञान, सिर्फ जानकारी है, इंफॉरमेशन है, इट इज नॉट विज्डम। इसको पढ़कर तुम तोता बन सकते हो, पूरी गीता भी कंठस्थ कर लो, उससे तुम कृष्ण नहीं बन जाओगे। वह कृष्णत्व तुम्हारे भीतर कैसे आए? बुद्ध के हजारों धर्मग्रंथ हैं, उनको पढ़कर बुद्ध नहीं बना कोई। बहुतेरे लोग 'पंडित तोताराम' जरूर बन गये। आज की भाषा में कहना चाहिए– कैसेट बन गए, सीडी या हार्ड–डिस्क बन गए।

इस महापंडित यानी हार्ड–डिस्क की क्या कीमत है? हजारों बौद्ध ग्रंथ एक छोटी सी सीडी में समा जाते हैं। और अच्छी से अच्छी क्वालिटी की जापानी 'सोनी' कंपनी की सीडी थोक में सात रुपए में मिलती है। अगर आपने बुद्ध का सारा साहित्य, पूरी जिंदगी लगाकर पढ़ लिया, रट भी लिया तो आपकी कीमत सात रुपए से ज्यादा नहीं हुई। इसके पीछे आपने पूरी जिंदगी गंवा दी, किसलिए?

क्या उस सीडी को बुद्धत्व प्राप्त हो जाएगा जिसमें बुद्ध के सारे ग्रंथ समाए हुए हैं? सीड़ी बस सीडी है। ठीक ऐसे ही ब्रेन में हमारी मेमोरी सिस्टम है, वह नेचुरल सीडी है। अगर हमने वहां पर संग्रह कर लिये खूब सारे विचार, ढेर सारे सिद्धांत, अनेकानेक शास्त्र; भीतर

पूरी एक लाईब्रेरी खुल गयी। भगवान बुद्ध ने उसके लिए बहुत अच्छा नाम दिया था स्टोर हाउस आफ दि मेमोरी, स्मृति–आलय, याददाश्त का एक भंडार। पूरी आलमारी वहां भर गयीं, तो इससे क्या हो जाएगा?

वस्तुतः सवाल यह है कि बुद्ध में जैसी प्रखर चेतना थी, वैसे चेतना हमारे भीतर जन्मे। मीरा के भीतर जैसा संवेदनशील, प्रेमल, उत्सवपूर्ण हृदय है; वैसा भावजगत हमारे हृदय के भीतर विकसित हो। मीरा के गीत गाने से हम मीरा नहीं हो जाएंगे। मीरा के भजन गाने वाले तो हजारों हैं दुनिया में, क्या उनमें से कोई भी मीरा बना? यह नामुमकिन है।

अतः जो चीज आलोचनीय है, उसकी आलोचना की जानी चाहिए। लेकिन वहीं पर फिल्म खत्म नहीं हो जानी चाहिए, उसके आगे भी कुछ है। उस साधना की तरफ भी इशारा होना चाहिए।

वास्तविक भक्ति कैसे होती है? वास्तविक ध्यान कैसे घटित होता है? बुद्ध ने कैसे पाया? बुद्ध और महावीर को जब ज्ञान की लालसा हुई तो क्या वे किसी पुस्तकालय में गए? पुस्तकालयों की कमी नहीं थी। वे राजकुमार थे, उनके महल में ही बड़े–बड़े ग्रंथालय रहे होंगे। क्या किसी पंडित–पुरोहित के पास गए? क्या किसी मंदिर या शिवालय में गए? किन्हीं विद्वानों के चरणों में जाकर बैठे? नहीं।

क्या किया उन्होंने? एकांत और मौन जंगल में जाकर अपने भीतर डुबकी लगायी। तो अगर बुद्ध के जीवन से, महावीर के जीवन से सीखकर करना ही है कुछ, तो अपने भीतर अंतर्यात्रा करना सीखो। ग्रंथ–अध्ययन से यह नहीं हो सकता। स्वयं बुद्ध ने ऐसा नहीं किया, महावीर ने ऐसा नहीं किया। तुम ऐसा क्यों कर रहे हो? जागो, चेतो।

मेरी दृष्टि में कहानी के दो हिस्से होने चाहिए। निश्चित ही 90 प्रतिशत तो यही दिखाएं कि क्या–क्या गलत चल रहा है अध्यात्म के नाम पर। और अंत में दस प्रतिशत कथा में यह भी दिखाएं कि वास्तविक अध्यात्म में, भीतर के दिव्य अनुभव कैसे घटित हो सकते हैं? उसका मार्ग भी सुझाएं ताकि पूरी बात हो जाए। वरना अधूरी बात से ऐसा लगता है कि जैसे धर्म के नाम पर जो कुछ चल रहा है, सभी कुछ गलत है। नहीं, 100 परसेंट गलत नहीं है। 90 प्रतिशत गलत होगा, लेकिन 10 प्रतिशत सत्य भी है। उस हीरे को चमकाएं और धूल–धमास को झाड़ें।

कार्ल मार्क्स का वचन है कि धर्म अफीम का नशा है। मैं उससे 90 प्रतिशत राजी हूं। मगर याद रहे, अधूरे सत्य अक्सर पूरे असत्य से भी अधिक खतरनाक साबित होते हैं। मार्क्स के प्रभाव में करीब आधी दुनिया साम्यवाद की शिकार बन गई। फिर 70–80 सालों में क्या हुआ, आप भलीभांति जानते हैं। अतः पूर्ण सत्य प्रगट करना चाहिए। धर्म के असली नकली दोनों रूपों से जग परिचित हो सके, ऐसी फिल्म निर्मित हों। वही हितकारी होंगी।

मा ओशो मोक्षा– गुरुदेव, धन्यवाद।

प्रिय मित्रो, शुभ रात्रि। जय ओशो।

संन्यासी की नई परिभाषा

मा ओशो मोक्षा– कल झोरबा दि बुद्धा के संबंध में चर्चा हुई। यह अनूठा समन्वय कैसे संभव है? इसकी व्यावहारिकता एवं ऐतिहासिकता पर थोड़ी और रोशनी डालिए।

स्वामी शैलेन्द्र जी– झोरबा दि बुद्धा का समन्वय– ओशो ने स्वयं यह करके दिखा दिया। उन्होंने त्याग नहीं किया, वे जंगल नहीं भागे, पर्वत और गुफाओं में जाकर नहीं छिपे। उन्होंने तो यहीं संसार में रहते हुए अपना काम–धाम करते हुए पढ़ाई–लिखाई की,

नौकरी की, परिवार की सारी जिम्मेदारियों को निभाया। वे तो कभी किसी दायित्व को छोड़कर नहीं भागे और उन्होंने परम बुद्धत्व को हासिल किया और जो उनके जीवन में घटा, वही वे चाहते हैं कि सबके जीवन में हो। इसलिए 'झोरबा दि बुद्धा' का प्रतीक चुना।

इस संबंध में एक बात और कहना चाहूंगा। ओशो के पहले भी यह प्रयोग किया गया है, लेकिन छोटे पैमाने पर। अगर हम अतीत के संतों का जीवन देखें तो संत कबीर के साथ अचानक एक क्रांतिकारी मोड़ आता है। उन्हें हम ऐसा प्रथम व्यक्ति कह सकते हैं, जो गृहस्थ रहते हुए, अपना काम–काज करते हुए, कपड़ा बुनकर बाजार में बेचते हुए, अपनी पत्नी, बच्चों के संग रहते हुए, माता–पिता की सेवा करते हुए अपना जीवन बिताया। उन्होंने भीतर वही परमानंद पाया जो बुद्ध ने, महावीर ने, शंकराचार्य ने पाया था। कोई भेद नहीं है।

धर्म के जगत में कबीर एक क्रांतिकारी मोड़ लाए– वे पायोनियर हैं। हम सोच सकते हैं कि उस जमाने में कबीर को कितनी आलोचना सुननी पड़ी होगी? आज से छः–सात सौ साल पहले और वह भी पण्डितों के नगर काशी में, जहां सारे पुराण पंथी तथा वेदपाठी रहते हैं। वहां पर उस गृहस्थ आदमी ने, जिसकी जात–पांत का ठिकाना नहीं, माता–पिता कौन हैं, यह भी पक्का पता नहीं। हिन्दु हैं कि मुसलमान यह भी निश्चत नहीं और उसने ब्रह्म ज्ञान पा लिया! अपूर्व, अनुपम घटना घटी। शाम बाजार में कपड़ा बेचने जाता है। दिन भर कपड़े बुनता है। और यह जुलाहा कहता है कि इसे मेरा काम न समझो, यही मेरी पूजा है। वर्क हैज बिकम वर्शिप। पूरी जिंदगी अर्चना हो गई।

इसलिए कबीर मंदिर–मस्जिद नहीं जाते, घर में ही उपासना कर रहे हैं– अपना और अपने परिवार वालों का प्रेमपूर्वक भरण–पोषण कर रहे हैं। अब पत्थर की मूर्ति को जाकर क्या भोग लगाना? जीवित देवी–देवताओं के लिए भोजन का इंतजाम कर रहे हैं। इससे बड़ी अराधना और उपासना भला क्या होगी? साधारण कर्म ध्यानपूर्ण होकर महिमामय हो गए। कबीर के साथ एक रिवोल्यूशनरी टर्निंग पाईंट आया, नई दृष्टि खुली।

फिर इतिहास में गुरु नानक देव जी दूसरे उदाहरण हैं। वे अपनी घर–गृहस्थी में रहे, शादीशुदा थे, बच्चे भी थे। संसार में जैसा जीवन जीना चाहिए था, उन्होंने वैसा जीवन जिया। खेती–बाड़ी करते, नौकरी भी की, और साथ–साथ भक्तिभाव में डूबते गए। आनंद मग्न कर्म करते गाते–गुनगुनाते उन्होंने परमात्मा को जान लिया। स्वयं ही प्रभुमय हो गए। मकान, परिवार छोड़कर नहीं भागे, पत्नी का त्याग नहीं किया, माता–पिता को छोड़कर नहीं गए। बच्चों के लिए सब इंतजाम करते रहे जैसा कि एक पिता का दायित्व होता है।

कबीर साहब के बाद गुरु नानक देव जी, और उनके बाद सिक्ख परंपरा चली दस गुरु साहिबानों की। फिर तो बात यहां तक आ गई कि संन्यासी को सैनिक का रोल भी निभाना पड़ा। जब मजबूरियां खड़ी हो गयीं तो तलवार भी उठानी पड़ी। क्या करोगे यह समाज, यह जीवन बड़ा जटिल है। कई बार लड़ना पड़ेगा। अहिंसा के सिद्धांत को पकड़ कर नहीं जी सकते। कभी–कभी तलवार भी चलानी होगी आत्म रक्षा के लिए। यह भी दायित्व होता है, एक बिल्कुल नए प्रकार का संन्यासी निर्मित हुआ, जो कि पहले अकल्पनीय था।

ऐसा समझो कि इसके एक हाथ में गौतम बुद्ध की तरह दीपक है, आत्म ज्ञान का दीया जल रहा है और दूसरे हाथ में तलवार भी चमक रही है। दोनों ही गुणवत्ताएं चाहिए। दोनों की जरूरत है। सिक्ख गुरुओं के बाद फिर रामकृष्ण परमहंस को देखें; शादीशुदा व्यक्ति, एक मंदिर में पंडित की नौकरी ज़िन्दगी भर करते रहे। हां अन्य पंडितों की तरह क्रियाकांड नहीं किए। उनकी पूजा, उनकी प्रार्थना सच्ची है। उन्होंने परम तत्त्व को जान लिया। किसी को छोड़कर भागे नहीं। जो करने योग्य था, वह करते रहे, जगत से पलायन नहीं किया।

इन उदाहरणों से पता चलता है कि पिछले सात सौ सालों में कुछ नयी चीज़ शुरू हुई। यद्यपि बहुत तर्कसंगत रूप से इसे सुस्पष्ट नहीं किया गया कि नवीनता क्या है। आपको जानकर हैरानी होगी कि गुरु ग्रंथ साहब ने केवल उन्हीं संतों के वचन संग्रहीत किए हैं जो त्यागी नहीं थे। जो सामान्य अर्थों में संन्यासी नहीं थे। उन अद्‌भुत नए प्रकार के लोगों के, केवल उन्हीं के वचन संकलित किए हैं। हालांकि इस बीच में और भी बहुत संत हुए हैं, लेकिन जो त्यागी, तपस्वी थे उनके वचन गुरु ग्रंथ साहब में नहीं लिए गए, जान–बूझकर उनको छोड़ दिया गया है। इस तरह कुछ अनूठा सा सिलसिला चल रहा था। सद्‌गुरु ओशो के आते–आते एक लॉजिकल कनक्लूजन, एक तार्किक निष्पत्ति पर बात पहुंच गयी।

मा मोक्षा– वह प्रक्रिया अपने उत्कर्ष पर आ गई!

स्वामी शैलेन्द्र जी– हाँ, झोरबा दी बुद्धा उसका उत्कर्ष है। 'नव संन्यास आंदोलन' सद्‌गुरु ओशो की अनुपम भेंट है जगत के लिए। इसमें ऐतिहासिक रूप से जो कंट्रीब्यूशन देने वाले लोग हैं, उनके नाम भी मैंने उल्लेख किये।

मा मोक्षा– हम एक बात और जानना चाहेंगे कि ओशो ने अपने नव–संन्यासी की परिभाषा बड़ी अद्‌भुत दी है– मेरे संन्यासी की जाति उत्सव है, और उसका गोत्र आनंद है।

इसे कुछ और स्पष्ट करना चाहेंगे आप?

ओशो शैलेन्द्र जी– अवश्य। बंगाल के संत चंडीदास का बड़ा प्यारा वचन है 'उत्सव आमार जाति, आनन्द आमार गोत्र।' अभी थोड़े दिन पहले हम बात कर रहे थे कि भगवानों की जरूरत नहीं, अब भगवत्ता चाहिए। धर्मों की आवश्यकता नहीं, अब धार्मिकता की जरूरत है। ठीक उसी प्रकार जात–पांत के कुरूप लेबल भी हटने चाहिए। संन्यासी की एक ही पहचान होनी चाहिए कि वह उत्सवमय है, आनन्दमग्न है। उसका जीवन खुशी से, उल्लास से, उमंग से भरा है। पुराना संन्यासी उदास था, नव संन्यासी उत्सवपूर्ण होना चाहिए।

'उत्सव आमार जाति, आनन्द आमार गोत्र।' वे जो गोत्र परम्पराएं चलती आ रही हैं, जाति–पांति से संबंधित कि हम फलाने गोत्र के हैं कि वे ढिकाने गोत्र के हैं। उन्हें भूलो। संन्यासी से जब कोई पूछे कि तुम्हारा गोत्र क्या है? तो उसे कहना चाहिए कि परमानन्द, सच्चिदानंद मेरा गोत्र है। ओशो ने चंडीदास के वचन को अपने संन्यासियों के लिए कहा कि यही तुम्हारी परिभाषा हो। 'उत्सव आमार जाति, आनन्द आमार गोत्र।' अत्यंत मधुर, सार्थक आइडेंटिफिकेशन! इस नए पहचान प्त्रसे तादात्म्य बनाओ। वाह!!

मा मोक्षा– उत्सव अगर धर्म में आ जाए तो उसकी सिंसेरिटि और उसकी सीरियसनेस खत्म नहीं हो जाएगी?

स्वामी शैलेन्द्र जी– सीरियसनेस तो निश्चित ही खत्म होनी चाहिए। सिंसेरिटि खत्म नहीं होगी। इन दोनों शब्दों को एक साथ मत बोलो। सिंसेरिटि और सीरियसनेस बिल्कुल अलग–अलग बातें हैं। सिंसेरिटि का मतलब है– निष्ठावान होना और सीरियसनेस का मतलब है– उदास, गंभीर होना। गम्भीरता की क्या अनिवार्यता है? हंसता, नाचता, गाता धर्म– भगवान कृष्ण की तरह मुरली बजा सके, मीरा के समान नाच सके, चैतन्य महाप्रभु की तरह ढफली बजाकर कीर्तन कर सके– 'हरि बोलो हरि बोल'। रामकृष्ण परमहंस की तरह पूजा कर सके। एक मुस्काता, गुनगुनाता धर्म चाहिए। उदासी की तो कहीं कोई जरूरत नहीं। उदासी तो एक प्रकार का मनोरोग है– डिप्रेशन का लक्षण है। इस परिभाषा के हिसाब से तो हमारे बहुत से तथाकथित साधु, महात्मा, मुनिगण इत्यादि मेंटली सिक, मानसिक बीमारों की कोटि में गिने जाएंगे।

मा मोक्षा– ओशो ने अपनी ध्यान विधियों के साथ हास्य जोड़ा, गायन व नर्तन को भी जोड़ा। पुरानी धारणाओं के मुताबिक ये सब यान के साथ कैसे जुड़ सकते हैं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– जब मीरा नाच रही थीं, तब भी ऑब्जेक्शन उठाया गया होगा कि यह धार्मिक महिला कैसे नाच रही है? जब चैतन्य महाप्रभु खंजरी बजाकर दीवाने होकर झूमते और उनके साथ मस्तों की भीड़ कीर्तन गाती थी, तब भी यही सवाल उठाया होगा, आलोचना की होगी। जब गुरु नानक देव जी गीत गाते और साथ में उनके दो मित्र, बाला और मर्दाना वाद्य यंत्र बजाते चलते थे, तब भी गंभीर लोगों ने बड़े कटाक्ष किए होंगे कि ये कैसा महात्मा– नाचता, गाता, ढोल बजाता? ढोंगी!

ऐसे ही प्रफुल्लित लोग जगत में चाहिए। क्या तुम चाहोगे कि पद्मासन में हाथ पे हाथ धरे बैठे, या शीर्षासन करते, तीसरे नेत्र पर ध्यान साधे हुए गंभीर योगी, सीरियस लोग चाहिए दुनिया में? नहीं; बहुत हो गया, वे समाप्त होने चाहिए। हंसते–खेलते छोटे बच्चों की तरह निर्दोष और सरल–सहज लोगों से भर जाए तो यह धरती स्वर्ग बन जाए।

मा मोक्षा– प्यारे दर्शको, 'हंसता, नाचता, गाता धर्म' इस श्रृंखला में आगामी एपिसोड में चर्चा जारी रहेगी। सबके लिए एक खुला आह्वान है इस उत्सवमय जीवन में प्रवेश के लिए। प्रसन्नतापूर्ण जीवन–शैली की ओर अग्रसर हों।

कुछ त्यागना ही है तो अपनी गम्भीरता त्यागें।

निष्ठापूर्ण, आनंदमयी, धार्मिकता की नई जीवन शैली अपनाने हेतु आपका स्वागत है– समाधि शिविर में शामिल होने के लिए।

धन्यवाद। जय ओशो।

लॉफ्टर इस माय मैसेज

मा मोक्षा— 'उत्सव आमार जाति, आनन्द आमार गोत्र'— ओशो ने अपने संन्यासी की यह परिभाषा दी। इस विषय पर कई शंकाएं दर्शकों ने भेजी हैं। आज उनकी चर्चा करेंगे।

सद्गुरु, आपने पिछले एपीसोड में बताया था कि सिंसेरिटि और सीरियसनेस दो अलग-अलग शब्द हैं, पर्यायवाची नहीं। तत्संबंध में आज एक प्रश्न आया है कि ओशो कहते हैं कि लॉफ्टर इस माई मैसेज, अर्थात् हंसी ही मेरा संदेश है। यह कैसी धार्मिक शिक्षा है?

स्वामी शैलेन्द्र— हां, धार्मिक लोग हमेशा से उदास रहे हैं, सीरियस रहे हैं, बहुत गंभीर रहे हैं। इसलिए सवाल उठता है कि जहां हास्य हो, प्रसन्नता हो, आह्लाद हो, नृत्य व गान हो, वहां हमें संदेह उठता है कि शायद यह धार्मिक नहीं, सांसारिक स्थान है। जबकि बात उल्टी है, संसारी व्यक्ति अहंकार और दुःखों में जी रहा है। वह महत्त्वकांक्षाओं में जीता है, ऊंची-ऊंची कामनाएं करता है और बारंबार विफल होकर निराशा होता है। आध्यात्मिक

व्यक्ति जो महत्त्वकांक्षा रहित हो गया, वह तो सब भांति शांत और आनन्दित हो गया। ऋषि परमात्मा की परिभाषा करते हैं, परमानन्द, सत्-चित्-आनंद, सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् तो उस महासौंदर्य को जीने वाला, परमानन्द रसपान करने वाला व्यक्ति हंसेगा नहीं? उसके जीवन में तो सब तरफ खुशी होगी। इसे हम चार हिस्सों में बांटकर समझ लें।

पहले भी चर्चा हुई थी शारीरिक, मानसिक, हार्दिक और आत्मिक तल की। भीतरी अर्थात् आत्मिक तल पर जो परमानंद, परमशांति, महासुख या शाश्वत सुख है; बाहरी अर्थात् हृदय, मन एवं तन के तल पर भी वही छलकता है। हृदय के तल पर वह आह्लाद बनकर, खुशी, उमंग, उत्साह बनकर आता है। मन के तल पर वह प्रसन्नता के रूप में प्रगट होता है। शरीर के तल पर हंसी, मुस्कुराहट व अट्हास भी बन जाता है। क्यों न शांत व्यक्ति इन सारी पॉजिटिविटीज़ में जिए! जिसने अपने भीतर आनन्द को पा लिया, निश्चित रूप से उसके चेहरे पर मुस्कान होगी, मन में प्रसन्नता होगी। उसके हृदय में आह्लाद, उत्साह और आनन्द होना ही चाहिए। ये प्रमाण हैं कि भीतर आनन्द घटित हुआ है। प्रभु अवतरित हुआ है।

तथाकथित साधुओं व योगियों के चित्र देखें, उनके वर्णन पढ़ें, लगता है कि वे बहुत ही गंभीर किस्म के थे। एक किताब छपी थी- जीसस नेवर लॉफ्ड, ईसा मसीह कभी हंसे ही नहीं। मैं नहीं मानता कि यह तथ्य होगा। अवश्य यह बात झूठ होनी चाहिए। जिस व्यक्ति के जीवन में इतना प्रेम है, क्षमा का भाव है, जो प्रार्थना और अहोभाव में सदा जी रहा है, उसके जीवन में हंसी अवश्य होगी। शायद जिन्होंने पुस्तक लिखी है, उनकी समझने में, उनकी व्याख्या में कहीं भूल हो गयी। इतिहास हमेशा से गंभीर लोगों को धार्मिक मानता रहा है।

ओशो ने एक मजेदार चुटकुला सुनाया है। समस्त जानवरों में गधा बहुत गंभीर दिखाई देता है। तुम जानते हो कि 'गधा' शब्द कैसे बना? वह शार्ट फार्म है गंभीर धार्मिकता का- गंभीर का 'ग' और धार्मिक का 'धा'। इसी तरह अंग्रेजी में गधा के लिए शब्द है 'ऐस'। उसके फुल फार्म 'ए.एस.एस.' का मतलब भी यही है 'ए सीरियस स्प्रिचुलिस्ट।'

निश्चित रूप से अतीत के लोग बहुत गंभीर रहे हैं। जैसा कि मैंने कहा- ओशो ने केवल विचारिक क्रांति नहीं, बल्कि आध्यात्मिक क्रांति भी की। यह आयाम भी उस क्रांति का हिस्सा है। उन्होंने कहा कि जिस धार्मिक साधक ने आंतरिक आनन्द को अनुभव किया, परमात्मा को जाना, उसके जीवन के हर तल पर खुशी होगी। एक सकारात्मक भावना होगी। वह उदास क्यों होगा? वह खिन्न क्यों होगा? वह क्यों विषाद और निराशा में जिएगा? उसके चेहरे पर मुस्कान होगी, प्रसन्नता होगी। निश्चित रूप से वह हंसेगा, बोलेगा, गायेगा, नाचेगा, झूमेगा। उसका संपूर्ण व्यक्तित्व फूल की भांति खिला होगा।

यही सवाल पहले भी उठा, जब मीराबाई नाचीं। उनके परिवार के लोग क्यों विरोधी हो गए? यही संदेह जगा कि यह कैसा धर्म है? अरे, घर के भीतर उदास बैठो, तो समझ में आता है कि तुम धार्मिक हो। खुली सड़क पर आकर नृत्य कर रही हो लोक-लाज खोकर, यह कैसा धर्म? चैतन्य महाप्रभु के ऊपर भी यही आरोप लगा जब वे भक्त हो गए। जब वे

नाचने लगे, कीर्तन करने लगे, ढफली बजाकर गाने लगे– हरि बोलो, हरि बोल। लोग बहुत चिंतित हुए, क्योंकि सदा से उनको एक गंभीर दार्शनिक के रूप में जाना था। वे कुशल पण्डित थे, शास्त्रों के ज्ञाता थे– महाविद्वान्। वे बड़े तार्किक थे और अचानक उनके जीवन में परिवर्तन हुआ। जब परमात्मा अवतरित हुआ, परमानंद उनके भीतर आ बसा, तब नाचने लगे, गाने लगे, झूमने लगे। बौद्धिकता एवं विद्वता छोड़कर भजन–भाव में डूब गए।

गुरु नानकदेव जी के बारे में तो आप जानते ही हैं। सद्गुरु ओशो कहते हैं कि उनका मार्ग गीतों से पटा पड़ा है। उन्होंने केवल गा–गाकर ही परमात्मा को पाया। उन्होंने योग नहीं किया, ध्यान नहीं किया, कोई तांत्रिक साधना नहीं की। कोई आसन, प्राणायाम नहीं किए, हठयोग नहीं साधा। ज्ञानयोग, सांख्ययोग इत्यादि किसी में भी उन्होंने रस नहीं लिया। उन्होंने केवल गाया, तल्लीनता के साथ गाया और गाते–गाते परमात्मा को पा लिया। परमात्मा को पाने के पश्चात् भी उन्होंने बाला और मर्दाना को अपने साथ रखा जो वाद्य बजाते थे। गुरु नानकदेव जी गाते, उनके साथी संगीत बजाते। उनका जीवन निश्चित रूप से आनंदमग्न, उत्सवपूर्ण, हास्य और मुस्कान से ओत–प्रोत है।

हम जिन धर्मपुरुषों को जानते हैं, उनके जीवन को हम गौर से देखें तो हम पाएंगे कि उनके जीवन में हंसी–मज़ाक है। भगवान कृष्ण को देखें– वे ज़रा भी सीरियस नहीं हैं। ओशो कहते हैं कि सीरियसनेस इज ए स्प्रिचुअल डीसीज। गंभीरता एक आध्यात्मिक रोग है। बड़े से बड़ी आध्यात्मिक व्याधि है और उसकी औषधि है– ध्यान, समाधि, संबोधि।

मा मोक्षा– जिस ध्यान रूपी औषधि की आप बात कर रहे हैं, सुना है कि ओशो ने उसमें बहुत सारे नए तत्व जोड़े। जैसे– रेचन या कैथार्सिस। इसकी वजह के बारे में कुछ बताएं।

ओशो शैलेन्द्र– हां, अवश्य बताउंगा। पहले यह ख्याल में रख लें कि पुराने जमाने में जब शिक्षा का प्रचार–प्रसार नहीं था, लोगों के मन में विचारों का संग्रह भी अधिक नहीं था, स्मृति इतनी भारी भरकम और गंभीर नहीं थी, तब ध्यान बहुत आसान था। भगवान बुद्ध ने कहा कि अपनी आती–जाती श्वास के प्रति जागरुक हो जाओ और तुम साक्षी में प्रवेश कर जाओगे। यह बात बिल्कुल सुगम थी उस जमाने में।

मनोवैज्ञानिकों के एक अध्ययन का निष्कर्ष है कि आज से छः सौ वर्ष पूर्व एक औसत व्यक्ति को जितनी सूचनाएं मिलती थीं, जितनी इन्फरमेशंस मिलती थीं, आज महानगर में रहने वाले सुशिक्षित व्यक्ति को उससे छः सौ गुनी ज्यादा सूचनाएं रोज मिलती हैं। कम्युनिकेशन एवं यातायात के साधन बढ़ गए हैं। पृथ्वी सिकुड कर एक ग्लोबल विलेज हो गयी है, सारी दुनिया की खबरें हरेक को मिल रही हैं। पहले ज्यादा से ज्यादा अपने गांव का पता था, आस–पास के एक–दो गांव की खबर रहती थी और तो कुछ पता ही नहीं चलता था। आज विज्ञान की उन्नति के साथ मनुष्य को इतनी जानकारियां मिल रही हैं कि मन उनको झेलने में सक्षम नहीं है। एक तो वजह यह है कि बेचैन करने वाले विचारों के इस अतिशय बोझ को निष्कासित करना होगा, तभी हम शांत हो पाएंगे और साक्षी हो पाएंगे।

दूसरी बात, जैसे–जैसे सभ्यता का विकास हुआ, इसके साथ बहुत–सी भावनाओं का दमन सिखाया गया। संस्कृति का मतलब ही है– प्रकृति का दमन। समझो, एक व्यक्ति को क्रोध आ रहा है, किंतु वह अपने क्रोध को व्यक्त नहीं कर सकता। समाज की मर्यादाएं हैं, नीति नियम हैं, नैतिकता का ख्याल रखना होगा। वह एक ऑफिस में काम करता है, अगर वहां नाराजगी प्रकट कर देगा, जैसी कि उसके भीतर से आ रही है, उसकी नौकरी छूट जाएगी। अगर बॉस ने उसको डांटा और उसने भी गुस्से में दो जूते मारे और गालियां दीं... यद्यपि यह बिल्कुल प्राकृतिक है, उसका मन तो ऐसे ही करने को कह रहा था; किन्तु अगर वह ऐसा करेगा तो आज ही वह नौकरी से निलंबित हो जाएगा, ट्रांसफर कर दिया जाएगा, या प्रमोशन रोक दिया जाएगा, उसकी आजीविका मुश्किल में पड़ जाएगी।

मजबूरी में वह ऐसा नहीं कर सकता। ऊपर–ऊपर से वह **'यैस सर–यैस सर'** कहेगा और भीतर से आग बबूला हो रहा है।

यह गुस्सा जाएगा कहां? भीतर दबेगा। दमन का मतलब है सप्रेशन, भीतर छिपा लिया। दिन भर बहुत–सी नकारात्मक भावनाएं हम दबाते जा रहे हैं, उनको प्रगट नहीं कर सकते। समाज उसका मौका नहीं देता। लेकिन जब हम ध्यान में शांत होने की कोशिश करेंगे, साक्षी बनने की कोशिश करेंगे तो ये नकारात्मक भावनाएं हमारे आड़े आएंगी।

तो दो बातें समझ लीजिए– मन के तल पर ढेर से विचारों का संग्रह है। स्मृति बहुत ज्यादा हो गयी है और हृदय के तल पर भावनाओं का दमन है। फिर इनके साथ–साथ शरीर के तल पर भी कई मुश्किलें खड़ी हो गयी हैं। ये जो दमित भावनाएं हैं, विचार हैं, जो निकलना चाह रहे थे, मगर नहीं निकल पाए। वे आधे–अधूरे अटक गए, पेंडिंग रह गए।

शरीर में भी भावनाएं रुकी हुई हैं, दमित हैं। उदाहरण के लिए, गुस्से में जानवर क्या करते हैं? अपने दांतों का और नाखूनों का उपयोग करते हैं। इंसान के भीतर भी जब गुस्सा आता है तो वह नोचना और काटना चाहता है, घूंसे मारना चाहता है। जब क्रोध हमारे भीतर आया तो शरीर ने उसकी तैयारी कर ली। मुट्ठियां भींच गयीं, दांत पिसने लगे, जबड़े के मसल्स टाइट होने लगे। हाथ की मांसपेशियों ने तैयारी कर ली कि घूंसे मारेंगे। लेकिन न तो हमने घूंसा मारा न हमने दांतों से काटा। किसी प्रकार की हिंसा नहीं की। ऊपर–ऊपर से हम एक पाखण्डी आचरण करते रहे। इन मसल्स को मस्तिष्क से जो आज्ञा आयी थी और वह तैयार हो गयी थीं लड़ने, मरने, काटने या भागने के लिए, इनका क्या होगा? सारी प्रक्रिया बीच में अटक गई। आपको पता होगा कि हमारे ब्रेन की जो मोटर सिस्टम है, वहां से जो आदेश आता है, वह मसल्स को पहुंचता है तो इस व्यवस्था में बहुत से हारमोन्स, न्यूरोट्रान्समीटर्स नामक रसायन बन जाते हैं। ये कैमिकल्स कहां जाएंगे? ये भीतर अटके हुए हैं। वे मांसपेशियां जो लड़ने के लिए तैयार हो गयी थीं, उनका क्या होगा?

इस प्रकार शरीर के तल पर भी सप्रेशन हैं। तीन तलों पर सप्रेशन हुए– मन, हृदय, और देह। जब कोई व्यक्ति शांत होने की, ध्यान में डूबने की कोशिश करेगा, ये तीनों तल उसके आड़े आ जाएंगे। शरीर में एक प्रकार की बेचैनी होगी। वह आसन में बैठ ही नहीं

पाएगा। आसन का मतलब होता है– सुखपूर्वक निश्चल होना। वह स्थिर हो ही नहीं पाएगा, क्योंकि उसकी मांसपेशियां फड़क रही होंगी। लड़ने–मरने की तैयारी जो हो चुकी थी, जो कैमिकल्स मौजूद हैं, वे अपना प्रभाव दिखाएंगे। आसन में शरीर स्थिर हो नहीं पाएगा। देह में कंपन होंगे। रेस्टलैशनेस, बेचैनी, तनाव, खिंचाव के कारण शिथिलता संभव न हो पाएगी।

मन के तल पर जो विचारों की भीड़ है... यह पढ़ा–लिखा आदमी है, इसने पोस्ट ग्रेजुएशन और डॉक्टरेट की है। मानो इसके अन्दर एक लाइब्रेरी खुली हुई है। दिन भर मोबाइल से बातें करता रहता है, इंटरनेट पर सर्च करता रहता है। बहुत सी सूचनाएं हैं। अखबारों से, पत्रिकाओं से, टेलीविजन से, दुनिया भर की खबरें उसके भीतर संग्रहीत हैं। इस 'गूगल–ज्ञान' का क्या होगा? वे सारे चित्र बनकर भीतर चलने लगेंगे, यह शांत नहीं हो पाएगा। इसके मन में बड़ा उहापोह है।

फिर ह्रदय के तल पर जो दबी भावनाएं हैं, उनसे गुजरना तो बहुत मुश्किल है। क्योंकि वे भावनाएं तो प्रभु निर्मित प्रकृति ने दीं थीं और मनुष्य निर्मित संस्कृति ने उनको दबाना सिखाया है। याद रखना, प्रकृति हमेशा शक्तिशाली है, मजबूत है और संस्कृति ऊपर–ऊपर है। संस्कृति हमारे सतही चेतन मन में है और प्रकृति हमारे गहरे अवचेतन मन में, सब–कॉन्सस माइण्ड में बसी है। हमारा ऊपरी हिस्सा मन का ज्यादा से ज्यादा 12 परसेंट है। भीतर का अवचेतन हिस्सा 88 परसेंट है। जीतेगा वही, क्योंकि वहीं बड़ा हिस्सा है।

इन भावनाओं से कैसे जूझोगे? इनके पार निकल न पाओगे। शांत होने को जो आदमी बैठा था ध्यान करने के लिए, वह पाता है कि पांच–दस मिनट में और भी ज्यादा अशांत हो गया। तो क्या उपाय किया जाए? आधुनिक मनुष्य के लिए कोई नया उपाय करना होगा। सिर्फ इतना कहना कि शांत बैठ जाओ, आसन लगा लो, श्वास देख लो, थोड़ा–सा प्राणायाम कर लो, इतनी–सी तरकीब काम न आएगी। दो हजार साल पहले ये विधियां काम आती थीं। पतंजलि ने जो कहा है, वह अपने जमाने के लोगों के लिए कहा। बुद्ध और महावीर ने जो पद्धतियां दीं, अपने युग के लोगों के लिए दीं। आधुनिक युग में वे काम नहीं करतीं हैं। नयी समस्या आ गयी, नयी बीमारी है, तो औषधि भी नयी होगी।

सद्‌गुरु ओशो ने ध्यान के पूर्व एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात जोड़ी। याद रखना, वह ध्यान का हिस्सा नहीं है। वह ध्यान की भूमिका है। जैसे किसी किताब में भूमिका, प्रस्तावना होती है न वह किताब का टैक्स्ट नहीं है, प्रवेश द्वार पर परिचय मात्र है। ओशो ने कहा– पहले रेचन कर लो, कथार्सिस कर लो। जो तुम्हारे भीतर दबा हुआ है, दस मिनट में ज़रा उसको निकल जाने दो। अगर चीखने का मन है, तो चीख लो। अच्छा है एक साउंड प्रूफ कमरा बनवा लो। बाहर कोई आवाज न आए, किसी को डिस्टर्ब न हो। रोने का मन है तो रो लो, गाने का मन है तो गा लो, जमीन में लोटने का भाव हो, बच्चों की तरह लोटपोट हो जाओ। घूंसे चलाने का मन है तो अपने काल्पनिक शत्रु को पीट दो। तुम किसी को नुकसान नहीं पहुंचा रहे हो और अपने को भी हानि नहीं पहुंचा रहे हो। अच्छा हो कि दीवारों पर कुछ मोटे–मोटे स्पंज के गद्दे लगा दो। दीवारों पर भी तुम घूंसे चलाओ, लातें चलाओ तो कोई हर्ज नहीं होगा। बड़े सुरक्षित ढंग से अपनी सारी

भावनाओं को इस तरह निकालना सीखो। इसमें शरीर को भी पूर्णतः शामिल करो, क्योंकि तीनों तलों पर दमन है– तन, मन, हृदय; यानि कर्म, विचार, भाव। दस मिनट के अन्दर पाओगे कि बिल्कुल सरल हो गए, शांत हो गए और फिर ध्यान में, साक्षीत्व में डूबना सुगम हो गया।

सद्‌गुरु ओशो ने कथार्सिस को ध्यान के पहले रखा ताकि हम आसानी से ध्यान में प्रवेश कर सकें। पिछले दो हजार सालों में जो कूड़ा–कचरा इकट्ठा किया है, दस मिनट में हम उससे मुक्त हो जाएंगे, फिर हम एक निर्दोष बच्चे की भांति हो जाएंगे। बच्चे को देखते हो, अगर उसको गुस्सा आता है तो वह गुस्सा कर लेता है। उसको रोना आया तो रो लिया और एक मिनट में फिर हंसी आयी तो हंस लिया। वह बिल्कुल सहज स्वाभाविक है। प्रौढ़ मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता। समझो किसी की शोकसभा में आप गए हैं और किसी बात पर आपको हंसी आ रही है तो आप हंस नहीं सकते। यह शिष्टाचार के विरुद्ध हो जाएगा। लेकिन हास्यास्पद बात पर एक छोटा बच्चा हंस लेगा। उसे औपचारिकताओं, एटीकेट्स के बारे में कुछ पता नहीं!

हमारे भीतर सब कुछ रुका हुआ है, दबा हुआ है, न हम ठीक से रो पाते हैं, न ठीक से हंस पाते हैं। कभी उदासी घेरती है, तो हम उदास तक नहीं हो पाते। लोग कहेंगे कि डिप्रेशन में चला गया है, इसको मनोचिकित्सक के पास ले चलो इलाज के लिए। बड़ी मुश्किल है, हम अपने जीवन को सरल, सहज, स्वाभाविक रूप से जी ही नहीं पा रहे हैं। वह जो सब दबा हुआ है, उसकी केथार्सिस करनी जरूरी है। केथार्सिस यानि रेचन, उसको बाहर निकालना है। चीख लें, चिल्ला लें, गा लें, गुस्सा निकाल लें, हंसी आ रही है तो हंस लें। जो भी उस क्षण में हो रहा है, उसको हो जाने दें। और तब हम पाएंगे कि अब ध्यान में डूबना बड़ा आसान हो गया। अब हम विपस्सना कर सकते हैं। सीधे विपस्सना करने बैठेंगे तो कुछ बात जमेगी नहीं। यह भूमिका ओशो ने ध्यान में जोड़ी है। उन्होंने एक बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम उठाया है।

मा मोक्षा– सद्‌गुरु ओशो ने ध्यान विधियों को हास्य, रुदन, रेचन से जोड़कर हमारे लिए कितना हल्का–फुल्का कर दिया। अध्यात्म की साधना को गैर गंभीर और प्लेफुल बना दिया। काश, ऐसी ही सरलता, बच्चे जैसी निर्दोषता हमारी जिंदगी में भी आ जाए तो स्वच्छता और पावनता आ जाए!

प्यारे मित्रो, हम आपको आमंत्रित करते हैं। 6 दिवसीय ध्यान समाधि शिविर में एक बार भाग लेकर देखिए, स्वयं अनुभव कीजिए। खुद जानना होगा, तभी बात बनेगी।

इस अनूठे पथ पर चलने की भूमिका निर्मित हो जाएगी सदगुरु ओशो की दो प्रवचन मालाएं सुनने या पढ़ने से; उनके शीर्षक हैं– 'ध्यान सूत्र' एवं 'अंतर्यात्रा'।

इस अंतर्यात्रा हेतु चुनौती सहित पुनः प्रेम भरा निमंत्रण देती हूं। अपने भीतर छिपी परम शांति की संपदा से परिचित होइए।

आज के लिए बहुत–बहुत धन्यवाद। जय ओशो।

पहले ध्यान फिर भक्ति

मा मोक्षा– ध्यान के पहले रेचन की, हंसने की तो बात समझ आती है, लेकिन ओशो ने ध्यान के साथ अक्सर संगीत और नृत्य को भी जोड़ा है, यह कैसा नूतन व अनूठा संगम है?

स्वामी शैलेन्द्र– समझने जैसा है। संगीत, नृत्य, अहोभाव, ध्यान के पश्चात रखा है। ध्यान को दृष्टा भाव पर, साक्षी भाव पर, जागरूकता पर समाप्त मत कर देना। क्योंकि खतरा है, अकेली जागरूकता उदासी ला सकती है। अकेला साक्षीभाव शांत तो कर देगा लेकिन उस शांति में थोड़ी–थोड़ी उदासी की झलक रहेगी, उसमें उदासी का स्वाद हो सकता है। संभव है कि तुम गंभीर हो जाओ। तब रास्ते से भटक गए। तो शांति के पश्चात्, शांति आनन्द बननी चाहिए। इसलिए नृत्य, गायन, संगीत के संग झूमो मस्ती में, अहोभाव से भरो, धन्यवाद दो परमात्मा को। सारे अस्तित्व के प्रति अनुग्रह तुम्हारे हृदय में होना चाहिए। इसलिए सद्गुरु ओशो ने ध्यान के पश्चात् भी यह एक कदम और रखा।

जैसे रेचन भूमिका है, ठीक ऐसे ही ध्यान का उपसंहार उन्होंने रखा आनन्द, मस्ती, संगीत, नृत्य, अनुग्रह भाव। संक्षेप में कहें तो यही है भक्ति, ध्यान का क्लाइमैक्स। तो ध्यान मार्ग जो कि योग का हिस्सा है और भक्ति मार्ग, सद्गुरु ओशो ने इन दोनों का संगम करा दिया। ध्यान से शुरूआत करो और भक्ति पर समापन करो। संकल्प से चलो

और समर्पण पर पूरा करो। शांत हो जाओ लेकिन सिर्फ शांति पर रुक मत जाना आनन्द तक जाना। शांति तुम्हारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। इस बात को ख्याल रखना। अशांत आदमी सोचता है कि शांत हो जाना ही बहुत है। उस समय उसको ऐसा ही लगता है कि शांति पानी ही बड़ी मुश्किल लग रही है। लेकिन शांति अंतिम लक्ष्य नहीं है, उसके और आगे आनन्द तक जाना है। परमानन्द, सच्चिदानंद को खोजना है।

इसको ऐसा समझना कि एक आदमी बीमार है, उसको दर्द व बुखार है। उस समय उसको ऐसा ही लगता है कि किसी प्रकार मेरा बुखार उतर जाए, यह पीड़ा खत्म हो जाए बस। इतना कार्य तो पैरासिटामॉल और एस्प्रीन की गोली से हो जाएगा। लेकिन यह इलाज पर्याप्त नहीं है, इसके और आगे जाना होगा। रोग की जड़ उखाड़नी होगी।

तीन अवस्थाओं को समझो– एक है बीमारी, एक है बीमारी का मिट जाना और एक है स्वस्थ हो जाना। समझो वह आदमी अस्पताल में भर्ती हुआ और उसकी जांच–पड़ताल की गयी। पता लगा कि उसको मलेरिया बुखार है। मलेरिया की दवाई दी गयी। बुखार उतर गया, दर्द कम हो गया, फिर ब्लड टैस्ट किया गया, डॉक्टरों ने कह दिया कि आप ठीक हो गए हैं, अब आप घर जा सकते हैं। ब्लड रिर्पोट में सब ठीक है, लेकिन यह आदमी अभी पूरी तरह ठीक नहीं है। जब पांच–सात दिन इसको बुखार रहा तब इसकी बहुत ब्लड सैल्स खत्म हो गईं। कमजोरी महसूस हो रही है, इतने दिन ठीक से खाना भी नहीं खाया है, ठीक से सोया भी नहीं है। ब्लड टैस्ट तो नार्मल है, मलेरिया के किटाणु अब नहीं हैं लेकिन भीतर से इसे निरोगी होने का मजा नहीं आ रहा है। तो

डॉक्टर लिख देते हैं एन.ए.डी. मतलब– नथिंग एबनार्मल डिटैक्टेड। क्या यह पर्याप्त है? नहीं, जब तक व्यक्ति को एक पॉजिटिव हैल्थ, एक सकारात्मक स्वास्थ्य का अनुभव न हो, तब तक पूरी बात नहीं बनी। चिकित्सकों ने तो अस्पताल से डिस्चार्ज कर दिया। लेकिन अभी चार–छः दिन और लगेंगे। यह ठीक से खाएगा, पीएगा, अच्छे से सोएगा, तब इसके भीतर स्फूर्ति आएगी, ताजगी आएगी और एक पॉजिटिव हैल्थ का अनुभव होगा।

ऐसी ही तीन अवस्थाएं हमारे भीतर संभव हैं– अशांति, बेचैनी, तनाव; जिनमें बड़ी संख्या में मनुष्यता जी रही है। ये लोग सोचते हैं कि किसी प्रकार शांत भर हो जाएं, बस। लोग मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि किसी प्रकार तनाव से मुक्ति मिल जाए, बस। मिल जाएगी लेकिन वह पर्याप्त नहीं होगी। इसके और आगे जब तक सच्चिदानंद को न जान लो, तब तक भीतर की जो 'इनर स्प्रिचुअल हैल्थ' है, उसका स्वाद न आएगा।

इसलिए ओशो ने शांति, ध्यान और जागरूकता के बाद भक्ति के चरण को जोड़ा। तो पहले ध्यान साधो फिर भक्ति रसपान करो। पहले जागरूकता, फिर अनुग्रह में डूबो। पहले शांत हो जाओ, फिर उठो और नाचो, झूमो और मस्त हो जाओ। तब जाकर पूरी बात हुई। इसलिए ओशो ने ध्यान के पूर्व रेचन और ध्यान के पश्चात भक्ति भाव को जोड़ा।

अतीत में योग व भक्ति मार्ग को एक–दूसरे से विपरीत माना जाता था। ओशो ने संकल्प व समर्पण के मध्य, ज्ञान व प्रेम के बीच सेतु बनाया– बड़ा सुंदर जोड़ बैठाया।

मा मोक्षा– ओशो का एक वचन है 'न भोग, न दमन, बल्कि रूपांतरण' अर्थात् नैदर सप्रेशन, नॉर एक्सप्रेशन, बट ट्रांसफॉर्मेशन– इससे उनका क्या तात्पर्य है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– अभी-अभी हम जिस संस्कृति की बात कर रहे थे, जिसमें प्राकृतिक, नैचुरल भावनाओं का एक्सप्रेशन संभव नहीं है, होना भी नहीं चाहिए। नहीं तो समाज बड़ा अव्यवस्थित और अराजक हो जाएगा, मूर्खतापूर्ण स्थिति बन जाएगी। तो कुछ न कुछ ऐटीकेट्स, मैनर्स हर समाज के हैं और रहेंगे। निश्चितरूपेण उनका पालन किया जाना चाहिए लेकिन उसी की वजह से फिर दमन खड़े हो जाते हैं।

तो दमन से मुक्ति कैसे हो? कल हमने चर्चा की, वह रेचन के द्वारा संभव है। चौबीस घंटे में से हम एक घंटा ध्यान के लिए निकाल लें। उसमें से दस मिनट रेचन कर लें और हम पाएंगे कि दमित भावनाओं से हम मुक्त हो गए और पुनः सहज, सरल, स्वाभाविक; जैसे बचपन में थे वापस वैसे ही हो गए– बालवत, शिशुवत!

दूसरी बात समझो, अगर हम जागरूकता पूर्वक भोग न किए, हम अत्यंत जागे हुए और सचेत नहीं जी रहे हैं, साक्षी भाव में नहीं हैं, तब कुछ रूपांतरण नहीं होगा। भोग तो सभी कर रहे हैं। संसार में मनुष्य ही क्यों, पशु-पंक्षी भी भोग कर रहे हैं। लेकिन उससे उनके जीवन में परिवर्तन तो नहीं आता। एक नयी बात जोड़नी होगी कि हम जो भी कर रहे हैं, चाहे वह रेचन हो, चाहे वह भोग हो, चाहे कुछ भी हो; उसके साथ जागरूकता अर्थात ध्यान, मेडिटैटिव अटैंटिवनैस, माईंड फुलनैस को साधना है। ताकि जो गलत है, उससे हम मुक्त हो सकें और जो सही है, वह हमारे जीवन में व्याप्त हो, फैल सके।

ओशो पाप और पुण्य की परिभाषा करते हैं– पुण्य वह है, जिसे तुम परिपूर्ण जागरूकता में, सजगतापूर्वक कर सको। और पाप वह है, जिसके लिए मूर्च्छा अनिवार्य है। पूर्ण जागरूकता में तुम उसे कर ही नहीं सकते। जब हम जागरूकतापूर्वक जिएंगे तब हमारे जीवन में बदलाहट शुरू होगी। जो-जो पाप है, वह कटता चला जाएगा और जो-जो पुण्य है, उसकी वृद्धि होती चली जाएगी। एक दिन हम पाएंगे कि हमारे जीवन में कोई पाप बचा ही नहीं, केवल पुण्य ही पुण्य का खजाना है। हमारा सारा जीवन केवल शुभ का, मंगल का भंडार हो गया।

इसकी विधि यही होगी कि हमारे समाज की जो मर्यादाएं हैं, संस्कृति के नियम-कानून हैं, उनको मानकर चलें। एक्सप्रेशन, सबके सामने सब कुछ अभिव्यक्त करने की जरूरत नहीं है। जहां हम सहज हो सकते हैं, वहां पर हों। लेकिन जहां नहीं हो सकते, वहां पर समाज की मर्यादाएं तोड़ना उचित नहीं है। लेकिन सजग होकर समझो कि मेरे भीतर गुस्सा आया है। मैं उसको एक्सप्रेस न करूं क्योंकि एक्सप्रेस करने से कोई समस्या हल नहीं होती। अगर मैं किसी पर क्रोधित हो जाता हूं, नाराज होता हूं, चाटे मार देता हूं, गाली दे देता हूं फिर वह आदमी प्रतिक्रिया करेगा, रीऐक्ट करेगा। वह भी मेरा अपमान करेगा, अपशब्द कहेगा, मार-पीट करेगा। फिर तो यह सिलसिला बढ़ता जाएगा। फिर मैं

रीऐक्शन करूंगा। इस प्रकार रीऐक्शन की शृंखला, एक चेन शुरू हो जाएगी, जिसका अंत कहां होगा, कहना मुश्किल है। शायद कोर्ट–कचहरी में ही अंत हो। याद रखना, छोटी–छोटी बातों पर हत्याएं, दंगे–फसाद, युद्ध हो जाते हैं। जिंदगी में बड़ी–बड़ी बातें हैं भी कहां?

द्रोपदी के एक व्यंगबाण पर महाभारत हुआ था। दुर्योधन को उसने कह दिया कि अंधे के बेटे अंधे ही होते हैं। फिर उस अंधे के बेटे ने खूब बदला लिया। असम्यक अभिव्यक्ति खतरनाक है। उससे चेन रीऐक्शन की शृंखला शुरू होती है। हम कुछ करेंगे तो फिर सामने वाले भी कुछ करेंगे और बात आगे बढ़ती चली जाएगी। इससे समस्या का हल कभी नहीं होता।

सप्रेशन से, दमन करने से भी समस्या का हल नहीं होता है। अगर मैंने क्रोध को अपने भीतर दबा लिया या दुख को, आंसुओं को दबा लिया तब वे मेरे हृदय में घाव बनकर बैठे हैं। वह गुस्सा मेरे भीतर खौल रहा है, फिर मैं उसको गलत जगह निकालूंगा। जहां मुझे कमजोर मिल जाएगा, मैं उस व्यक्ति पर प्रगट कर दूंगा। इस बात को थोड़ा समझना– अगर हमसे कोई शक्तिशाली है, तब हम अपना क्रोध व्यक्त नहीं कर सकते; लेकिन वह क्रोध फिर कहीं न कहीं व्यक्त होगा। आग सुलग गई है, चिन्गारी मौजूद है, कहीं और हवा पाकर भड़केगी।

अक्सर मैं उदाहरण देता हूं, मान लो एक आदमी है। उसे आफिस में बॉस ने डांट दिया। उसको बहुत गुस्सा आया है, लेकिन वहां तो वह जी–हजूरी करता रहा। घर लौटकर वह पत्नी पर नाराज होता है। पत्नी उससे कमजोर है, निर्बल है, असहाय है और उसके ऊपर डिपैंडेंट है। पत्नी ने उसको चाय लाकर दी, लेकिन उसने कप पटक कर कहा– शक्कर डालना भूल गई! कप तोड़ दिया। अब बेचारी पत्नी आयी, फर्श पर पड़ी हुई चाय साफ कर रही है, टूटे हुए बर्तन को उठा रही है। क्या कर सकती है? गुस्सा तो उसे भी बहुत ज्यादा आया है। सोचती है– अगर शक्कर नहीं थी तो कह देते, हम शक्कर डाल देते। इसमें कप तोड़ने की, चाय फेंकने की क्या जरूरत थी?

लेकिन इतना भी कह नहीं सकती क्योंकि वह पति पर निर्भर है। बेचारी फिर चाय बनाकर लाएगी, जरूरत से ज्यादा ही शक्कर डाल देगी। दिल तो इसका हो रहा है कि इस आदमी के चेहरे पर चाय उड़ेल दें। मगर ऐसा वह करेगी नहीं। अगर यह आदमी जल गया तो इसकी सेवा–सुश्रुषा भी उसी को करनी पड़ेगी। उसने अपने भीतर क्रोध दबा लिया। अब वह खोजेगी कि कोई और कमजोर मिल जाए।

शाम को बच्चा चला आ रहा है स्कूल से बस्ता झुलाते हुए, फिल्मी गीत गुनगुनाते हुए। और मां ने उसको पकड़कर उसे चांटे मारने शुरू किए कि आज तुमको नम्बर कम क्यों मिले? टेस्ट–रिर्पोट में इतने कम नम्बर क्यों मिले हैं? और कपड़े गंदे क्यों किए? मैं धो–धोकर मरी जा रही हूं। यह धूल, मिट्टी, कीचड़ क्यों लगी है? उन गन्दे बच्चों के साथ क्यों खेलते हो?

मां गुस्से से भरी बैठी है, किसी न किसी बात पर नाराज होगी। बच्चा भी समझ रहा है कि घर में कुछ टैंशन का माहौल है। वह सोचता है कि मैं धूल–मिट्टी में बच्चों के साथ तो रोज ही खेलता हूं, कपड़े गन्दे तो होते ही हैं पर आज ही नाराज क्यों हो रही है? और आज जितने नम्बर मिले हैं, हमेशा उतने ही नंबर मिलते हैं, आज पिटाई हो गयी। अब वह क्या करे? बेचारा मां के

ऊपर निर्भर है, क्रोध तो वह व्यक्त नहीं कर सकता। वह अपने कमरे में जाता है और किताब उठाकर एक पन्ना फाड़ देता है, गुड्डा–गुडिए की टांग तोड़ देता है या घर के बाहर जाता है, वहां चुपचाप बैठा हुआ एक कुत्ता जिसको यह रोज रोटी देता था, आज उठाकर एक पत्थर उसको मारता है।

कुत्ते को भी बहुत गुस्सा आता है कि यह बच्चा रोज रोटी लेकर आता था आज इसने पत्थर क्यों मारा? बच्चे ने अपना क्रोध निकाल लिया। अब कुत्ता क्या करे? वह भी इंतजार कर रहा कि इसके हाथ में तो पत्थर है, इससे जूझना ठीक नहीं है। वह दूर चला गया। हो सकता है शाम को जो आफिस का बॉस है, वहां से संध्या–भ्रमण के लिए निकले और कुत्ता यह देखकर कि इस निहत्थे के हाथ में कुछ नहीं है– न लाठी है, न पत्थर; मौके का लाभ उठाकर कुत्ता उनके पैर पर झपटे और काट ले। तब जाकर वह वर्तुल पूरा हूआ।

...परंतु यह तो कोई हल न हुआ। हमने अकारण ही उन लोगों पर थोप दिया क्रोध जहां थोपने की कोई जरूरत ही न थी। इसलिए एक्सप्रेशन भी कोई उपाय नहीं है, दमन भी कोई उपाय नहीं है। क्योंकि जिसको हमने सप्रेस कर लिया वह कहीं न कहीं एक्सप्रेस होगा। ये तो मैंने एक छोटा–सा क्रोध का उदाहरण दिया। इसी प्रकार की और बहुत–सी नकारात्मक भावनाएं हैं, नकारात्मक विचार हैं। न सप्रेशन उपाय है, न एक्सप्रेशन। फिर क्या करें? तो सद्‌गुरु ओशो सुझाते हैं कि नीदर सप्रेशन, नॉर एक्सप्रेशन, बट ट्रांसफॉर्मेशन। एंड इट विल हेपन थ्रू मेडिटेशन। जागरूकता, सजगता, साक्षी भाव से परिवर्तन होगा, जिंदगी बदलेगी।

मा मोक्षा– हमारी नकारात्मक भावनाओं का भी सम्यक स्वीकार सद्‌गुरु ओशो सिखाते हैं। क्या ऐसा करने से जीवन में दुष्परिणाम नहीं होंगे?

स्वामी शैलेन्द्र जी– नहीं। प्रायः इसे समझने में थोड़ी–सी चूक हो जाती है। समझो, क्रोध का ही उदाहरण लेते हैं फिर से। सद्‌गुरु कह रहे हैं कि तुम सर्व स्वीकार में जियो तो अपने भीतर के क्रोध को भी स्वीकार लो, एक्सेप्ट कर लो कि मैं क्रोधी किस्म का आदमी हूं। अक्सर क्या होता है कि हमने अपनी बहुत अच्छी सेल्फ इमेज मन में बनाई होती है कि मैं आदमी तो अच्छा हूं पर कभी–कभी मेरे भीतर क्रोध छलकता है। परिस्थितियां मुझमें क्रोध उत्पन्न कर देती हैं। हम दोषारोपण दूसरों पर करते हैं कि कल उनकी वजह से क्रोध हुआ था, आज इनकी वजह से गुस्सा आया। ऐसी घटना घटी, इसलिए मैं नाराज हूं।

हम यह नहीं कहते हैं कि मैं क्रोधी आदमी हूं। हम कहते हैं कि वह तो परिस्थिति ऐसी थी। उस आदमी ने ऐसा दुर्व्यवहार किया कि मुझे नाराज होना ही पड़ा, उसको सबक सिखाने के लिए। हम हमेशा दोष दूसरे पर लगा देते हैं। काश, हम इस तथ्य को देख पाएं कि क्रोध मेरे भीतर मौजूद है। परिस्थितियां जिम्मेवार नहीं हैं, मैं क्रोधी हूं। जैसे ही हम इस बात को स्वीकारते हैं कि मैं क्रोधी हूं, एक अद्‌भुत घटना घटती है। तथ्य के प्रति होश सध गया। इस स्वीकार भाव की पृष्ठभूमि में, होश सधने पर फिर क्रोध असंभव हो जाता है।

सामान्यतः देखने में ऐसा लगता है तो अगर हमने क्रोध को या किसी नकारात्मक

भावना को स्वीकार कर लिया तब तो उसकी बढ़ोतरी होने लगेगी। ज़रा गौर से समझना, क्रोध पैदा क्यों होता है? अस्वीकार की वजह से। किसी परिस्थिति को, किसी व्यक्ति को जब हम रिजैक्ट करते हैं, जब हम कहते हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिए था, इसको ऐसा नहीं कहना चाहिए, इसको ऐसा नहीं करना चाहिए, यह घटना ऐसी नहीं होनी चाहिए थी। तब हम नाराज होते हैं। परिस्थिति के रिजेक्शन से गुस्सा आता है।

तो क्रोध का मूल क्या है? अस्वीकार।

जो व्यक्ति एक्सेप्टेंस में, स्वीकार भाव में जीने लगा, उसके भीतर क्रोध बचेगा कैसे? क्रोध की जो जड़ है, वही उखड़ गयी। उसकी जड़ है– अस्वीकार भाव। जो है उससे लड़ो, कहो कि ऐसा नहीं, वैसा होना चाहिए। अगर मैंने स्वीकार लिया कि मेरे भीतर गुस्सा है, मैं क्रोधी किस्म का आदमी हूं, जब मैंने इसे स्वीकार कर लिया तो मेरा हृदय शांत हो गया।

जब मैंने अपने को स्वीकार लिया फिर मैं दूसरे को भी स्वीकार पाऊंगा। समझो, कोई आदमी आकर मुझे अपमानजनक शब्द कहता है। जब मैंने अपने को स्वीकार लिया कि मेरे भीतर से भी गालियां निकलती हैं और मेरा भी दिल होता है कि अपशब्द बोल दूं। तब मैं दूसरे को भी स्वीकार लूंगा। यह भी तो मेरे जैसा ही इंसान है। इसके भीतर भी गुस्सा आ गया है, कोई बात नहीं! स्वीकार लेते हैं। तब हम बहुत शांत हो जाएंगे।

अतः ऊपर–ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि नकारात्मक भावनाओं का स्वीकार करने से नकारात्मक भावनाएं बढ़ेंगी। लेकिन सच्चाई यह है कि नकारात्मक भावनाएं घटेंगी, कम होने लगेंगी। क्योंकि उनकी जड़ ही अस्वीकार में है, लड़ने में है। अस्वीकार ही सबसे बड़ी नकारात्मक भावना है। और स्वीकार ही सबसे बड़ी सकारात्मक भावना है। जहां सम्यक स्वीकृति आई, यानि पॉजिटिविटी आई, वहां से निगेटिविटी गायब हुई।

मा मोक्षा– गुरुदेव, आपका बारंबार आभार।

टीवी चैनल के जिज्ञासु दर्शको, आज हमने अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सीखीं। ओशो ने ध्यान के पूर्व रेचन या केथार्सिस की भूमिका जोड़ी है और उन्होंने अंत में अहोभाव, संगीत व नृत्य को जोड़ा है। इससे आध्यात्मिक साधकों का जीवन धन्य–धन्य हो गया है। ओशो ने ध्यान विधियों को कितना नॉन–सीरियस और प्लेफुल बना दिया है।

निगेटिविटी को जीतने का उपाय पॉजिटिविटी में जीना है। नकारात्मकता से लड़कर अथवा उसे दबाकर हम और भी ज्यादा नकारात्मक हो जाते हैं। वह विधि सर्वथा अनुचित है। देखने में ठीक प्रतीत होती है, किंतु भ्रमात्मक है।

जीवन में शांति का एक ही सूत्र है– 'स्वीकार भाव'– अपना, दूसरों का, सबका, संपूर्ण अस्तित्व का स्वीकार!

आज इतना ही। शुक्रिया। जय ओशो।

मेडिटेशन इन मार्केट प्लेस

मा मोक्षा– गुरुदेव, पिछली कड़ी में हमने चर्चा की कि सद्‌गुरु ओशो ने यान के पूर्व रेचन एवं यान के पश्चात् अहोभाव पूर्ण नृत्य को जोड़ा। आप हमें यह भी बताइए कि उन्होंने अपनी यान विियों के साथ संगीत को क्यों जोड़ा? तथा संगीत को इतना महत्त्व क्यों दिया?

स्वामी शैलेन्द्र जी– यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अच्छा किया जो आपने यह सवाल उठा लिया। पुराने जमाने में ध्यानीगण समाज से, परिवार से, शहर से दूर; जंगलों, गुफाओं, पर्वतों में जाकर एकांत में ध्यान करते थे। सद्‌गुरु ओशो ने ध्यान को बाजार के बीच ला खड़ा किया– मेडिटेशन इन मार्केट प्लेस। जहां पर तुम हो, वहीं पर

ध्यानस्थ होना सीखो। जंगल में जाकर अंतर्संगीत श्रवण, जिसे संतों ने अनहद नाद या ओंकार की ध्वनि कहा है, वह बड़ा आसान है। किसी गुफा के एकांत में बैठकर थोड़े से ही शांत होने पर तुम्हें ब्रह्मनाद सुनाई देने लगेगा। किन्तु अगर बाजार में रहना है, घर–परिवार में रहना है, दुकान चलाना है, फैक्टरी में काम करना है, तो शायद यह संभव न हो पाएगा। इतना शोर है। तुम परमात्मा की वह सूक्ष्म ध्वनि सुगमता से न सुन पाओगे।

पुराने जमाने में संगीत का ध्यान में कोई स्थान नहीं था। लेकिन आज के युग में जहां ओशो ने गृहस्थ और संन्यस्थ दोनों को जोड़ा, एक साथ खड़ा कर दिया। त्याग नहीं सिखाया, बल्कि समाज में रहकर जीना सिखाया, जागरूकतापूर्वक भोग सिखाया, वहां ध्यान की अनेक नई पद्धतियां भी उन्होंने दीं।

ध्यान विधि के साथ उन्होंने संगीत जोड़ा। क्योंकि बाहर का यह संगीत भीतर के उस संगीत में डुबाने में सहयोगी होगा, जिसे ब्रह्मनाद, अनाहत नाद अथवा 'एक ओंकार सतनाम' कहा है। ईश्वर का यह स्वर सुनना ही ध्यान का लक्ष्य है।

उदाहरण के लिए, ओशो द्वारा बनाई गई विधि 'कुण्डलिनी ध्यान' में चार चरण हैं। पहला चरण ऊर्जा जागरण का है– शरीर को कंपाएंगे खड़े होकर। संगीत बजेगा, जो इस कंपन में सहयोगी होगा। दूसरा चरण है नाचने का, गाने का, ताली बजाने का, झूमने का। इसे संगीत के संग एक प्रकार का कीर्तन का चरण समझ लो। नृत्य में व्यक्ति प्रफुल्लित हो जाता है। नाचते हुए उदासी दूर हो जाती है। याद रखना, हम जिस परमानंद से मिलने जा रहे हैं, हम कुछ–कुछ उसके जैसे तो हो जाएं। समान का ही समान से मिलन हो सकता है। दूध और पानी मिल सकते हैं, क्योंकि लगभग समान ही हैं, दूध में करीब 90 प्रतिशत पानी ही है। लेकिन तेल और पानी नहीं मिल सकते हैं, वे समान नहीं है।

अगर हम सच्चिदानन्द से मिलने जा रहे हैं, तो हम कम से कम प्रफुल्लित और प्रसन्न तो हों, कुछ तो उस जैसे गुण हमारे भीतर हों। जब हम 15 मिनट नाचेंगे–गाएंगे, झूमेंगे संगीत के साथ, तो भीतर मन पुलकित हो जाएगा, फूल की तरह खिल जाएगा। हमारी ऊर्जा उर्ध्वगामी हो जाएगी। जैसे कोई खिला हुआ फूल सीना ताने खड़ा हुआ हो, सूरजमुखी का फूल सूरज की तरफ देखता हो। उदास आदमी ऐसे हैं जैसे मुरझाया हुआ फूल, नीचे लटका हुआ। उदासी ऊर्जा को अधोगामी, प्रफुल्लता ऊर्ध्वगामी करती है। ध्यान विधि में बहुत प्यारा संगीत है नाचने के लिए। हम उसके संग नाचेंगे–झूमेंगे, तब हम भी खिले हुए फूल की तरह खिल जाएंगे।

फिर आता है तीसरा चरण, अब बैठकर बाहर के संगीत को सुनेंगे। संगीत की धुन बहुत धीमी हो जाएगी और एक–सी लय है, उसमें कोई ज्यादा उतार–चढ़ाव नहीं है। सच पूछो तो एक ही सुर है उसमें, जो लगातार बजता रहेगा। यह संगीत ब्रह्मनाद से मिलता–जुलता है। भीतर परमात्मा की जो आवाज है, उसमें कोई उतार–चढ़ाव नहीं है। बस एक ही स्वर है उस ईश्वर का। हम उसकी रिहर्सल कर रहे हैं। कुण्डलिनी ध्यान के तीसरे

चरण में शांत और मौन बैठकर यह धीमा–सा संगीत सुनेंगे, जो सीडी प्लेयर में बज रहा है। इस प्रयोग से क्या घटित होगा? पहले चरण में जो ऊर्जा जागी थी, वह दूसरे चरण में उर्ध्वगामी हो गई थी, तीसरे चरण में वह कानों में केन्द्रित हो गई। हमने अपने सारे वाइटल फोर्स को एकाग्र कर दिया सुनने में। भूल गए सारे संसार को थोड़ी देर के लिए और वह ध्वनि सुनने लगे।

फिर तीसरा चरण समाप्त हुआ। बाहर का संगीत पूरी तरह बंद हो गया। अब क्या होगा? सारी ऊर्जा कानों में एकाग्र है, सुनने के लिए तैयार है, और बाहर सुनने को कुछ भी न रहा। अब उम्मीद की जा रही है कि साधक–साधिका अपने भीतर का संगीत सुनेंगे, अनहद की धुन सुनाई पड़नी आरंभ होगी। जिसे सुनते हुए समाधि में डुबकी लग जाएगी।

इस प्रकार सद्‌गुरु ने संगीत का खूब अच्छे से सदुपयोग किया है। मैं आपको याद दिलाना चाहूंगा सूफियों के बारे में, कट्टरपंथी मुसलमान संगीत के खिलाफ रहे, लेकिन सूफियों ने देखा कि अधिकतर लोग संगीत के माध्यम से ध्यान में डूब पाएंगे, भक्ति तक पहुंच पाएंगे और इसलिए सूफियों ने पुनः संगीत को महत्व दिया। सद्‌गुरु ओशो ने संगीत को अत्यंत महत्व दिया है, क्योंकि भीतर हम जिस परमात्मा की खोज कर रहे हैं, वह भी संगीत स्वरूप ही है। बहुत सूक्ष्म, बहुत बारीक, अत्यंत जागरूक और शांत होंगे, तभी वह सुनाई देगा। लेकिन बाहर के संगीत के संग हम कुछ तो रिहर्सल या प्रैक्टिस कर सकते हैं। अतः बहिर्संगीत को उन्होंने ध्यान में जोड़कर अंतर्संगीत की तरफ मोड़ने का प्रयास किया।

मा मोक्षा– ओशो अनेक विधियों की चर्चा करते हैं। एक साधक उनमें से कोई विधि कैसे चुने जो उसके लिए उपयोगी हो, तथा कितने समय तक वह विधि करनी चाहिए?

स्वामी शैलेन्द्र जी– ओशो ने लगभग 100 से भी अधिक विधियों का निर्माण किया है। उनकी प्रसिद्ध किताब है 'ध्यान योगः प्रथम एवं अंतिम मुक्ति' अंग्रेजी में उसका शीर्षक है 'मेडिटेशनः दि फर्स्ट एण्ड दि लास्ट फ्रीडम।' इसमें ओशो द्वारा बताई गई मुख्य विधियां संकलित हैं। एक अन्य किताब है 'ध्यान विज्ञान', मैं चाहूंगा कि समस्त नए–पुराने साधक–साधिकाएं इस किताब को अवश्य पढ़ें। इसमें और बहुत–सी छोटी–छोटी विधियों का वर्णन है और उनको क्लासिफाइड किया गया है, वर्गीकृत किया गया है कि सुबह के लिए कौन–सी? दोपहर के पूर्व कौन–सी? दोपहर के पश्चात कौन–सी? शाम के लिए कौन–सी और रात को सोते समय कौन–सी विधि उचित होगी?

मैं दो–चार विधियों के नाम लेता हूं। विशेषकर जिनमें गहन जागरूकता साधनी है, साक्षी भाव साधना है, उनको सुबह किया जाए। उदाहरण के लिए डायनामिक मेडिटेशन या प्राणायाम वाली अन्य कोई प्रक्रिया हो, उनको सुबह किया जाए, क्योंकि उससे ऊर्जा का जागरण होगा और सजगता सधेगी। अगर ये विधियां हम रात को करते हैं, तब इनसे जागी हुई शक्ति सोने में बाधा बनेगी। सोने में तो हमारी जीवन ऊर्जा को शिथिल, शांत होना चाहिए, रिलेक्स्ड होना चाहिए ताकि नींद में जा सकें। प्राणायाम से जो शक्ति जाग जाएगी,

वह सोने में बाधा पहुंचाएगी, इसलिए रात को प्राणायाम या विपस्सना भी मत करना।

प्राणायाम वाली सारी विधियां सुबह के लिए हैं। रात के लिए ऐसी विधियां चुनना जो नींद में सहयोगी बनें, बाधक नहीं। उदाहरण के लिए एक विधि है, सूफी दरवेश नृत्य। इसमें गोल–गोल, गोल–गोल घूमते हैं। जैसे छोटे बच्चे कभी–कभी खेलते हुए घूमने लगते हैं। यद्यपि माता–पिता मना करते हैं कि बेटा ऐसा मत करो, गिर जाओगे, लेकिन फिर भी बेटा करता है। उसे रस आता होगा, कुछ आनंद आता होगा। वह रस क्या है?

एक अद्‍भुत सूफी फकीर हुए जलालुद्दीन रूमी। एक बार वह गोल–गोल घूमते ही गए, घूमते ही गए। तीन दिन तक लगातार घूमते ही रहे और जब वह गिरे धरती पर तीन दिन बाद तो वह समाधिस्थ हो गए। उन्होंने परमात्मा को जान लिया। यह छोटी–सी बच्चों की खेलने की विधि इसमें जरूर कुछ महत्त्वपूर्ण है, बच्चों को मना करने पर भी वे खेलते हैं। और आश्चर्य की बात है अन्य सब खेल तो किसी–किसी देश में, किसी खास जाति में, विशेष इलाके में खेले जाते हैं। जो पंजाब में बच्चे खेलते हैं, जरूरी नहीं कि साउथ इंडिया में उसी को खेलते हों। किसी देश में फुटबॉल प्रचलित है, किसी देश में बिल्कुल नहीं। किसी मुल्क में क्रिकेट बहुत खेला जाता है, कहीं क्रिकेट का नामोनिशान नहीं। ये मनुष्यों द्वारा निर्मित खेल हैं। किसी जाति में शतरंज का बड़ा महत्त्व है, किसी जाति में बिल्कुल भी नहीं।

कुछ खेल प्रकृति ने दिए हैं, मनुष्यों द्वारा र्निमित नहीं हैं, चाहे वह बच्चे आस्ट्रेलिया के हों, चाहे अफ्रीका के हों, चाहे साउथ अमेरिका के हों, चाहे एशिया के हों, चाहे यूरोप के हों। गोल–गोल घूमने में सबको मजा आता है। लुका–छिपी का खेल भी ऐसा ही है।

मैं एक बार गौर कर रहा था कि दो खेल सारी दुनिया में खेले जाते हैं, हर देश में खेले जाते हैं। ये किसी ने सिखाए नहीं, बच्चों ने उन्हें अपने आप इन्वेंट कर लिया। इसका मतलब कुछ नैचुरल इंसटिंक्ट उनके भीतर है। परमात्मा स्वयं ही लुका–छिपी का खेल खेल रहा है। छिप गया है और उसे हम ढूंढ रहे हैं, खोज रहे हैं और याद रखना हम यानी कौन? उसी का एक्सटेंशन! वही छुपा है और वही खोज रहा है। और ये गोल घूमने वाला अनूठा खेल!

यह ध्यान विधि 'सूफी दरवेश नृत्य' रात को की जाए, इसके पश्चात फिर खाना खाकर सोया जाए। बहुत अद्‍भुत और गहरी नींद आएगी, बड़ी ध्यानपूर्ण नींद हो जाएगी। उसमें गहन विश्राम होगा, डीप रिलेक्सेशन। दोपहर के लिए अलग विधियां हैं। थोड़ी देर पहले मैंने जिस कुण्डलिनी ध्यान का जिक्र किया, वह शाम के लिए चुनी गई है।

सुबह–शाम, ये दो खास साधना के समय हैं। नादब्रह्म विधि रात को सोते समय की जा सकती है या जो लोग सुबह जल्दी उठते हैं, वे उसका प्रयोग भोर में कर सकते हैं। रात को अगर कभी नींद खुल जाए अपने आप, जानबूझकर नहीं उठना अलार्म भरकर। खुद–ब–खुद नींद खुल जाए, उस समय आप नादब्रह्म ध्यान करके पुनः सो सकते हैं। नादब्रह्म ध्यान रात के लिए विशिष्ट है, सोते समय अथवा ब्रह्म मुहूर्त में अथवा अनायास कभी नींद खुल जाने पर।

इस प्रकार इन सारी विधियों को क्लासिफाई किया गया है विशेष–विशेष समय के

लिए। जैसे शास्त्रीय संगीत में रागों का हिसाब–किताब होता है, कौन–सा राग कब गाना है, कौन सा सुर कब लगाना है। ठीक ऐसे ही यह भी एक विज्ञान है ध्यान का। उस विज्ञान के अनुसार ही चलना चाहिए। उलटफेर कर दिया तो सब गड़बड़ हो जाएगी। कोई व्यक्ति रात को विपस्सना करके सोने लगा, तो उसकी नींद ही गायब हो जाएगी, अनिद्रा का शिकार हो जाएगा। साधने चला था जागरूकता, परिणाम बिल्कुल उल्टा होगा। जो व्यक्ति रातभर नहीं सो पाया, रातभर अपनी सांसें देखता रहा, वह दिनभर थका–मांदा महसूस करेगा, उबासी आएगी। लगेगा कि दिनभर नींद आ रही है। क्योंकि रात को वह सोया नहीं। इसलिए दोपहर के पहले–पहले तक विपस्सना कर लेना चाहिए, दोपहर के पश्चात नहीं।

इन छोटी–छोटी बातों का ध्यान रखना जरूरी है।

मा मोक्षा– ओशो ने कहा है कि हर चीज को, हर कृत्य को ध्यान में रूपांतरित किया जा सकता है। यह कैसे संभव होगा?

स्वामी शैलेन्द्र जी– जागरूकता एवं संवेदनशीलता की मात्रा बढ़ाकर यह संभव होगा। हम जो कुछ भी कर रहे हैं, उसमें कुछ न कुछ जागरूकता तो है। थोड़ी बढ़ाएं।

उदाहरण से समझें। मान लें एक व्यक्ति पूर्ण कोमा में पड़ा है। हम उसको स्ट्रेचर पर रखकर ले जाएं नदी के किनारे एक सुंदर बगीचे में। फिर घुमा–फिराकर उसे वापस उसी अंधेरे कमरे में ले आएं, जहां वह था। होश आने पर जब उससे पूछें कि तुमने क्या जाना? तो वह कहेगा कुछ भी नहीं जाना। मुझे तो कुछ भी नहीं पता।

उसको एनेस्थिसिया दिया गया था। होश बिल्कुल न था, लेकिन याद रखना थोड़ा–सा होश था, यह मर नहीं गया है। थोड़ा सा होश था उसको भी, बहुत कम था। लेकिन इतना नहीं कि नदी की कल–कल सुन सके, कि फूलों के रंग देख सके, कि उनकी सुगंध का अहसास कर सके, या तितलियों का आनंद ले सके।

एक दूसरा व्यक्ति है शराबी, वह भी उसी नदी के किनारे स्थित बगीचे से गुजरता है। वह नशे में डगमगाता चल रहा है। होश की मात्रा कोमा वाले से तो अधिक है, लेकिन सामान्य व्यक्ति से कम है। वह लड़खड़ाता है, गड्ढे में उसका पैर पड़ जाता है। पैर में मोच आ जाती है, फ्रैक्चर हो जाता है और एक बार तो ऐसा हुआ कि वह नदी में फिसल गया। उसे तैरना आता न था, मरते–मरते बचा। वह तो अच्छा हुआ कोई बचाने वाला वहां था और उसने बचा लिया। यह शराबी व्यक्ति बहुत आक्रोश में है कि न जाने किन दुष्टों ने यह बगीचा बनाया है? उसमें गड्ढे खोद रखे हैं, जिसमें पैर टूट जाता है और यह नदी तो ऐसी लगती है कि जान की दुश्मन है, मेरे प्राण लेकर रहती। वह तो अच्छा हुआ कि एक सज्जन वहां खड़े थे और उन्होंने बचा लिया।

यह शराबी केवल नकारात्मक चीजों से ही परिचित हो पा रहा है। हां, इस शराबी को गुलाब के फूल का पता न चलेगा, लेकिन गुलाब के कांटे इसको जरूर गड़ जाएंगे। यह बेहोशी में चल रहा है, ठीक से देख नहीं पा रहा है। इतना होश है कि शराबखाने से निकलकर यह अपने घर पहुंच जाता है। इसे पूर्ण बेहोश नहीं कह सकते, थोड़ा–बहुत होश

है। डगमगाता–लड़खड़ाता, अटकता–भटकता, आखिर अपने घर पहुंच ही जाता है। लेकिन कांटे गड़ गए उसको, नदी में मरते–मरते बचा, गड्ढे में उसका पैर मुड़ा, मोच आ गई।

अब तीसरे व्यक्ति को लें, एक सामान्य व्यक्ति। इसकी जागरूकता शराबी से ज्यादा है। यह कांटे से बच जाता है, गड्ढे से भी बच जाता है, नदी से भी बच जाता है और इसके मन में यह भाव नहीं आता कि दुश्मन जैसी है यह बगिया और नदी। यह चुपचाप वहां से गुजर जाता है। अब चौथे व्यक्ति की सोचें, जो कवि है या कोई चित्रकार है, वह भी इस दृश्य को देखता है और अवाक् रह जाता है, निर्विचार हो जाता है उसका चित्त। वह बहुत संवेदनशील है, उसके अंदर कोई काव्य उत्पन्न हो रहा है। अब वह गीत गाएगा या इस सुन्दर दृश्य का चित्र बनाएगा, वह नाच उठा है। इस चित्रकार को भिन्न–भिन्न रंग के फूल–पत्तियां दिखाई दे रहे हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए सारे पौधे हरे रंग के थे। इस चित्रकार के लिए हरे रंग में भी बहुतेरी विविधताएं हैं। कई प्रकार के हरे रंग हैं। हरा रंग एक रंग नहीं है, बहुत शेड्स हैं।

इतने सारे फूल हैं, तितलियां उड़ रही हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं, नदी की प्यारी कल–कल ध्वनि हो रही है। सूरज उगा है। नदी की लहरों पर किरणों की चमक– जैसे सारे वातावरण में चांदी फैल गई हो। पक्षियों के गीत...। व्यक्ति वहां बैठकर उस दृश्य को भरपूर जी रहा है। निश्चित रूप से इसकी जागरूकता को, इसके ध्यान को हम क्या कहेंगे?

ध्यान को आप पर्यायवाची कर दीजिए जागरूकता से, चैतन्यता से, अवेयरनेस, सेंसिटीविटी से। यह व्यक्ति सामान्य व्यक्ति से ज्यादा सेंसिटिव है, ज्यादा संवेदनशील है। इसने वहां उस दृश्य के पॉजीटिव पक्ष को देखा। सामान्य व्यक्ति तो उपेक्षा करके गुजर गया था। उसके लिए फूल, तितलियां और भौंरे, कोई खास महत्व नहीं रखते, एक नजर पड़ी थी बस। उससे पूछेंगे कि क्या देखा? वह बता देगा क्या देखा। लेकिन कुछ खास उसने देखा नहीं। वास्तव में उस संवेदनशील, सृजनशील व्यक्ति ने उससे बहुत ज्यादा देखा, सुना और सूंघा। क्योंकि इसके भीतर ध्यान की क्षमता, जागरूकता बहुत सघन है– चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही। हो सकता है वापस फिर यह सामान्य व्यक्ति बन जाए, इसलिए वह 24 घंटे कवि नहीं रहता। चित्रकार भी हमेशा उस चेतना की ऊंचाई पर नहीं जीता।

कुछ क्षण होते हैं उनके जीवन में, जब उनकी चेतना अपने उत्कर्ष पर पहुंच जाती है। लेकिन फिर वापस उस चोटी से नीचे उतर आते हैं और उनका अधिकांश जीवन अंधेरी खाई में ही बीतता है। लेकिन बीच–बीच में बहुत ऊंची उड़ान उनकी चेतना भरती है। तो इसको हम कहेंगे ध्यान की उड़ान– अनजाने में। उनको नहीं पता कि वे ध्यान कर रहे हैं, लेकिन वे वहां निर्विचार, शांत होकर सुन रहे थे, देख रहे थे। वे ध्यानस्थ ही हो गए थे।

अब इसके और आगे हम चलें। समझो बुद्ध या महावीर उस बगीचे से गुजरते हैं, नानक या कबीर गुजरते हैं, ये क्या जानेंगे? हमें अनुमान लगाना भी मुश्किल है। इनकी चेतना तो सदा ही क्लाइमैक्स पर रहती है। कवि में वह सृजनशील चेतना कभी–कभार छलांग लगाकर जहां पहुंचती थी और वापस गुरुत्वाकर्षण उन्हें नीचे खींच लेता था, इन

लोगों ने तो ऊपर ही अपना निवास स्थान बना लिया है।

पौराणिक कथाओं में आता है कि भगवान शिव कैलाश पर रहते हैं। इसका मतलब क्या है? प्रतीकात्मक रूप से, काव्यात्मक रूप से जो सबसे ऊंची जगह है, चेतना का शिखर, वहां पर उनका निवास स्थान है। ऐसा नहीं कि वे घूमने के लिए गए और वापस आए। चित्रकार, कवि, संगीतकार ये घूमने के लिए गए थे पर्यटक की भांति। शिव निवास ही वहां करते हैं। तो जब हम कहते हैं शिवत्व, बुद्धत्व, भक्त की अवस्था, इसका मतलब है कि उनका निवास स्थान उस परम चैतन्य में हो गया। ज़रा सोचो, उस बगीचे से गुजरते हुए ये क्या जानेंगे? ओशो इसको कहते हैं महाभोग। ये जिसको जानेंगे, जिस संगीत को सुनेंगे, उसकी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन इन चार-पांच उदाहरणों में अगर एक ग्राफ खींचे। क्रमशः कोमा में पड़ा आदमी, शराबी, सामान्य व्यक्ति फिर सृजनशील व्यक्ति के इस ग्राफ को हम और आगे बुद्ध तक ले जाएं तब ज्ञान की क्षमता क्रमशः बढ़ती ही चली जाएगी। निश्चित रूप से ये लोग बहुत कुछ अद्भुत जानेंगे।

ओशो कहते हैं कि अपने सारे जीवन को ध्यानमय कर दो, तो उनका तात्पर्य है कि तुम उस चेतना के शिखर पर जीना शुरू करो। तुम सदा-सदा वहीं रह सकते हो, यह संभव है। कुछ लोगों के जीवन में हो गया, तो सबके संग क्यों नहीं हो सकता? सिर्फ थोड़े से अभ्यास की बात है। तो जागरूकता को साधें, ध्यानमय होकर जीना शुरू करें। चलो घंटेभर से शुरुआत करते हैं, धीरे-धीरे उसको फैलाएंगे, चौबीस घंटे पर वह फैल जाएगा। तब हम पाएंगे अद्भुत घटना घटी। जीवन में एक महाभोग, परम भोग शुरू हुआ। वास्तव में हम अपना जीवन जी ही अब रहे हैं। इसके पहले तो नाममात्र को ही हम जी रहे थे।

मा मोक्षा- एक प्यारी बात सुनी है ओशो के प्रवचनों में, वे कहते हैं कि 'कर्म ही पूजा बन जाए। वर्क इज वर्कशिप।'

यह कैसे संभव है?

स्वामी शैलेन्द्र जी- अभी हम चर्चा कर रहे थे न, चौबीस घंटे पर अगर हमारी जागरूकता फैल जाए, हमारा प्रेम फैल जाए। प्रेम भी बंधा हुआ न रहे कि कुछ दो-चार व्यक्तियों से ही है, कि दो-चार मित्रों से है बस। प्रेम भी हमारा फैलता जाएगा। जैसे-जैसे जागरूकता घनी होगी, वह प्रेम भी विस्तीर्ण होता चला जाएगा। वह व्यक्ति की तरफ नहीं, बल्कि पूरी समष्टि की तरफ हो जाएगा। वह प्रीति भक्ति बन जाएगी और तब ऐसे व्यक्ति का पूरा जीवन ही एक पूजा बन जाएगा।

कबीर साहब के उदाहरण से ले लें। जुलाहे थे, जिंदगी भर जुलाहे रहे, कपड़ा बुनते रहे, बाजार में जाकर बेचते रहे। फिर तो उनके बहुत सारे शिष्य हो गए थे। बहुत अमीर लोग भी थे और वे उनसे बार-बार निवेदन करते थे कि गुरुदेव हमें अच्छा नहीं लगता कि आप ऐसे क्षुद्र काम करते हैं और बाजार में जाकर बेचते हैं कपड़ा। आप जैसा अद्भुत आदमी यह

छोटा–सा काम करे, शोभा नहीं देता। हम इतने सारे शिष्य हैं, हम लोग आपके भरण–पोषण का इंतजाम करेंगे, आपके परिवार के लिए सुविधा जुटाएंगे। आप यह काम छोड़ दें। कबीर हंसते और कहते कि कैसे छोड़ दूं? प्रभु ने जो कार्य करने के लिए मुझे भेजा है वह तो मेरी पूजा है, मेरी आराधना है, मेरी अर्चना है। इसको भला कैसे छोड़ दूं?

उन्होंने कभी काम न छोड़ा। जिंदगीभर कबीर साहब कपड़े बुनते रहे और बेचते रहे, यह उनकी पूजा थी। वह किसी मंदिर में न गए, किसी मूर्ति के आगे न झुके, किसी मस्जिद में न गए, कभी नमाज न पढ़ी, किसी चर्च में न गए, किसी गुरुद्वारे में न गए। लेकिन उनका पूरा जीवन ही पूजा रहा। दो तत्वों से– जागरूकता अर्थात् ध्यान का फैल जाना और परम प्रीति अर्थात् भक्ति का फैल जाना। उनका छोटा–से–छोटा कर्म, वह जो कपड़े का एक–एक धागा बुन रहे हैं, वह सब प्रेमसिक्त है। उनका सुप्रसिद्ध गीत सुना होगा आपने–

'राम नाम रस भीनी चदरिया, झीनी रे झीनी चदरिया।'

एक–एक धागे में राम रस बुन गया, ध्यान बुन गया। उनका प्रार्थना भाव, उनका अहोभाव बुन गया। शाम को जब बाजार में जाते तो ग्राहक से कहते– राम, बहुत सुन्दर कपड़ा है, तुम्हारे लिए ही बनाया है, जरूर ले जाओ। ग्राहक हैरान होते हैं, वे कहते हैं मेरा नाम राम नहीं है। लेकिन कबीर साहब तो सभी को वही संबोधन करते। उनके लिए तो सब परमात्मा है। इस परमात्मा के लिए वस्त्र का आयोजन करना, यही उनकी अर्चना है।

संत रविदास जूते बनाने का कार्य करते थे। जिंदगी भर बनाते रहे। इसलिए नहीं कि जरूरत थी, आवश्यकता थी, यह उनकी मौज है, यह उनकी मस्ती है। प्रभु ने यह काम दिया है, तो बखूबी निभाएंगे। जो भी जिम्मेदारी है, वही आराधना बन जाएगी।

ओशो कहते हैं कि जब तुम चौबीस घंटे ध्यान पूर्वक, भक्तिभाव पूर्वक जीने लगते हो तब कार्य ही पूजा बन जाता है। अलग से कोई विधि–विधान करने की जरूरत नहीं रह जाती। ध्यान और प्रेम जहां है, वहां हर कर्म आराधना है, प्रभु चरणों में अर्पित पूजा का फूल है। और कौन से पुष्प परमात्मा के कदमों में चढ़ाओगे!

मा मोक्षा– सद्‌गुरु ओशो ने जीवन को कितनी महिमा दी! जीवन के साधारण से साधारण कार्य को भी हमारे लिए असाधारण, अद्वितीय, अद्‌भुत कृत्य बना दिया; कितनी गरिमा से भर दिया।

दर्शक मित्रो, ये बातें केवल बातचीत में रस लेने के लिए नहीं हैं। अपनी जिंदगी में उतारने के लिए हैं। ये फिलासफी नहीं, जीवन रूपांतरण के सूत्र हैं। संत कबीर और रविदास जैसा ही सुंदर, अत्यंत पावन जीवन हम सबका हो पाए, इन्हीं शुभकामनाओं सहित, शुभ रात्रि। जय ओशो।

जीवन ही है प्रभु

मा मोक्षा— गुरुदेव, पिछली कड़ी में बात हुई थी कि कैसे ओशो ने कर्म ही पूजा है (वर्क इज वर्शिप) बताया। छोटे-छोटे कृत्यों को ध्यान एवं प्रेमभाव से जोड़ा। क्या ओशो की नजर में पूरा जीवन ही धर्म का केंद्रबिंदु है?

ओशो शैलेन्द्र जी— निश्चितरूपेण ऐसा ही सत्य है। आपने बहुत अच्छी बात उठाई। ओशो के दृष्टिकोण में 'जीवन' ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उनकी एक किताब का शीर्षक है 'जीवन ही है प्रभु और न खोजना कहीं।'

मैं इस संदर्भ में प्रचलित धर्मों के बारे में थोड़ी-सी चर्चा करना चाहूंगा। हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, मुस्लिम धर्म इन सब प्राचीन धर्मों में ईश्वर धर्म का केंद्रबिंदु रहा। यदि ईश्वर को हटा लो तो धर्म की बुनियाद ही खिसक जाती है। फिर इसके बाद दूसरे धर्म आए। उदाहरण के लिए महावीर का जैन धर्म। ईश्वर तो नहीं है उसका केंद्र। परमात्मा को इंकार कर देते हैं; लेकिन आत्मा धर्म का केन्द्रबिंदु बन जाती है। आत्मज्ञान की साधना ही सारे धर्म का लक्ष्य हो जाता है। बात पूरी बदल गई।

फिर आए भगवान गौतम बुद्ध। बौद्ध धर्म में केंद्रबिंदु फिर परिवर्तित हो गया। बुद्ध कहते हैं— न कोई परमात्मा है, न कोई आत्मा है; भीतर एक महाशून्य है। उस शून्य गगन को जानना ही धर्म का लक्ष्य है। बुद्ध और महावीर के पहले यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि बिना ईश्वर के कोई धर्म हो सकता है। कि नास्तिक धर्म हो सकता है?

पश्चिम के विचारक और विद्वान आज चिंतन करते हैं, कई किताबें इस संदर्भ में लिखी गई हैं। क्या बिना भगवान के भी कोई धर्म हो सकता है? उन्हें पता ही नहीं है कि ढाई हजार साल पहले हो चुका। तो जैन धर्म में ईश्वर की जगह आत्मा केंद्र बनी। बौद्ध धर्म में शून्य केन्द्र बना।

करीब 6 सौ वर्ष पूर्व आए गुरु नानक देव जी और संतों की एक परंपरा चली, जिसमें ओंकार साधना प्रमुख केंद्र हो गई। न तो ईश्वर, न आत्मा, न शून्य, बल्कि 'एक ओंकार सतनाम।' तब गुरु-शिष्य संबंध सर्वाधिक प्रमुख हो गया। गुरु उस सतनाम की शिक्षा अपने शिष्य को दे, प्रणव में डूबने की विधि बताए, शिष्य उसमें डूबे। इस प्रकार लक्ष्य हो गया उस सतनाम को जानना और उसके साथ एकात्म हो जाना।

फिर आते हैं ओशो आधुनिक युग में और पुनः अध्यात्म में एक विराट मोड़, महा-परिवर्तन लाते हैं। वे कहते हैं 'जीवन ही है प्रभु।' जीवन के प्रति प्रेम, जीवन के प्रति सम्मान, छोटे-छोटे कर्मों को जागरूकतापूर्वक, प्रेमपूर्वक करना, भक्तिभाव से जीना। जीवन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हुआ। निश्चित रूप से ओशो की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा, शून्य, ओंकार या अन्य दिव्य अनुभव; उन सबकी अपेक्षा जीवन सर्वोपरि है। इसलिए कर्म ही पूजा बन जाए, ऐसा उनका संदेश है। और जीवन को ही हम परमात्म स्वरूप देखें। अगर परमात्मा शब्द का उपयोग करना है, तो कोई हर्जा नहीं है; लेकिन याद रखना जीवन ही है प्रभु, अर्थात् यह संपूर्ण अस्तित्व! ओशो के प्रवचन में बार-बार 'अस्तित्व' शब्द आता है 'दि होल एक्जिस्टेंस।' पुरानी भाषा में उसी को ब्रह्म या परमात्मा कहते थे।

नई भाषा में आज के व्यक्ति को जो हजम हो सके वह शब्द है अस्तित्व, वह है एक्जिस्टेंस, वह है जीवन, वह है जीवंतता। जीवन शब्द उपयोग में आने से ही साधना क्या होगी, यह भी समझ में आ जाता है- जीवंतता, संवेदनशीलता। संवेदनशीलता में दोनों चीजें जुड़ी हुई हैं। संवेदनशीलता का एक पहलू है जागरूकता और दूसरा पहलू है प्रेमपूर्ण होना। ओशो कहते हैं कि मेरे शिष्य के, मेरे संन्यासी के पक्षी के दो पंख हैं। जैसे कोई पक्षी दो पंखों से उड़ता है, जैसे किसी नाव को दो पतवारों से खेते हैं। ठीक इसी प्रकार वे कहते हैं कि संन्यास के पक्षी के दो पंख हैं- ध्यान और प्रेम। अगर दोनों को एक शब्द में शामिल करना हो तो वह है संवेदनशीलता। उसमें जागरूकता भी चाहिए और प्रेमभाव भी चाहिए।

इस तरह ओशो के संग 'जीवन की कला' ही धर्म बन गई। उसके पहले तक जितनी बातें थीं, बहुत-कुछ हवाई चर्चाएं थीं। आकाश-कुसुम, दार्शनिक बातें थीं। ऐसा लगता था कि बौद्धिक सिद्धांत वाली तार्किक प्रतीत होने वाली बातें हैं। मगर इनका अनुभव कैसे होगा? ओशो के साथ चीजें बहुत सरल हो गईं। जीवन का अनुभव हम सबको हो ही रहा है। हमारे भीतर जीवन ऊर्जा है, व्हाइटल फोर्स है, उसका अहसास हो ही रहा है। अब इसी को थोड़ा और विकसित करना है, परिशुद्ध करना है, प्योरिफाई करना है बस।

ओशो के संग साधना बिल्कुल सुस्पष्ट हो गई। अपनी जिंदगी को प्रेमपूर्वक, आत्म-स्मरण के साथ, आनंदमग्न होकर जीना है। त्याग-तपस्या, अन्य धार्मिक समझे जाने वाले क्रियाकांडों की कोई आवश्यकता नहीं है। जीवन को ही सुंदर, प्रीतिकर बनाना है। सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की दिशा में जिंदगी को निखारना है। प्रकृति से मिली भावनाओं में मिश्रित हैं- सदभावनाएं और दुर्भावनाएं। हमें मंथन करके अमृत-विष पृथक करने हैं।

मा मोक्षा– ओशो कहते हैं कि उनके संन्यासी के दो पंख हैं– ध्यान और प्रेम। हम ध्यान की तो काफी चर्चा कर चुके हैं, आज हम प्रेम के संबंध में ओशो का क्या नजरिया है, उस पर बात करना चाहेंगे। तो सबसे पहले प्रेम के अलग–अलग रूप क्या हैं, उनको समझाने की कृपा कीजिए।

स्वामी शैलेन्द्र जी– प्रेम के चार रूप तो बहुत स्पष्ट हैं। ओशो की एक प्रसिद्ध किताब है 'अथातो भक्ति जिज्ञासा', जिसमें उन्होंने महर्षि शांडिल्य के सूत्रों पर व्याख्या की है। ओशो कहते हैं, चार प्रकार की प्रीति हैं। इसमें तीन लौकिक हैं और एक पारलौकिक है। प्रथम वे कहते हैं वात्सल्य भाव, करुणा भाव, सहयोग करने की इच्छा, मंगल कामना। किसी को सपोर्ट करना, समर्थन देना, सहारा देना। जैसे छोटे के प्रति, बच्चों के प्रति, शिष्यों के प्रति, विद्यार्थियों के प्रति, जो हमसे कमजोर हैं उनके प्रति। प्रीति के इस रूप में अहंकार भी ज़्यादा होता है, क्योंकि हम एक ऊंची पोजीशन में होते हैं और जिसको हम सहयोग पहुंचा रहे हैं, वह हम पर आश्रित है। दूसरी सीढ़ी है प्रीति की– मैत्री भाव। अपने बराबर वालों के प्रति। पति–पत्नी के बीच, प्रेमी–प्रेमिका के बीच, भाई–भाई के बीच, भाई–बहन के बीच, मित्रों के बीच, सहकर्मियों, सहपाठियों के बीच, जो हमारे बराबर वाले हैं। हम ऊपर–नीचे नहीं हैं। छोटा बच्चा पूरी तरह आश्रित था। जरूर मां उसे प्रेम करती थीं, बड़ी ममता देतीं थीं। वात्सल्य भाव था, करुणा भाव था। लेकिन मां बहुत शक्तिशाली है, बच्चा बहुत कमजोर है। किंतु बराबर वाले के साथ प्रेम में, मैत्री में अहंकार घटेगा। अन्यथा अहंकार का संघर्ष चलेगा।

इसलिए हम देखते हैं कि प्रेम संबंधों में, जो बराबर वालों के साथ नाता है, एक कलह और क्लेश भी हमेशा चलता रहता है। उसका कारण 50 परसेंट प्रेम है, 50 परसेंट अहंकार है। वात्सल्य में अहंकार बहुत घना था, अब मैत्री में पचास–पचास प्रतिशत बचा। जितनी प्रीति है उतनी सुख–शांति मिलेगी और जितना अभिमान है उतना क्लेश व दुःख मिलेगा।

प्रीति का तीसरा रूप है अपने से बड़ों के प्रति। हम जिन्हें आदर देते हैं, सम्मान करते हैं, जिन पर श्रद्धा रखते हैं, जिन पर हमें भरोसा है। माता–पिता हैं, शिक्षक हैं, बुजुर्ग हैं, गुरुजन हैं, इनके प्रति श्रद्धा का भाव है। अब प्रेम एक सीढ़ी और ऊपर चढ़ा। अब हमें झुकना होगा, हम समर्पित होंगे, हमें ट्रस्ट करना होगा। कोई हमसे ज्यादा समझदार है, कोई हमसे ज्यादा आगे है, कोई हमसे ज्यादा अनुभवी है। अब हम उसकी बात सुनकर चलेंगे। निश्चित रूप से अहंकार को झुकना होगा। श्रद्धा भाव में अहंकार 25 फीसदी, बहुत कम बचता है।

इसके आगे चौथी सीढ़ी है प्रीति की– भक्तिभाव। श्रद्धा किसी व्यक्ति विशेष के प्रति थीं, अब यही प्रेम और आगे बढ़कर समष्टि के प्रति लगने लगा। समस्त अस्तित्व के प्रति कह लो, संपूर्ण जीवन के प्रति। इसका नाम है भक्ति, डिवोशन।

श्रद्धा एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। प्रेम सीढ़ियों से चढ़ता हुआ धीरे–धीरे, क्रमशः लौकिक से पारलौकिक हो जाता है। श्रद्धा को गौणी भक्ति भी कहा जाता है। अन्य शब्दों में समष्टि अर्थात संपूर्ण जीवन के प्रति प्रीति को पराभक्ति कहा जाता है।

इस प्रकार प्रेम की ये चार सीढ़ियां समझाई हैं सदगुरु ओशो ने।

मा मोक्षा– लौकिक प्रेम के संबंध में ओशो के आसपास बहुतेरी कंट्रोवर्सिज उठीं। वे क्यों उठीं? ऐसा क्या उन्होंने अलग करने की कोशिश की जिस वजह से ओशो बीसवीं सदी के सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति बन गए?

स्वामी शैलेन्द्र जी– पुराने धार्मिक लोगों ने प्रेम को इंकार कर दिया था। एक प्रकार से वे लोग जीवन के ही विरोधी थे। वे त्याग सिखाते थे– परिवार छोड़ दो, घर छोड़ दो, भाई–बहनों को छोड़ो, माता–पिता को त्यागो, पत्नी–बच्चों को छोड़ दो, भाग जाओ जंगल में, गुफा में, एकांत में जाकर बैठो। पुराने धर्म यही सिखाते थे। इसके भिन्न–भिन्न रूप हम अलग–अलग धर्मों में देख सकते हैं। वे सभी जीवन विरोधी, लाइफ निगेटिव थे।

प्रेम जीवन का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। जीवन विरोधी धर्म, प्रेम विरोधी थे, इसलिए परिवार विरोधी थे, समाज विरोधी थे, एकांत के पक्षधर थे। ओशो चूंकि जीवन के पक्ष में हैं, उन्होंने अपने धर्म का केंद्र ही जीवन को चुना। तो वे भला प्रेम के विरोध में कैसे हो सकते हैं? वे प्रेम के उपरोक्त चारों रूपों को सम्मान सहित स्वीकारते हैं। ये क्रमिक सोपान हैं। हम एक–एक सीढ़ी ही चढ़कर जा सकते हैं। अगर हम नीचे की सीढ़ी को इंकार कर दें, फिर ऊपर की सीढ़ी पर हम कैसे पहुंचेंगे? निश्चित ही प्रेम, शुरुआत में अहंकार मिश्रित होगा, वासना जनित होगा, कई और अशुद्धियां उसमें होंगी। लेकिन धीरे–धीरे शुद्धिकरण होगा।

प्रेम के सारे रूपों को ओशो ने स्वीकारा और उनको सोपान की तरह माना। आखिरी मंजिल तक जाने के लिए नीचे के सोपान भी जरूरी हैं। मानव इतिहास में पहली बार ही ऐसा विराट पैमाने पर हुआ। पहले छोटे–मोटे रूप में हुआ था। उदाहरण के लिए सूफ़ी फ़कीर बायजिद का ज़िक्र आता है कि एक युवक उसके पास आया। बहुत कठोर–सा नजर आ रहा था। वह कहने लगा कि मैं ईश्वर को जानना चाहता हूं, मुझे परमात्मा तक पहुंचने का मार्ग बताएं। बायजिद ने गौर से देखा और पूछा– क्या तुमने जीवन में किसी को प्रेम किया है? उसने कहा– नहीं, बिल्कुल नहीं। मुझे सिर्फ परमात्मा से लगाव है और किसी से नहीं। मुझे ईश्वर तक जाने का मार्ग बताइए।

बायजिद ने कहा– फिर एक बार सोच लो, माता–पिता को, पत्नी को, बच्चों को, किसी फूल को, किसी वृक्ष को, किसी पशु–पक्षी को, कभी किसी से लगाव रहा है? उसने कहा– बिल्कुल नहीं। मैं संसार से प्रेम करता ही नहीं हूं। मैं तो बस परमात्मा का दीवाना हूं।

बायजिद की आंखों में आंसू आ गए। उसने कहा– माफ करो, अगर थोड़ा–बहुत प्रेम तुम्हारे दिल में होता, तो मैं उस धारा को सागर तक बहाकर ले जाता, सरिता बन सकती

थीं। लेकिन तुम बिल्कुल ही चट्टान हो, तुम्हारे चेहरे से ही दिख रहा था पाषाण-हृदय। मैं तुम्हारे जैसे संग-दिल की कोई मदद नहीं कर सकूंगा।

प्रेम ही प्रार्थना बन सकता है, प्रेम ही आगे चलकर परमात्मा तक पहुंच पाता है।

ईसा मसीह कहते हैं 'परमात्मा प्रेम है।' ओशो ने इस वचन को ही पलट दिया। ओशो कहते हैं- 'प्रेम परमात्मा है।' जैसे वे कह रहे हैं- 'जीवन ही है प्रभु।' वैसे ही उन्होंने प्रेम को भी बहुत महत्व दिया। जीवन का मतलब ही है प्रेमपूर्ण होना। प्रेम के बिना कोई जीवन नहीं हो सकता। जीवन की शुरुआत ही प्रेम से हुई है, जीवन का मध्य भी प्रेम है, जीवन का अंत भी प्रेम है। तो ओशो ने प्रेम को स्वीकारा- उसके सब रूपों में। निश्चित रूप से उसमें मैत्री भी आ गई, उसमें प्रेमी-प्रेयसी भी आ गए, उसमें पति-पत्नी भी आ गए। ओशो ने घर-गृहस्थी को, परिवार को स्वीकारा बड़े पैमाने पर। छोटे पैमाने पर बात हुई थीं पहले भी, लेकिन कभी विस्तीर्ण रूप उसका प्रकट नहीं हुआ था।

उदाहरण के लिए हमारे देश में संत कबीर साहब पहले व्यक्ति हैं जो घर-गृहस्थी में रहते हुए परमात्मा को पा लिए। उनके बाद गुरु नानक देव जी का नाम उल्लेखनीय है। उनके बाद सिक्ख परंपरा के अन्य नौ गुरु साहिबान हैं। और इस बीच मध्य युग में बहुत सारे संत हुए, जो घर-गृहस्थी में रहते हुए, अपना काम-धाम करते हुए, अपना व्यवसाय-नौकरी करते हुए, पारिवारिक जीवन जीते हुए परमानंद को पा लिए- जीवन को त्यागे बिना।

सौ-डेढ़ सौ साल पहले रामकृष्ण परमहंस हुए। वे शादीशुदा थे। ज़िंदगी भर अपनी पत्नी के संग रहे। परिवार को नहीं त्यागा और परमभक्त हो गए। स्वयं भगवान स्वरूप हो गए। इस प्रकार धीरे-धीरे बात बन रहीं थीं। ओशो ने इसको एक लॉजिकल कन्क्लूज़न पर, तार्किक निष्पत्ति पर पहुंचाया कि जीवन ही है प्रभु, प्रेम ही है परमात्मा। इसको छोड़ना नहीं है, त्यागना नहीं है बल्कि इसको जागरूकतापूर्वक जीना है, ताकि यह शुद्धिकृत हो सके, प्योरिफाइड हो सके। जो-जो अशुद्धियां इसमें मिल गई हैं, उनसे हम मुक्ति पा सकें, ताकि शुद्ध प्रेम बचे। वही असली भक्ति है। यही वजह बन गई समस्त विवादों की।

मा मोक्षा- कामनायुक्त प्रेम और विवाह के बारे में ओशो का क्या नजरिया है?

स्वामी शैलेन्द्र जी- ओशो का कहना है कि प्रेम पहले होना चाहिए, विवाह बाद में। हमारे समाज में उल्टा चल रहा है। पहले हम शादी कर देते हैं एक युवक-युवती की और फिर हम उम्मीद करते हैं कि अब इनमें प्रेम उत्पन्न हो जाएगा। निश्चित रूप से संग-साथ रहने से, साहचर्य से एक प्रकार का लगाव उत्पन्न हो जाता है; लेकिन वह वास्तविक प्रेम तो नहीं है। किसी पशु को पालो, तो उसके साथ भी एक लगाव हो जाता है। आपके बगीचे में एक पेड़ लगा है, उसके साथ भी प्रीति लग जाती है। ओशो ने कहा कि मैं प्रेम को प्राथमिकता देता हूं। इसको ऐसे समझ लें एक उदाहरण से- बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी है, उसमें घोड़ा या बैल आगे होता है, गाड़ी पीछे होती है; तब गाड़ी ठीक चलती है। अगर हम

उल्टा करें कि घोड़े या बैल को पीछे जोत दें और गाड़ी आगे रखें, तब क्या यह गाड़ी चल पाएगी?

ऐसा ही विवाह को समझ लीजिए। अगर प्रेम आगे हो और विवाह पीछे हो, फिर पूरी परिवार व्यवस्था उसके साथ मजे से चलती है। गाड़ी बहुत अच्छी चलेगी गृहस्थी की। किंतु गाड़ी हमने पहले खड़ी कर दी, प्रेम को पीछे जोतने की कोशिश की, ऐसा प्रकृति के हिसाब से हो नहीं सकता। यह करीब–करीब नामुमकिन है।

हां, संभव है कि चार–पांच प्रतिशत लोगों के जीवन में प्रेम उत्पन्न हो जाए, संयोग की बात है वह। ऐसे पति–पत्नी मिले कि उनका निकट का संबंध हो सकता है, ह्रदय से ह्रदय जुड़ सकता है। चार–पांच प्रतिशत से ज्यादा नहीं हो सकता। लेकिन 95 प्रतिशत लोगों के जीवन में तो गृहस्थी बड़ा दुःख का और नर्क का कारण बन जाएगी और वही सारी दुनिया में हुआ है– विशेषकर हमारे पूरब के देशों में। केवल दो–चार प्रतिशत लोगों के जीवन में सांयोगिक सुख होगा, गृहस्थ जीवन में स्वर्ग बस पाएगा। शेष नर्काग्नि में दग्ध होते रहेंगे।

इस दुखद स्थिति को पलटना निहायत जरूरी है।

ओशो का एक व्याख्यान है– **'प्रेम और विवाह'** उसमें उन्होंने खूब अच्छे से विश्लेषण किया है, इसका पूरा मनोविज्ञान समझाया है। प्रेम पहले होना चाहिए, विवाह बाद में। दो व्यक्ति प्रेम में हैं आपस में... तो जल्दी न करें, थोड़ा समय लें, धीरज रखें। क्योंकि कामना का आकर्षण जल्दी ही समाप्त हो जाता है, वह टिकता नहीं है। अगर सच्चा प्रेम है तो ही वह दीर्घकाल तक टिकेगा। इसलिए थोड़ा धैर्य रखें, शादी की शीघ्रता न करें। परिपक्व समय आने पर, पारस्परिक समझ विकसित होने पर ही शादी करें।

जब पक्का विश्वास पैदा हो जाए कि वास्तव में हम एक–दूसरे को चाहते हैं, हम एक–दूसरे के संग रह सकते हैं जीवनभर। तभी साथ रहने का निर्णय करें। तब यह विवाह ज़िंदगी भर चलेगा और इसमें सदा प्रेम की सुगंध और मैत्री की सुवास रहेगी। तब इनका घर स्वर्ग बन सकेगा।

ओशो की ऐसी साफ–सुथरी दृष्टि प्रेम और विवाह के संबंध में है। उनकी विख्यात प्रवचनमाला 'संभोग से समाधि की ओर' पुस्तक एवं सीडी रूप में भी उपलब्ध है। दर्शकों से निवेदन है कि अवश्य पढ़ें, सुनें, गुनें। नासमझ रूढ़िवादियों के द्वारा फैलाई गई अफवाहों के शिकार न बनें। स्वयं अध्ययन–मनन–चिंतन करके निष्कर्ष निकालें।

इन पांडित्यपूर्ण पादरियों ने तो वैज्ञानिकों तक को जिंदा जलाया है। पर अंततः कौन जीता? सत्यमेव जयते। ओशो भी जीवन के, चेतना के, अध्यात्म के क्रांतिकारी वैज्ञानिक हैं, अतः विवादास्पद होना ही ऐसे मनीषी की नियति थी, है, और रहेगी।

मा मोक्षा– निश्चित ही आने वाला वक्त उनका होगा। ६
ान्यवाद। जय ओशो।

काम, प्रेम और विवाह

मा ओशो मोक्षा–गुरुदेव, पिछली कड़ी में चर्चा का बिषय था– प्रेम के संबंध में ओशो का नजरिया। एक दर्शक का प्रश्न आया है कि काम, प्रेम, विवाह आदि तो संसारी विषय हैं लेकिन सद्गुरु ओशो इसे धर्म के साथ क्यों जोड़ते हैं?

ओशो शैलेन्द्र जी– हम पहले ही बात कर चुके हैं कि ओशो समस्त जीवन को ही धर्म का क्षेत्र मानते हैं। ठीक ढंग से जीने की कला, जागरूकतापूर्वक, प्रेमपूर्वक जीना; इसी को ही वे धर्म कहते हैं। वे कोई मूर्तिपूजा नहीं सिखाते, कोई प्रार्थना नहीं सिखाते, तीर्थयात्रा तथा व्रत–उपवास करना नहीं सिखाते। प्राचीन युग में धर्म की जो परिभाषा रही हैः त्याग–तपस्या, ओशो उसके सख्त विरोधी हैं।

उनकी नवीन परिभाषा के अंतर्गत जीवन, प्रेम एवं मानवीय संबंध अति–महत्वपूर्ण हो जाते हैं। वे जीवन के प्रमुख अंग हैं। काम जीवन की बुनियाद है, वहीं से जीवन की शुरूआत होती है। उसे कैसे इंकार किया जा सकता है? ओशो हर चीज को जागरूकता पूर्वक जीने की कला सिखाते हैं। उसमें सब कुछ शामिल है। वे कहते हैं, जब तुम क्रोध करो तो होशपूर्वक करना और तुम पाओगे कि तुम्हारे भीतर रूपांतरण होने लगा। जब तुम कामवासना में उतरो तो होशपूर्वक जाना, तुम्हारा होश न छूटे, मूर्च्छा न घेर ले और तब तुम पाओगे कि तुम्हारे भीतर रूपांतरण होने लगा। एक आध्यात्मिक क्रांति घटित होने लगी।

ओशो इसको दो हिस्सों में नहीं बांटते, जैसा कि पुराने धर्मों ने बांटा था कि ये–ये चीजें सांसारिक हैं और ये–ये चीजें आध्यात्मिक हैं। ओशो कहते हैं कि यह संसार ही परमात्मा है– प्रेम की नजरों से देखा गया। बिना प्रेम के देखा गया प्रभु ही संसार नजर आता है। परमात्मा और संसार ऐसी दो चीजें नहीं हैं। एक ही चीज है, एक ही है परम सत्य। जब तुम प्रेम भरी नजरों से, भक्तिभाव भरी नजरों से देखते हो, तब वह परमात्मा नजर आता है। और जब बिना प्रेम के परमात्मा को देखते हो, तो वह संसार नजर आता है। ओशो के दृष्टिकोण में यह विभाजन नहीं है कि क्या सांसारिक है, लौकिक है; और क्या पारलौकिक है। वे तो पूरे अस्तित्व को, संपूर्ण जीवन को अखंड सत्य जानते हैं– अद्वैत, अविभाज्य!

कई बार आश्चर्य होता है कि पुराने साधु–संन्यासी जिनके नाम हुआ करते थे

अखंडानंद; वे भी जीवन को खंड–खंड बांट देते थे। एक हिस्से को उन्होंने निंदित कर दिया कि यह सांसारिक है, पार्थिव है, ये तो जमीन की चीजें हैं। दूसरे हिस्से को उन्होंने आकाश की बात बताया कि बहुत ऊपर की चीज है। और कहा कि उच्च वस्तु को पाने के लिए निम्न वस्तु को त्यागो। ओशो ऐसा नहीं करते हैं, यह तो नीचे वालों का अपमान हो गया। ऊपर और नीचे का विभाजन, सृष्टि और स्रष्टा का भेद अनुचित है।

ओशो सब आयामों का सदुपयोग करने के लिए कहते हैं।

काम के संग भी अगर जागरूकता जुड़ जाए तो वह भी ध्यान का हिस्सा बन जाएगा। मुख्य बात ध्यान हो जाएगी। काम से धीरे–धीरे ऊर्जा हटने लगेगी और सहज ब्रह्मचर्य फलित होने लगेगा। छूटेगा जरूर कुछ, लेकिन वह छोड़ने से नहीं छूटेगा। क्रोध के प्रति अगर कोई व्यक्ति जागरूक हो जाएगा तो क्रोध धीरे–धीरे खत्म हो जाएगा और जागरूकता घनी हो जाएगी। उस घनी जागरूकता में क्रोध टिक ही नहीं सकता। क्षमा फलित होगी।

ओशो यह नहीं सिखा रहे हैं कि क्रोध को छोड़ो। लेकिन अंततः परिणाम वही होगा कि क्रोध छूट जाएगा और व्यक्ति बहुत शांत व प्रेमपूर्ण हो जाएगा। ओशो की एक आडियो सी.डी. का शीर्षक है– 'ब्रह्मचर्य की साधना'। इसमें ओशो ने वे सारे सूत्र दिए हैं कि कैसे कामवासना को ब्रह्मचर्य तक ले जाया जा सकता है? एक अन्य सी.डी. का नाम है– 'वासना मुक्ति के उपाय'। इसमें ओशो के वे प्रवचन संकलित हैं, जिसमें उन्होंने सूत्र दिए हैं कि किस प्रकार कामना से छुटकारा पा सकते हैं। पर याद रखना, इसमें निंदा नहीं है। किसी चीज की आलोचना नहीं है। क्योंकि जिस चीज के प्रति हम निंदा से भर जाते हैं, फिर हम उसका रूपांतरण नहीं कर पाते हैं।

अगर कोई व्यक्ति क्रोध विरोधी या काम विरोधी है; तब वह जागरूक होकर इनको देख ही नहीं पाएगा। जैसे ही क्रोध या वासना उसको घेरेगी, वह मूर्च्छित हो जाएगा। उस मूर्च्छा में फिर ट्रांसफार्मेशन संभव नहीं है। वह ठीक ढंग से इनको जी नहीं पाया। अगर ठीक ढंग से जिए तो बहुत कुछ संभव है। वह क्रोध से करुणा में पहुंच सकता है। वासना से ब्रह्मचर्य में पहुंच सकता है। थोड़ा–सा ध्यान व प्रेम जोड़ देने से जादुई परिवर्तन संभव है।

सद्‌गुरु ओशो दो हिस्सों में नहीं बांटते कि विवाह संसार की चीज है, कि शिक्षा संसार की चीज है, कि राजनीति, विज्ञान, कला ये संसार की चीजें हैं। उन्होंने हर विषय पर, हर पक्ष पर अपना क्रांतिकारी दृष्टिकोण दिया है। अपने मौलिक विचार दिए हैं। उनके हिसाब से धर्म जीवन को सर्वांग स्पर्श करता है। सभी कुछ को समाहित करता है। तो ऐसा नहीं कि एक पक्ष उसमें से धार्मिक है और अन्य नहीं है। अन्यथा फिर रूपांतरण कैसे होगा?

संभोग से समाधि की ओर

मा मोक्षा– ओशो की एक किताब है 'संभोग से समाधि की ओर' जिसके लिए वे बहुत चर्चित हुए। इस पुस्तक में विवादास्पद क्या है? सारांश में समझाने की कृपा करें।

स्वामी शैलेन्द्र जी– जिन लोगों ने यह किताब पढ़ी है या प्रवचन माला सुनी है, उनके लिए तो विवादास्पद कुछ भी नहीं है। सीधे-सीधे साधना के सूत्र हैं कि कैसे वासना में उतरते हुए होश को साधा जाए ताकि वासना से मुक्त हो सकें। अंतिम लक्ष्य वासना से मुक्ति है। लेकिन शुरुआत तो वासना से करनी होगी, जहां हम खड़े हैं, वहीं से करनी होगी। इसको एक उदाहरण से समझ लें।

अगर आप एक अंधेरे भवन में, और आप चाहते हैं कि प्रकाशित लोक में पहुंचना है, तो आपसे यही कहा जाएगा कि उठो और इस दिशा में चलो। आप कहोगे 'अरे! इस दिशा में पहले से ही अंधेरा है, मैं तो अंधेरे में चल-चलकर बहुत भटक चुका हूं और आप फिर अंधेरे कक्ष में चलने को कह रहे हैं।' किंतु अंधेरे कक्ष में चलना दो प्रकार का हो सकता है। एक, गोल-गोल घूमना और दूसरा, दरवाजे की ओर आकर बाहर निकलना। कामवासना में तो सारा संसार जी रहा है, लेकिन गोल-गोल मूर्च्छित तरीके से। बाहर नहीं निकल पा रहा। ओशो जो तरीका दर्शा रहे हैं 'संभोग से समाधि की ओर' में वे बता रहे हैं कि कैसे तुम द्वार की तरफ जाकर प्रकाशित लोक में पहुंचो। तब तुम्हारे जीवन में वासना नहीं होगी बल्कि निष्काम, निर्विचार, निर्विषय समाधि-दशा घटित हो जाएगी।

ऐसा प्रयोग केवल ओशो ने ही नहीं समझाया है, उनके पहले अन्य सद्‌गुरु भी हुए हैं। मैं आपको याद दिलाना चाहूंगा कि भगवान शिव को आदि गुरु कहा जाता है। वे शायद पहले बुद्धत्व को प्राप्त व्यक्ति हैं। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है 'विज्ञान भैरव तंत्र' जिसमें उन्होंने ध्यान की 112 विधियां देवी पार्वती को दीं। उन 112 विधियों में तीन विधियां काम वासना से संबंधित हैं कि संभोग किस प्रकार किया जाए ताकि वह ध्यान बने, समाधि में ले जाए।

सद्‌गुरु ओशो ने कोई नयी बात नहीं सिखायी है। भगवान शिव की इन तीन विधियों को ही उन्होंने बताया है। खजुराहो और कोणार्क के मंदिर को देखें। इमनें जो संभोगरत मूर्तियां हैं, उनके चेहरे देखें तो वे चेहरे समाधिस्थ नजर आएंगे। काम से राम की ओर जाया जा सकता है। ऐसी तांत्रिक साधना हमारे देश में सदा से चलती रही है, लेकिन वह गोपनीय रही– थोड़े से लोगों तक सीमित। ओशो ने इस सत्य को जन मानस तक पहुंचाया।

भगवान शिव के ग्रंथ 'विज्ञान भैरव तंत्र' का नाम कितने लोग जानते हैं? इक्के-दुक्के लोग। पढ़ा तो अधिकांश ने नहीं होगा और जिन्होंने पढ़ा है, उन्होंने समझा न होगा, प्रयोग नहीं किया होगा। सद्‌गुरु ओशो ने कोई नयी बात नहीं कही है 'संभोग से समाधि की ओर' में– वही, जो शिव ने समझाया है ध्यान की तीन विधियों में। वही, जो खुजराहो और कोणार्क के मंदिर बनाने वालों ने जाना था, किंतु वह बात छिपा ली गयी थी। आपको पता होगा कि खजुराहो एवं कोणार्क के मंदिर मिट्टी में दबा दिए गए थे। इस मिट्टी को सिर्फ मिट्टी ही न समझना, जन मानस से बहुतेरी महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक बातें छिपा ली गयी थीं ।

कुछ ऐसे ही हुआ होगा जैसे ओशो के साथ विवाद खड़े हो गए और यह किताब बहुचर्चित हो गयी। ये विवाद करने वाले लोग वे हैं, जिन्होंने पढ़ा या सुना नहीं है। जो पढ़ेंगे, सुनेंगे वे तो अनुग्रहित हो जाएंगे कि अद्भुत! ये तो कीचड़ में कमल खिलाने का सूत्र है।

याद रखना, अगर हम कीचड़ के विरोधी हो गए तो कमल कैसे खिलेगा? कीचड़ ही नींव बनेगी, उसी से रस आएगा तब फूल खिलेगा। निश्चित ही जब वह पंकज खिलेगा तो उसे देखकर भरोसा भी नहीं आता कि गंदी बदबूदार कीचड़ से पैदा हुआ होगा। कीचड़ उसे छूती भी नहीं, अस्पर्शित रहता है। समाधि जब घटित हो जाती है, तब भरोसा भी नहीं आता कि इसकी शुरूआत कहां से हुई होगी?

आनंद की प्रथम झलक सामान्य व्यक्ति को केवल वासना के दौरान ही मिलती है। बहुत क्षणभंगुर, बहुत छोटी सी झलक; मिल भी नहीं पाती और खो जाती है। इसलिए तो कामवासना में इतना गहरा आकर्षण है। यह आकर्षण उस आनंद का है, वासना का नहीं है। लेकिन अगर कोई इसको फॉलो करे, इस आनंद के सूत्र को पकड़ ले, उस धागे को पकड़ कर आगे बढ़े; तब वह पाएगा कि शीघ्र ही समाधि तक पहुंच गया।

ओशो की यह किताब 'संभोग से समाधि की ओर' अवश्य पढ़िए अथवा यह प्रवचन माला सुनिए और तब आप पाएंगे कि इसमें विवादास्पद कुछ भी नहीं है, कीचड़ में कमल खिलाने वाली बात है। और याद रहे, वे कीचड़ के विरोध में नहीं; लेकिन कमल के पक्ष में हैं। इस किताब का नाम ही बता रहा है कि 'संभोग से समाधि की ओर' किसके पक्ष में है? समाधि के पक्ष में है। जैसे किसी किताब का नाम है 'गरीबी से अमीरी की ओर' इसमें क्या विवादास्पद हो सकता है? अमीरी की ओर, समृद्धि की ओर होना ही चाहिए। कोई कहे– दुख से सुख की ओर। अशांति से शांति की ओर। इसमें समस्या क्या है? लेकिन केवल संभोग शब्द से ही आदमी अटक जाता है, वह दमित चित्त किताब ही नहीं पढ़ना चाहता। डर है कि पता नहीं क्या होगा? अंदर इतनी वासना दमित है कि उसे अपना ही भय है। अतः मैं निवेदन करूंगा सभी साधकों से कि इस किताब को अवश्य पढ़ें, सुनें। आप पाएंगे कि इसमें विवादास्पद कुछ भी नहीं बल्कि अपने जीवन को स्वर्णिम बनाने का एक अमूल्य सूत्र है।

संतति नियमन और जनसंख्या विस्फोट

मा मोक्षा– ओशो ने अपने प्रवचनों में संतति नियमन और जनसंख्या विस्फोट पर भी बात की है, उस विषय पर आप उनकी दृष्टि समझाएंगे?

ओशो शैलेन्द्र जी– 1960 के दशक में ओशो ने जब यह बात कही थी, उस समय भारत की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी। अब तो जनसंख्या उससे बहुत ज्यादा हो चुकी है। हास्यास्पद स्थिति हो गयी है। ओशो ने उस समय चेताया था कि सरकार के द्वारा संतति नियमन को कंपल्सरी, अनिवार्य किया जाए। लोगों की मर्जी पर नहीं छोड़ सकते कि वे चाहे तो करवाएं, चाहे तो न करवाएं। लोग इतने समझदार नहीं हैं।

ओशो ने जिस समय चेताया था, काश उस समय सरकार चेत गयी होती तो हमारी जनसंख्या आज भी बस चालीस करोड़ ही होती। ये सवा अरब न होती। कितनी तेजी से जनसंख्या बढ़ी है? ओशो ने अपने किताब का नाम रखा था 'जनसंख्या विस्फोट' अर्थात्

पॉपुलेशन एक्सप्लोजन, बिल्कुल उचित नाम उन्होंने रखा था। यद्यपि उनका सुझाव लोगों को बहुत कठोर लगा कि संतति नियमन कंपल्सरी किया जाए। बहुत विरोध खड़ा हुआ कि हम एक स्वतंत्र देश के स्वतंत्र नागरिक हैं। क्या हमको इतना भी अधिकार नहीं कि हम बच्चे पैदा करें?

सवाल एक व्यक्ति का नहीं है, सवाल पूरे राष्ट्र का है और फिर राष्ट्र ही नहीं पूरे विश्व का हो जाता है। सावधान! आज भी अगर हमारा देश इस बात को समझ जाए तो बड़ी कृपा होगी।

कोई कठोर कदम उठाना ही होगा। जैसे अन्य मामलों में हम कठोर कदम उठाते हैं। कोई कहता है कि मेरा दिल हो रहा है किसी की हत्या करने का तो हम उसे फ्रीडम तो नहीं देते कि हत्या कर दो! यह तो अपराध हो जाएगा। तो देश की जनसंख्या बढ़ाना, देश पर इतना बर्डन डालना, इतने लोग बेरोजगार व बेघरबार होंगे, उनको कहां से मकान मिलेगा रहने को? कहां से इनके खाने-पीने का इंतजाम होगा? आज हमारे देश में सबको शुद्ध पेय जल भी उपलब्ध नहीं है। खाने की तो बात छोड़ दो, रहने की तो बात छोड़ दो, रोजगार की बात तो छोड़ दो। शुद्ध पेय जल भी नहीं है और किसी प्रकार हो भी नहीं पाएगा।

सवा अरब लोगों के लिए जीवन का सुंदर इंतजाम नहीं किया जा सकता है। अगर हमारी पॉपुलेशन कम होती, जितनी अंग्रेज छोड़ गए थे 1947 में उतनी; तो आज हर व्यक्ति समृद्धि में जी रहा होता। किसी को गरीब होने की जरूरत न पड़ती। ओशो के ये प्रवचन भी सुनने जैसे हैं। यद्यपि आज पचास साल पुराने हो गए, लेकिन चूंकि हम चेते ही नहीं हैं इसलिए आज भी हमारे लिए समसामयिक हैं, उपयोगी हैं।

जीवन पूरा इकट्ठा है

मा मोक्षा– ओशो ने हरेक विषय पर जैसे राजनीति, शिक्षा, अर्थ व्यवस्था, समाजवाद, अध्यात्म, ध्यान, भक्ति, प्रेम, विवाह, वासना, परिवार प्रणाली, बच्चों का पालन-पोषण, मेरिटोक्रेसी, कम्यून, आधुनिक विज्ञान, कला, मनोविज्ञान, जीवन, मृत्यु; इत्यादि बहुतेरे अगल-अलग विषयों पर अपने क्रांतिकारी दृष्टिकोण दिए हैं।

इतनी विहंगम दृष्टि हम कैसे अपने भीतर आत्मसात करें?

ओशो शैलेन्द्र जी– जीवन पूरा इकट्ठा है, जुड़ा हुआ है। इसमें कोई खंड-खंड टूटे हुए भी नहीं हैं। जब हम जीवन को जी रहे हैं, क्या हम सभी अंगों में नहीं जी रहे हैं? एक स्त्री अपने पति के लिए पत्नी का रोल निभा रही है, अपने माता-पिता के लिए बेटी का रोल निभाया है। अपने बच्चों के लिए वह मां है, किसी के लिए वह भाभी है, किसी के लिए देवरानी है, किसी के लिए जेठानी है। किसी के लिए वह बहु है, किसी की सास भी है।

सारे पहलू इकट्ठे हैं, हमें कुछ करना नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार हम जीवन को विराट दृष्टिकोण से देखें। क्या इसमें आजीविका, अर्थव्यवस्था महत्वपूर्ण नहीं है? क्या इसमें काम वासना, प्रेम, विवाह महत्वपूर्ण नहीं है? क्या इसमें राजनैतिक व्यवस्था और अनुशासन महत्वपूर्ण नहीं है? क्या इसमें न्याय व्यवस्था को हम अनदेखा कर सकते हैं? सभी पक्ष तो

महत्वपूर्ण हैं। वे लोग, जिन्होंने जीवन विरोधी धर्म सिखाया था, उन्होंने कहा कि सब छोड़कर भाग जाओ; इन समस्याओं से जूझो ही मत। ओशो चूंकि जीवन को प्रेम करते हैं, जीवन का सम्मान करते हैं, इसलिए जीवन के हर पक्ष पर उन्होंने अपनी क्रांतिकारी दृष्टि दी कि उसमें परिर्वतन व बेहतरीकरण कैसे हो सकता है?

यही वजह है कि उनके संबंध में बहुत विवाद उठे। क्योंकि उनकी मौलिक, क्रांतिकारी एवं जीवन को समग्रता से समाहित करने वाली दृष्टि के कारण लोगों को लगा नहीं कि ये कोई धर्मगुरु नहीं हैं। उनको लगा कि क्या ये राजनैतिक हैं? महात्मा गांधी के विरोध में क्यों बोल रहे हैं? समाजवाद के विरोध में क्यों बोल रहे हैं? इनको क्या लेना-देना? नहीं! ओशो राजनैतिक नहीं हैं किंतु राजनीति पर अपना दृष्टिकोण तो दे ही सकते हैं।

इस बात को ऐसे समझना कि मुझे भोजन पकाना नहीं आता किंतु जब मैं भोजन करूंगा तो मैं अपना दृष्टिकोण तो दे ही सकता हूं कि इसमें नमक ज्यादा है, कि इसमें मिर्च कम होती तो ज्यादा अच्छा रहता, अथवा रोटी कच्ची है, थोड़ी और सेंक दो। कोई कहे कि आप कोई पाकशास्त्र के विशेषज्ञ हैं क्या? नहीं, इसमें पाकशास्त्र विशेषज्ञ होने की जरूरत नहीं। लेकिन स्वाद तो मैं ले ही सकता हूं एक मनुष्य की भांति। और मैं अपने कमेंट्स कर ही सकता हूं।

इसी प्रकार ओशो न तो राजनैतिक हैं, न अर्थशास्त्री हैं, न मेडिकल साइंस के विशेषज्ञ हैं। लेकिन मेडिकल साइंस कैसी होनी चाहिए इस पर अपना दृष्टिकोण तो दे ही सकते हैं। कहां-कहां कुछ गलती हो रही हैं? उसका सुधार जरूरी है। अर्थव्यवस्था कैसी होनी चाहिए इस पर अपना मंतव्य दे ही सकते हैं, वह जीवन का एक हिस्सा है।

वे संपूर्ण जीवन को स्वीकारते हैं इसलिए उन्होंने जीवन के सारे पक्षों पर एक विहंगम दृष्टिकोण दिया है। और जब उनकी पूरी बात को हम समझेंगे तो हम उसे आसानी से जी भी सकेंगे। आपका प्रश्न महत्वपूर्ण है, इस संबंध में ही यह भी समझ लीजिए कि ओशो की केवल एक किताब पढ़कर कोई ओशो को न जान सकेगा। आपको बहुत सारी प्रवचन मालाएं सुननी होंगी। भांति-भांति से, विभिन्न पक्षों पर उनका दृष्टिकोण जानना होगा; तभी आप ओशो का स्वाद जान पाएंगे अन्यथा चूक जाएंगे। एक किताब में पांच या दस प्रवचन संग्रहीत हैं, उसमें केवल एक पक्ष के बारे में चर्चा है। वह जीवन का एक छोटा-सा हिस्सा है, छोटा-सा अंग मात्र है। संपूर्ण जीवन को कैसे जिएं, इसको विस्तार से ही समझा और जिया जा सकता है।

मा मोक्षा- अंत में सद्गुरु ओशो का एक वचन स्मरण आ रहा है-'दि होल इज होली।' पूरा जीवन धन्य-धन्य हो जाए, अगर हम उसे पूर्णता से जी पाएं। आज की इस चर्चा से हमें उसकी कुछ-कुछ झलक और प्रेरणा भी मिल रही है।

अगर हम ओशो-प्रवचनों को सुनें, पढ़ें, गुनें; उनकी जीवन शैली, ध्यान व भक्ति के साधना पथ पर चलें तो परम सौभाग्य का दिन हमारे जीवन में भी आ सकेगा। जीवन की पूर्णता को पाने के लिए आप सबको आमंत्रित करती हूं।

बहुत-बहुत धन्यवाद। शुभ रात्रि। जय ओशो।

अखंडता में ही पवित्रता

मा मोक्षा– गुरुदेव, जीवन को सर्वांगीण रूप से स्वीकारने के संबंध में एक प्रश्न आया है। ओशो कहते हैं कि मनुष्य को पूरा, इकट्ठा, समग्र बनना चाहिए; अभी वह खंडित है। 'दि होल इज होली' इस वक्तव्य में उनका क्या अभिप्राय छिपा है? भावार्थ समझाने की अनुकंपा करें।

स्वामी शैलेन्द्र जी– यह बहुत प्रीतिकर वचन है– 'दि होल इज होली'। अखंडता में ही पवित्रता है, पावनता है। जैसे ही हम चीजों को खण्ड–खण्ड एवं विभाजित करते हैं, उनकी पावनता नष्ट हो जाती है। ओशो संपूर्ण जीवन को स्वीकारते हैं और उसकी संपूर्णता को बहुत महत्त्व देते हैं। जीवन को खण्डों में नहीं बांटना। एक तो बड़ा विभाजन हमने किया है कि कुछ चीजों को हमने कहा कि ये सांसारिक हैं और कुछ अन्य चीजों को हमने कहा कि ये पारलौकिक हैं। यह है आध्यात्म और वह है दुनिया। नहीं! ऐसे दो खण्ड भी न करो। जीवन में सब कुछ, [illegible] खण्ड बांट लिए हैं। एक शरीर, एक मन, एक हृदय और एक आत्मा। नहीं, यहां भी खण्ड करने की जरूरत नहीं है। समझने के लिए ठीक है, लेकिन वास्तव में ऐसे खण्ड कहीं हैं नहीं। आत्मा ही आगे चलकर भावना बन जाती है। भावना ही आगे चलकर विचार बन जाते हैं, विचार और स्थूल होकर देह बन जाती है और देह स्थूल होकर इस संपूर्ण विश्व का हिस्सा हो जाती है। यह संपूर्ण ब्रह्मांड भी परस्पर संयुक्त है। मनुष्य नहीं हो सकते इस धरती पर, अगर पेड़–पौधे न हों। हम कार्बनडाईऑक्साड छोड़ते हैं, वह पेड़–पौधों का भोजन है। वे उसे गृहण करते हैं। पेड़–पौधे ऑक्सीजन छोड़ते हैं, वह हम लेते हैं। हम सब परस्पर जुड़े हुए हैं।

ओशो के इस वक्तव्य में 'दि होल इज होली'– यह इंटर डिपेंडेंस वाली बात छिपी है। वे कहते हैं कि न तो कोई पूरी तरह डिपेंडेंट है और न ही कोई पूरी तरह इनडिपेंडेंट हो सकता है। जीवन का जो सत्य है, वह इंटर–डिपेंडेंस है। न तो स्वतंत्र, न परतंत्र; बल्कि

परस्पर–तंत्र। एक नया शब्द उन्होंने दिया परस्पर–तंत्रता। सब चीजें आपस में जुड़ी हुई हैं, इंटर–कनेक्टेड हैं। आजकल मनोवैज्ञानिकों ने खोजा है कि हमारे तन–मन आपस में जुड़े हुए हैं। पहले दो हिस्से माने जाते थे साईकिक और सोमेटिक। अब एक नया शब्द इस्तेमाल होता है साईकोसोमेटिक, मनोशारीरिक। अब वे दो शब्द नहीं रहे, जुड़कर एक हो गए हैं। बीच में हाईफन भी नहीं है। वास्तव में ऐसा ही है। तन पर कोई घटना घटती है तो मन प्रभावित हो जाता है। मन में कुछ होता है तो तन प्रभावित हो जाता है। इनको हम दो कैसे कह सकते हैं? एक ही सिक्के के दो पहलू हो सकते हैं।

ठीक ऐसे ही अगर भीतर और खोज–बीन की जाएगी तो हम पाएंगे कि हमारा हृदय है भावनाओं का लोक और हमारी आत्मा में चेतना मौजूद है, ये भी जुड़े हुए हैं। कुल मिलाकर शरीर और आत्मा भी अलग–अलग नहीं हैं। समझने के लिए हम नाम दे देते हैं। जैसे हमारा शरीर है, हम कहने को कहते हैं कि यह हाथ है, यह अंगूठा है, यह छोटी उंगुली है, यह मध्यमा है, यह नाक है, यह आंख है, ये होंठ हैं। हमने अलग–अलग हिस्से बांट लिए। सिर्फ समझने के लिए। लेकिन क्या वास्तव में हमारा पूरा शरीर एक सिंगल बॉयोलॉजिकल यूनिट नहीं है? नाक स्वास लेती है, क्या हवा पूरे शरीर में नहीं पहुंच जाती? मुख से भोजन करते हैं, पानी पीते हैं, क्या तुरंत ही सारे शरीर को ऊर्जा नहीं मिल जाती? सब चीजें जुड़ी हुई हैं, आंख, कान, नाक, हाथ, पैर सब संयुक्त हैं। जैसे पूरा शरीर एक सिंगल बॉयोलॉजिकल यूनिट है। अगर हम गौर से निरीक्षण करें तो हम पाएंगे कि यह संपूर्ण जीवन, पूरा अस्तित्व ही इंटरडिपेंडेंट है– एक ईकाई है जिसमें कुछ भी अलग–थलग नहीं है।

अभी मैंने मनुष्यों और पेड़–पौधों की चर्चा की कि दोनों एक दूसरे के बिना न हो सकेंगे। क्या यह पृथ्वी बिना सूरज के हो सकती है? नहीं हो सकती। सूरज भी किसी महासूरज का चक्कर लगा रहा है। उसके बिना वह भी न हो सकेगा। वह महासूर्य जिस गैलेक्सी का हिस्सा है, वह पूरी गैलेक्सी किसी बड़े ब्लैक होल का चक्कर लगा रही है। उस गैलेक्सी में दो अरब तारे हैं। सूरज उसमें से एक छोटा–सा मध्यम कोटि का तारा है। क्या ये सब कुछ जुड़ा हुआ, आपस में बंधा हुआ नहीं है? हमें वे ग्रेविटेशन के धागे दिखाई नहीं देते जो सबको जोड़े हुए हैं। अगर सूरज न होता तो सूरज से टूटकर अलग हुई यह पृथ्वी भी न होती और पृथ्वी पर हम भी न होते। हम कैसे कह सकते हैं कि चार अरब साल पहले जो घटना घटी थी कि सूरज में विस्फोट हुआ और कुछ ग्रह तितर–बितर हो गए उससे हमारा कोई संबंध नहीं है। अगर वह घटना न घटित होती तो आज हम भी नहीं होते।

हम पूरे अतीत से जुड़े हुए हैं। हम पूरे भविष्य से भी जुड़े हैं। भविष्य में जो आएगा वह वर्तमान से ही जन्मेगा। आज जो वर्तमान में मौजूद है, यह पिछले अतीत का परिणाम है और इसका परिणाम कल का आने वाला भविष्य होगा। सब चीजें जुड़ी हुई हैं। अच्छा है हिंदी में एक ही शब्द है 'कल' टुमारो और यस्टरडे, दोनों के लिए। सब एक ही है। क्या अलग–अलग नामकरण करना! वर्तमान, भूत, भविष्य; पृथक नहीं है। चाहे हम समय में देखें तो चीजें जुड़ी हुई हैं, चाहे हम स्पेस में देखें तो सारी चीजें जुड़ी हुई हैं, सब कुछ

इंटरडिपेंडेट है। चाहे हम अपने तन–मन में देखें तो दिखता है सब कुछ जुड़ा हुआ है। यह शरीर न होता तो आत्मा न होती। आत्मा न होती तो यह शरीर जीवित न होता। हम कैसे कह दें कि दोनों अलग–अलग चीजें हैं? सब कुछ जुड़ा हुआ है।

संपूर्ण जीवन ही अंर्तसंबंधों का एक जाल है– नेट ऑफ इंटर–रिलेशनशिप। यही परमजीवन है, यही परमात्मा है। इसको संपूर्णता से, प्रेमपूर्वक, जागरूकता पूर्वक जीना ही अध्यात्म है। ऐसा सद्‌गुरु ओशो समझाते हैं। तो इससे आप समझ लें 'दि होल इज होली' इसको खण्ड–खण्ड में न बांटो, टुकड़े–टुकड़े न करो। वस्तुतः वह संभव ही नहीं।

मा मोक्षा– तो व्यक्ति विभाजित हुआ ही कैसे? ऐसा क्या हुआ कि जब बच्चा पैदा होता है तब तो उसके कोई विभाजन थे नहीं, फिर विभाजन की धारणा कैसे पनपती है? और जब हम विभाजित हो चुके हैं, तो ऐसा क्या करें कि पावन अविभाज्य सत्य पर, वापस 'होलीनेस' में लौट सकें?

स्वामी शैलेन्द्र जी– छोटे बच्चे के भीतर कोई अहम् भाव, अहंकार नहीं होता। उसे नहीं पता होता कि मैं हूं और यह भी नहीं पता कि दूसरे हैं। जन्म होता है, उसकी इंद्रियां खुलती हैं, पहली बार उसे दृश्य जगत दिखाई देता है, आवाजों को सुनता है, पहली बार स्वास लेता है, गंध को महसूस करता है और बहुत चकित होता है कि यह सब क्या है? अभी उसे अपने होने का एहसास नहीं है। पहले उसे धीरे–धीरे दूसरों का एहसास होना शुरू होता है। उसको यह भी समझ में नहीं आता कि लोग अलग–अलग हैं।

समझो, वह एक दृश्य देख रहा है, एक दीवार है उस पर कलेंडर टंगा है। सामने एक कुर्सी रखी है और कुर्सी पर एक व्यक्ति बैठा है। बच्चे को यह नहीं पता कि कलेंडर अलग है, दीवार अलग है, कुर्सी व व्यक्ति अलग हैं। वह तो इस पूरे दृश्य को एक समझता है। छोटा बच्चा फोकस करके नहीं देख सकता क्योंकि वह समझ ही नहीं रहा है कि कुछ अलग–अलग है। वह फोकस कहां करे? छोटे बच्चे की आंखें अनफोकस्ड रहती हैं।

धीरे–धीरे उसको कुछ महीनों में समझ में आता है कि वह आदमी तो उठकर चला गया मगर कुर्सी अभी भी वहीं के वहीं है। इससे सिद्ध होता है कि आदमी कुर्सी से अलग है, अब विभाजन आना शुरू हुआ। आदमी अलग है, कुर्सी अलग है। फिर एक दिन वहां से कुर्सी खिसका दी गयी, तब उसे पता चला कि अरे! यह दीवार का हिस्सा नहीं है, दीवार कुछ अलग चीज है और कुर्सी कुछ अलग चीज है। कुर्सी कमरे के बाहर ले गए और फिर लाकर रख दी। यह दीवार से भिन्न कोई चीज है। उसे पता चलता है कि कलेंडर भी अलग चीज है, उसे उतारा, हटाया जा सकता है, बदला जा सकता है। दीवार वहीं रहती है।

धीरे–धीरे, खण्ड–खण्ड उसने सोचना शुरु किया। जिस दिन से छोटे बच्चे की आंखें फोकस्ड होनी शुरू हो जाती हैं, जब वह गौर से एक चीज को देखने लगता है तब समझना कि विभाजन उसके भीतर शुरू हो गया है। बहिर्जगत का विभाजन इस प्रकार होता है। उसे पता चला कि यह मां है, यह पापा है, यह भाई है, यह बहन है, दादी है, दादा जी हैं।

अब वह समझने लगा कि दूसरे लोग भी बहुत सारे हैं। और जब दूसरे लोगों को जानने लगा कि दूसरे हैं तब कंट्रास्ट में 'मैं' भाव उत्पन्न हुआ कि मैं भी हूं। कंट्रास्ट में, ऐसे उसे पहले अनुभूति नहीं हुई थी कि मैं हूं। लेकिन जब दूसरे हैं तो फिर नेचुरली मैं भी हूं। ये भाव उसके भीतर पैदा होता है। फिर एक और बड़ा विभाजन हुआ; दूसरे सब दूसरे हैं और 'मैं' मैं हूं।

छोटा बच्चा अक्सर अपने आपको थर्ड परसन में पुकारता है। यदि उसका नाम है राजू है। सब लोग उसे राजू कहकर पुकारते हैं। जब वह गिर जाता है तो कहता है कि मम्मी! राजू गिर गया, राजू के घुटने में चोट लग गयी। तब मम्मी उसे समझाती है कि तुम ऐसा मत कहो, तुम कहो कि मैं गिर गया हूं, मेरे घुटने में चोट लगी। बच्चे को समझ में नहीं आता कि यह 'मेरे' का क्या मतलब? 'मैं' यानि क्या? राजू गिरा है। वह अपने आप को भी थर्ड परसन में देखता है। जैसे सब लोग देख रहे हैं। वह कहता है कि राजू को भूख लगी है, कि राजू को प्यास लगी है पानी दो। तब पापा उसको डांटते हैं कि तुम ऐसा नहीं कहोगे तुम कहोगे कि मुझे प्यास लगी है। बेचारा सीख जाता है। यद्यपि उसे मीनिंग नहीं पता, मैं, मेरा, मुझे; ये सब कोरे शब्द हैं उसके लिए। लेकिन घरवाले फोर्स कर रहे हैं तो धीरे–धीरे वह भी उपयोग करने लगता है। इन शब्दों के संग ही एक विभाजन मन के भीतर उत्पन्न हो जाता है कि मैं सारे जगत से जुदा हूं। वह वास्तव में नहीं, किंतु मानसिक रूप से जगत से टूट गया।

टूटने की प्रथम घटना थी, जब उसका जन्म हुआ था। वह मां से अलग हुआ था। एक सूक्ष्म द्वैत निर्मित हुआ था। जब तक बच्चा मां के गर्भ में था, वह मां के संग एक था और मां के द्वारा पूरे अस्तित्व से, परमात्मा से जुड़ा हुआ था। न तो उसकी अलग से स्वास चलती थी, न उसका अलग से कोई खून था। मां का खून ही उसके भीतर प्रवाहित होता था। मां जो भोजन करती थी, वही उसको ऊर्जा देता था, उसी से देह निर्मित होती थी। मां सांस लेती थी, वही वायु उसके अंदर पहुंचती थी। उसको पता ही नहीं था कि मैं हूं। जन्म के साथ टूटना शुरू हुआ। पहले दूसरों का एहसास, फिर मैं का एहसास, फिर 'मैं' शब्द आया भाषा में, वह अपने आप को बहुत संकीर्ण सीमित मानने लगा। इस शरीर के भीतर जैसे मैं हूं। फिर हमने और विभाजन सिखा दिए कि यह तुम्हारा सिर है, यह हाथ है, ये पैर हैं। अंगों के नाम बच्चे को सिखाते हैं कि बताओ नाक कहां है? उसने बता दिया कि यहां है, तो सब लोग परिवार के खुश हैं बच्चे को देखकर कि कितना होशियार है!

हम उसको विभाजन सिखाने में सफल हो गए। बच्चे को तो पूरा शरीर एक लगता है। अभी भी हम आंख बंद करके भीतर से जानने की कोशिश करें। आप कभी प्रयोग करना एक मिनट के लिए। भीतर से जानने की कोशिश करना अपने शरीर को। आप कोई विभाजन न कर पाओगे, वहां पर सब कुछ एक है। लेकिन ऊपर–ऊपर से हमने विभाजन सिखाए हैं नाम करण के द्वारा। हमने नाम रख दिया है कि ये पैर हैं, यह घुटना है, यह कोहनी है, यह कलाई है, यह सिर है, ये बाल हैं। बच्चा नाम सीख गया और अब उसके भीतर विभाजन खड़ा हो गया। फिर हमने और विभाजन कर दिए कि यह शरीर है, यह मन है, ये भावनाएं हैं, यह तुम्हारे भीतर की आत्मा है। यद्यपि आत्मा शब्द उसके लिए कोरा है,

वह कुछ भी नहीं जानता है आत्मा क्या है? लेकिन सुन–सुन कर वह भी कहने लगा आत्मा, परमात्मा और विभाजन हो गया। कुछ हवाई बातें हैं आत्मा और परमात्मा से संबंधित वह अध्यात्म है, वह धर्म है। जो पार्थिव बातें शरीर से संबंधित है वह लौकिक, सांसारिक हैं। हमने दो बड़े विभाजन कर दिए। कुछ चीजें नीचे की कैटेगरी में हैं– सांसारिक, लौकिक और कुछ चीजें दूसरी ऊपर की कैटेगरी में हैं– परलौकिक। खाई बनी। विभाजन खड़ा हुआ।

फिर सभ्यता और संस्कृति ने विभाजन सिखाना शुरू किया। बच्चा क्रोधित हो रहा है, हमने कहा– नहीं, तुम ऐसा नहीं कर सकते हो। यह मेनर्स के बाहर है। वह तो अपने नेचुरल प्रकृति के अनुसार जी रहा था। हमने बहुत–सी चीजें उसको सिखाईं। सिर्फ टॉयलेट ट्रेनिंग ही नहीं सिखाई बल्कि बहुत कुछ उसको हमने सिखा दिया है। क्या प्रकट करने योग्य है, क्या नहीं प्रगट करने योग्य है। हमने उसको बहुत कुछ बताया है कि क्या सभ्यता की मर्यादा के अंतर्गत आता है और क्या नहीं आता है। लंबी शिक्षा प्रणाली से उसको गुजरना पड़ा। 20–25 साल की ट्रेनिंग में उसके अंदर विभाजन गहरा, पक्का हो गया। करीब–करीब शरीर के निचले हिस्से को वह ऐसे देखने लगा कि जैसे उसका नहीं है। निंदित, अपमानित। केवल शरीर का ऊपरी हिस्सा और मुख्य रूप से चेहरा– वही उसकी पहचान हो गयी। कपड़ों तक में हमने विभाजन कर दिए– ऊपर और नीचे के वस्त्र।

सद्‌गुरु ओशो ने इसीलिए गाउन पहनने के लिए सलाह दी ताकि संन्यासी को एकता का अनुभव हो सके। एक वस्त्र पहने, ऊपर और नीचे का विभाजन छोड़े। इस प्रकार से धीरे–धीरे विभाजन और विभाजन के सबडिविजन और सबडिविजन होते चले गए और व्यक्ति खंडित–विखंडित होता चला गया। फिर उसके भीतर भी हृदय में हमने खंड कर दिए। हमने कहा कि ये वाली भावनाएं तुम्हारी ठीक हैं और ये वाली गलत हैं। ये हैं दुर्भावनाएं और ये हैं सद्‌भावनाएं। बेचारा वह क्या करे? उसके भीतर तो दोनों हैं। एक हिस्सा समाज स्वीकार करता है, दूसरा हिस्सा समाज स्वीकार नहीं करता। एक को दबाना, छुपाना होगा। कुछ गलत है, बुरा है, प्रदर्शन योग्य नहीं है। अच्छा ही केवल प्रगट किया जा सकता है। भीतर पाखंड आना शुरू हुआ। खंडित व्यक्ति पाखंडी होता है।

खूब अच्छे से समझो, जहां खंड–खंड हुए वहां पाखंड आया। अब वह दिखावा, नाटक करता है बस ऊपर–ऊपर से। भीतर क्या चल रहा है, हमें पता ही नहीं। उसकी एक आंतरिक सच्ची दुनिया है और एक दिखावे की नाटकीय दुनिया है। इस प्रकार विभाजित व खंडित व्यक्ति कैसे आनंद को उपलब्ध होगा?

हम स्वामी अखंडानंद का मजाक उड़ा रहे थे। उसका अर्थ समझना, बहुत प्यारा अर्थ है– अखंडित व्यक्ति ही आनंदित हो सकता है। टूटा–फूटा व्यक्ति कैसे आनंदित होगा? इसके जीवन में तो दुख ही दुख होगा। स्वामी भी वही हो सकता है जो अखंडता में जी रहा है। स्वामी यानि मालिक। जो भीतर परम आनंद को उपलब्ध हो गया, वही आनंदित है।

इस प्रकार विभाजन की प्रक्रिया को समझें। हमें इसके विपरीत जाना होगा। जो साधना होगी इसके द्वारा हम वापस पलट सकते हैं। परिवार की और समाज की मजबूरी

थीं। ऐसा उनको करना ही पड़ता है, हम उनको दोष नहीं दे रहे हैं, यह उनकी मजबूरी थी। शिक्षा प्रणाली की मजबूरी थी। उन्हें ऐसा करना ही पड़ता है, लेकिन जब व्यक्ति प्रबल हो जाए, परिपक्व हो जाए, समझदार हो जाए तब वह विपरीत दिशा में यात्रा कर सकता है कि मैं पुनः कैसे जुड़ूं?

सर्वप्रथम खुद के भीतर जुड़ना शुरू हो जाएं। अपने भीतरी विभाजन छोड़ दें और ध्यान में डूबकर एक दिन अचानक एहसास होता है कि जिसे मैं 'स्व' कहता हूं और जिसको सर्व कहता हूं, 'मैं' और यह 'सब कुछ', अहम् और ब्रह्म; ये भी दो नहीं हैं, उस दिन अद्वैत का अनुभव होता है। इसी को आध्यात्मिक साधना का शिखर कहा गया है।

खूब अच्छे से समझना। इस प्रकार से विभाजित होते जाते हैं। आपने अच्छा प्रश्न उठाया है कि जब चेतना अखंड है तो हम खंडित होते कैसे हैं? इसके विपरीत दिशा में जाएंगे, तो साधना होगी। इंद्रियां खुलने से खंडित होने की शुरुआत हुई थी। काश हम अपने इंद्रियों को समेट लें, सिकोड़ लें। थोड़ी देर के लिए ध्यानी कान, आंख आदि बंद कर लेते हैं। थोड़ी देर के लिए दृश्य जगत को, सारे संसार को भूल जाएं।

फिर संसार द्वारा प्रदत्त विचारों को भी भूल जाएं। क्योंकि भीतर वे खंड-खंड पैदा कर रहे हैं। किसी को हम कहते हैं सद्विचार, किसी को हम कहते हैं दुर्विचार। उनसे भी दूर हट जाएं, खिसकते जाएं भीतर और भीतर, और अंतर्तम में अचानक आप एक जगह पहुंच जाते हैं, जहां आपको अपनी अखंड चेतना का एहसास होता है।

उस सौभाग्यशाली घड़ी में यह भी पता चलता है कि जो चैतन्य मेरे भीतर है वही सबके भीतर मौजूद है। और तब हम सारे अस्तित्व से जुड़ जाते हैं। उस अद्वैत में आनंद है।

एक दिन मां से टूटकर देह का जन्म हुआ था, फिर परम मां से, परमात्मा से जुड़कर यात्रा पूरी हो जाती है। व्यक्ति और समष्टि में एकत्व, अभिन्नता, अभेद का ज्ञान घटता है। यह भी मालूम होता है वस्तुतः भेद कभी न हुआ था, केवल ख्याल था, भ्रम था, सपना था।

मा मोक्षा– गुरुदेव शुक्रिया।

प्यारे मित्रो, काश हम भी एक-एक कदम इस परम मां से मिलने की ओर क्रमशः आगे बढ़ पाएं। उस अखंडानंद को, पूर्णानंद को जान पाएं। ध्यान की इस अंतर्यात्रा पर आगे चल पाएं। ओशो कहते हैं कि एक-एक कदम चलकर हजारों मील का सफर पूरा हो जाता है। बस चलना शुरु तो करो!

दुर्भाग्यशाली हैं वे लोग जो घर बैठे नक्शे पढ़ते रहते हैं, रेलवे टाइम टेबल कंठस्थ कर लेते हैं। वे पहुंचते कहीं भी नहीं। सब शास्त्र मानचित्र हैं। सब फिलासफिकल चर्चाएं टाइम टेबल हैं। उनमें मत उलझे रहना। तीर्थयात्रा हेतु निमंत्रण है।

आप सब का बहुत-बहुत धन्यवाद। जय ओशो।

शिक्षा, तुलना, महत्वाकांक्षा

मा मोक्षा– गुरुदेव, पिछली कड़ी में हम शिक्षा के संबंध में ओशो की दृष्टि समझ रहे थे। वे अक्सर शिक्षा में सृजनात्मकता की भी चर्चा करते हैं। इस पर उनका क्या नजरिया है? विस्तार से बताने की अनुकंपा करें।

ओशो शैलेन्द्र जी– ओशो चाहते हैं कि हमारे भीतर जो हिडन टेलैंट है, छुपी हुई प्रतिभा, सृजनशीलता, क्रिएटिविटी है, शिक्षा के द्वारा वह बाहर आनी चाहिए। सच पूछो तो शिक्षा के लिए अंग्रेजी में जो शब्द है– 'एजुकेशन' उसका जो लिट्रल मीनिंग, शाब्दिक अर्थ ऐसा है जैसे कुंए से पानी खींचना, भीतर छुपी हुई चीज को बाहर लाना। तो एजुकेशन ऐसी होनी चाहिए जो हर छात्र–छात्रा के भीतर से उसकी जो छुपी हुई प्रतिभा को बाहर लाए, उस नैसर्गिक क्षमता को विकसित करने का अवसर दे। अभी फिलहाल जो शिक्षा प्रणाली चल रही है, वह कुछ ऐसी है, जैसे टंकी में पानी भरना। हम जबरदस्ती भरते जा रहे हैं, थोपते जा रहे हैं। सब उधार तथा बासा ज्ञान है। खोपड़ी में पराई जानकारियां ठूसते जा रहे हैं।

बौद्धिक ज्ञान बहुत हो जाता है पर उससे विवेक पैदा नहीं होता। हमने पहले भी चर्चा की थी ज्ञान और विवेक में भेद को समझने की। अगर भीतर छिपी हुई चेतना को प्रकटने का मौका देंगे तो वह विद्यार्थी बहुत क्रिएटिव बनेगा, रचनात्मक बनेगा। अगर हम बाहर से ही ज्ञान भरते जाएंगे, तो उसकी मेमोरी लबालब हो जाएगी, अधिक से अधिक बौद्धिक सूचनाएं इकट्ठी होती जाएंगी, लेकिन भीतर की क्रिएटीविटी सुप्तावस्था में, सोई हुई रह जाएगी और उसको जगाने का अवसर नहीं मिलेगा।

चार तलों पर शिक्षा की बात समझें– शरीर, हृदय, मन और आत्मा। हृदय का विकास तभी होगा जब उसकी भीतर की सृजनात्मकता का फूल पूरा खिल सके अन्यथा नहीं होगा। बाहर से मिला हुआ ज्ञान जरूर उपयोगी है, लेकिन एक सीमा तक। इतनी ज्यादा देने की जरूरत नहीं है, जितनी जानकारी हम दे रहे हैं। छोटी उम्र में रुचि के विषयों का चयन कर लेना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों द्वारा विद्यार्थियों का अनुसंधान किया जाना चाहिए कि किसमें क्या योग्यता छिपी है? क्या क्षमता छिपी है और वह क्या बन सकता है? तो उसी दिशा में उसको भेजें।

कुछ तो बिल्कुल ही व्यर्थ के विषय हैं। उदाहरण के लिए इतिहास। उसको पढ़ाने की क्या जरूरत? क्या करना जानकर, जो बीत गई सो बात गई। युद्ध ही युद्ध के इतिहास हैं सारी दुनिया में, इनको जानकर क्या होगा कि फलाँ राजा ने अमुक सन् में ये लड़ाई लड़ी थीं और इतने लोग मारे थे। इतिहास एक प्रकार से हमारी मनुष्य जाति के ऊपर कलंक की

निशानी है, उनको तो धो ही दें तो अच्छा है। भूल ही जाएं तो अच्छा है कि कभी ऐसी भयावह दुर्घटनाएं भी हुई हैं। अगर हम पुरानी बातों को दोहराते हैं, युद्धों की बात फिर–फिर याद दिलाते हैं, किस–किस में लड़ाई हुई थीं? क्या–क्या हुआ था? तो हम फिर भीतर विध्वंसात्मकता जगाते हैं, जो शृंजनात्मकता से ठीक 180 डिग्री विपरीत है।

क्रिएटीविटी की ठीक उल्टी मनोदशा– डिस्ट्रक्टिविटी पैदा होती है। अगर आप पुरानी लड़ाईयों की चर्चा सुनें कि किस–किस में युद्ध हुआ था और क्यों हुआ था? कैसे हुआ था? आप नैचुरली किसी एक के पक्ष में हो जाएंगे और दूसरे के विपक्ष में हो जाएंगे और एक आंतरिक मानसिक शत्रुता निर्मित हो जाएगी। आपके ह्रदय में उस जाति या देश के प्रति दुर्भावना उत्पन्न हो जाएगी और फिर इसे मिटाना बहुत मुश्किल होगा।

शिक्षा ऐसी हो कि वह डिस्ट्रक्टिविटी की तरफ न ले जाए बल्कि क्रिएटीविटी की तरफ ले जाए। मैं यह भी कहना चाहूंगा कि पिछली सदी सर्वाधिक सुशिक्षित सदी रही। इसलिए अन्य सारी सदियों की तुलना में अधिक विध्वंशक रही– पिछली सदी में दो विश्वयुद्ध हुए। स्पष्ट दिखाई देता है कि हमारी शिक्षा प्रणाली हमें किस तरफ ले जा रही है? अगर हम इसी दिशा में और आगे बढ़ते गए तो तीसरा यानि कि अंतिम विश्वयुद्ध होगा। क्या इसी दिशा में आगे बढ़ना है? समय रहते सावधान! निष्ठापूर्वक, गहराई से हमें पुनः विचार करना चाहिए। छोटी–छोटी चीजों में नयी पीढ़ी को रचनात्मक बनाना चाहिए, विध्वंशक नहीं।

ओशो उदाहरण देते हैं कि मान लो बच्चे ने घर में कांच का गिलास तोड़ दिया। अब उसको इस बात पर मत डांटो कि कांच का गिलास क्यों तोड़ा? वह करेगा क्या, उसके पास बहुत ऊर्जा है, कुछ तो करेगा। उछल–कूद करेगा, खेलेगा, कूदेगा, सामान यहां से वहां करेगा। अब मुसीबत यह है कि आज के जमाने में सारी चीजें ऐसी ही हैं कि टूटने वाली है। आपकी बैठक में जो रखा है, चाहे टेलीविजन या मोबाइल चाहे कुछ अन्य दूसरी चीजें हों सब टूटने–फूटने वाली वस्तुएं हैं। बच्चा करे तो क्या करे? बजाय उसे डांटने के कि तुमने गिलास क्यों तोड़ा? हमें उसे कहना चाहिए कि चलो यह रही मिट्टी, इससे तुम एक नया गिलास बनाओ। तब उसकी ऊर्जा क्रिएटिविटी में लग जाएगी। बजा

य इसके कि बच्चा फूल तोड़े या पौधे को नष्ट करे, हम उसे बगीचे में काम करना सिखाएं। नया पौधा उगाना सिखाएं। उसकी ऊर्जा गतिविधि में लगे। उसे हम चित्रकला सिखाएं, नृत्य सिखाएं, गीत गाना सिखाएं, संगीत के वाद्ययंत्र बजाना सिखाएं, उसे अभिनय की कला सिखाएं, खेलकूद सिखाएं। भिन्न–भिन्न दिशाओं में, जिसमें जो प्रतिभा छिपी हो, हम उसको वह करने दें। तब हम पाएंगे कि उनके जीवन में सृजनात्मकता आयी और संतोष आया। लोग सीधे शांति व संतोष खोजते हैं, जबकि वह सृजन की छाया है।

यह बात स्मरणीय है कि पिछले सौ डेढ़ सौ साल में शिक्षा के बढ़ने के साथ–साथ पूरी मनुष्य जाति असंतुष्ट होती चली गई है। जितनी निराशा, डिप्रैशन, तनाव और टैंशन आज दुनिया में है, इतने कभी नहीं थे। हमारे पूर्वज जिनका हम स्मरण कर सकें एक पीढ़ी, दो पीढ़ी पहले वाले लोग, हमसे ज्यादा शांत और सुखी थे। यद्यपि वे इतने सम्पन्न न थे, उनके पास

इतनी सुविधाएं न थीं। फिर भी वे ज्यादा संतुष्ट थे। आज संतोष नहीं है, उसका कारण है कि हमारी ऊर्जा क्रिएटिव नहीं है। पुराने जमाने में क्रिएटिविटी बहुत सहज थी। कुम्हार का बेटा कुम्हार ही होता था, बढ़ई का बेटा बढ़ई, चमार का बेटा चमार होता था। और सात-आठ साल की उम्र में जैसे ही कुछ करने योग्य हुआ, अपने पिता का साथ देने लगता था।

जैसे ही लड़की बड़ी हुई, छः-सात साल की; वैसी ही वह अपनी मां के काम में सहयोग देने लगती। खाना पकाने में कुछ-कुछ मदद करने लगेगी, धीरे-धीरे वह खाना पकाना सीख जाएगी। लड़के-लड़कियां हमेशा कुछ बनाना सीख रहे थे। कारपेंटर का बेटा कम से कम लकड़ी उठाकर लाने लगा। कुछ सहयोग पिताजी का करने लगा। पिता शिक्षा दे रहा था, वह स्वयं कुछ बना रहा था। कारखानों के पूर्वकाल में सारे काम बड़े क्रिएटिव थे।

हर व्यक्ति को संतोष होता था कि उसने कुछ बनाया। एक चमार को भी संतोष होता था कि राजा साहब ने हमको बुलाया था, उनके जूते का नाप लेकर आए हैं, अब सम्राट हमारे बनाए जूते पहनेंगे। एक प्रकार का संतोष होता था। आज शिक्षा प्रणाली ने हमसे वे सारे प्रोफैशन छीन लिए हैं, जो पारम्परिक चले आ रहे थे और नया कुछ क्रिएटिव नहीं सिखाया। सभी क्लर्क बनने को तैयार हैं। कागज, पैन पकड़कर दफ्तर में बैठे रहेंगे और तनावग्रस्त होंगे। कुछ क्रिएटिविटी का मौका ही नहीं है।

स्त्रियों को फिर भी ज्यादा मौका मिल जाता है। संतान उत्पन्न होती है, एक जीवन को जन्म दिया, बहुत संतोष अनुभव होता है। पुरुषों को वह अवसर भी नहीं है। तो पुरुषों के लिए क्रिएटिविटी बहुत ही जरूरी हो जाती है। अगर हम तुलनात्मक रूप से देखें तो सारी दुनिया में स्त्रियां कम आत्महत्या करती हैं, स्त्रियां कम पागल होती हैं, स्त्रियां कम अपराध करती हैं, स्त्रियां युद्धों में, कुटिल राजनीति में शरीक नहीं होती हैं। ये सारे उपद्रव, आतंक और विध्वंस के काम पुरुषों द्वारा किये जाते हैं। प्रकृति ने स्त्रियों को एक सहज सृजन की क्षमता दी है, उनको उसमें संतोष हो जाता है। पुरुषों को संतोष नहीं होता, उनको कुछ और बनाना सीखना होगा। तो शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह सृजनशीलता की वृद्धि करे।

मा मोक्षा– क्या महिलाओं के लिए अलग शिक्षा प्रणाली और पुरुषों के लिए अलग शिक्षा प्रणाली हो?

ओशो शैलेन्द्र जी– निश्चित रूप से दोनों के व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न हैं और दोनों की आंतरिक क्षमताएं, योग्यताएं बिल्कुल अलग-अलग है। सहशिक्षा तो होनी चाहिए जरूर। किंतु कुछ हद तक दोनों में भिन्नताएं हैं, उनका भी ख्याल रखना चाहिए। उदाहरण के लिए कबड्डी, किक्रेट या फुटबाल खेलना लड़कों के लिए बिल्कुल उचित है, भाग-दौड़ करना। लेकिन लड़कियों के लिए जिन्हें घर गृहस्थी संभालनी है, बच्चे पालने हैं, उनके लिए कुछ और हो– थोड़ी कोमल, कमनीय शिक्षा। वे नृत्य करना सीखें, संगीत सीखें, गाना सीखें तो घर में खुशी का वातावरण होगा। फुटबाल में लातें मार-मारकर लड़कों की हिंसक वृत्ति अवश्य निकाली जानी चाहिए। रेचन हो जाएगा। लड़कियों में उस प्रकार की वृत्ति नहीं है। लेकिन हम देखते हैं कि सारी दुनिया में लड़कियां भी लड़कों

के समकक्ष होने की कोशिश में, बराबर होने की कोशिश में संलग्न हैं।

ओशो कहते हैं कि स्त्री अगर पुरुषों की नकल करेगी, जैसे पश्चिम में शुरूआत हुई थी पिछली सदी में, अब तो पूरब में भी फैल रही है। पुरुष जीन्स पहन रहे थे, लड़कियां भी पहनने लगीं। पुरुष सिगरेट पी रहे थे, स्त्रियां भी पीने लगीं। यह बिना सोचे कि क्या यह मेरे व्यक्तित्व में श्रृंगार करेगा कि कुरूप लगेगा? एक स्त्री सिगरेट पी रही है, धुआं बाहर-भीतर ले जा रही है। ये मूर्खतापूर्ण काम पुरुषों को करने दो। इसकी नकल करने की क्या जरूरत है? तो प्रकृति द्वारा प्रदत्त अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुकूल चलें। पुरुषों का व्यक्तित्व कठोर किस्म का है, महिलाएं बहुत कोमल किस्म की हैं। उन्हें अपनी भावनाओं का सम्मान करना चाहिए। उनकी शिक्षा पद्धति काफी भिन्न होनी चाहिए।

स्त्रियों के अनुकूल नयी शिक्षा प्रणाली खोजी जाए। अभी जो शिक्षा चल रही है, वह पुरुषों के अनुकूल है। वह पुरुषों ने खोजी है और उनके स्वभाव के हिसाब से ठीक है। याद रखना, सौ साल पहले तक अधिकांश स्त्रियां शिक्षा से वंचित रहती थीं। वर्तमान शिक्षा केवल लड़कों के लिए विकसित हुई है। खेल-कूद सिर्फ लड़कों के लिए बने हैं। विज्ञान की पढ़ाई, तर्क और गणित की पढ़ाई स्त्रियों के काम की नहीं है। जरा हिसाब लगाएं कि जिन वैज्ञानिकों को नोबल प्राईज मिला है उनमें स्त्रियां कितनी हैं? उसी से समझ में आ जाएगा। वह स्त्रियों की दिशा नहीं है, वह उनके लिए सहज स्वभाविक नहीं है। वे कितना ही विज्ञान पढ़ लें, विज्ञान उनकी आत्मा नहीं बन सकता है। गणित में वे गहरी नहीं जा सकतीं और जाना भी नहीं चाहिए। गणित, तर्क और विज्ञान भावनाओं को नष्ट करते हैं, फिर परिवार टूटेगा। पश्चिम में जो परिवार टूटा है, उसका यही कारण है, खूब अच्छे से समझ लो।

पहले संयुक्त परिवार था आज से सौ साल पहले तक। बीसवीं सदी से वैयक्तिक परिवार हो गए। इक्कीसवीं सदी में सिंगल परिवार भी टूटने लगा, पति-पत्नी भी गए। कुछ देशों में तो विवाह ही बंद हो गया कानूनी रूप से। कोई शादी करता ही नहीं। परिवार टूटना क्यों हो रहा है? हमने स्त्रियों को भी वही शिक्षा दे दी है, जो पुरुषों को दी जा रही थी। जो सिखावन पुरुषों के अनुकूल थी, वही स्त्रियों के प्रतिकूल पड़ गयी। अब घर में वाद-विवाद होगा, तर्क-वितर्क होंगे, बहस होगी, क्लेश होगा। नहीं, यह स्त्रियों के लिए अनुकूल नहीं है, उनको भावपूर्ण होने की, कलात्मक होने की शिक्षा देनी चाहिए।

स्वभाव के अनुसार खोजें और स्त्रियां ही खोजें तो उचित होगा बजाय पुरुषों के। स्त्रियां ही खोजें कि हम लड़कियों को कैसी शिक्षा दें कि वे एक अच्छी गृहिणी बन सके, एक अच्छी बहन साबित हो, अच्छी पत्नी साबित हो और अच्छी मां बन सके। निश्चित रूप से उन्हें फिजिक्स, केमिस्ट्री, भूगोल, इतिहासादि पढ़ाने की जरूरत नहीं है। गणित और व्याकरण पढ़ाने की जरूरत नहीं है। उनके कुछ अन्य ही विषय होंगे।

ओशो चाहते हैं कि नारी-शिक्षा बिल्कुल अलग ढंग की हो जो नारी के व्यक्तित्व को खिलाए। नारी नकल न करे नर की। अपनी विशिष्टता को विकसित करे। निसर्ग से जो जन्मजात गुणवत्ताएं लेकर आई है, इन बीजों को वृक्ष बनकर पुष्पित पल्लवित होने दे।

मा मोक्षा– क्या आप समानता या बराबरी नहीं होनी चाहिए?

ओशो शैलेन्द्र जी– समानता और भिन्नता ये दो पृथक बातें हैं। समानता जरूर होनी चाहिए, ऐसा ओशो कहते हैं; अर्थात् दोनों को विकसित होने के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि दोनों एक समान हो जाएंगे। अपनी–अपनी निजता में, अपने–अपने व्यक्तित्व का फूल खिलेगा। हमने गुलाब के पौधे को भी खाद पानी दिया और चांदनी के पौधे को भी खाद पानी दिया। दोनों को विकास का समान अवसर है। दोनों को सूरज की धूप बराबर से मिली लेकिन गुलाब, गुलाब बनेगा; चांदनी, चांदनी बनेगी; चमेली, चमेली बनेगी। एक का रंग लाल है, दूसरे का सफेद है।

खिलावट अपनी–अपनी होगी, विविधता होगी, भिन्नता होगी। निश्चित रूप से महिलाएं जब पुष्पित होंगी, उनका पूरा फूल खिलेगा उनके व्यक्तित्व की खिलावट होगी वे पुरुषों से काफी भिन्न होंगी। जरूरी नहीं कि वे फिजिक्स में नोबल प्राईज प्राप्त करें। उन्हें अपना ही अलग से इंतजाम करना होगा कि सर्वश्रेष्ठ गायिका कौन है? कि सर्वश्रेष्ठ नृत्यांगना कौन है? किसको प्राइज मिले? पुरुषों के द्वारा बनाई गई पुरस्कार व्यवस्थाएं पुरुषों के ही अनुकूल है, उसमें स्त्रियां न उलझें तो अच्छा है। वे अपना एक बिल्कुल अलग संसार बसाएं। नारी को पुरुषोचित प्रतियोगिताओं में भाग नहीं लेना चाहिए।

इसका यह मतलब नहीं है कि उनको समान अवसर न मिले विकसित होने का। लड़को को, लड़कियों को, दोनों को समान मौके मिलना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि हम उनको समान बना देंगे। वे भिन्न–भिन्न बनेंगे और मजे की बात है कि जितनी उनमें भिन्नता होगी उतना ही परस्पर आर्कषण और प्रेम गहरा होगा। अगर वे समान हो जाएं तो सारा आर्कषण समाप्त हो जाए। वैसी दुर्घटना सारी दुनिया में घट रही है। समलैंगिकता, लेस्बिनिज्म, होमो सेक्सुअलिटी आदि की बढ़ती संख्या इसी विकर्षण का दुष्परिणाम हैं।

जैसे चुम्बक का उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव दोनों एक–दूसरे को खींचते हैं। और समान पोल अगर दोनों हो जाएंगे तो एक दूजे को विचलित करेंगे, दूर करेंगे। आर्कषण की जगह विर्कषण पैदा हो जाएगा और आज हम पश्चिमी देशों में खूब अच्छे से देख सकते हैं यह दुर्घटना घट गई है। स्त्री पुरुष का आर्कषण समाप्त हो गया। प्रकृति ने प्रेम का जो इंतजाम किया था उसकी हत्या हो गई क्योंकि वे दोनों समान बनने की कोशिश में लग गए। यह बिल्कुल ही गलत है। इसके प्रति हमें बहुत सतर्क होना चाहिए। पश्चिम में जो हो चुका है पचास साल पहले, आज वह हमारे देश में हो रहा है। हम उनकी ही नकल कर रहे हैं। तो जो–जो गलतियां हुई हैं, कम से कम उनसे तो सावधान हों; वे भूलें रिपीट न हों।

ओशो ने काफी पहले इस बारे में सचेत किया कि नारी शिक्षा अलग ढंग की होनी चाहिए जो उसके व्यक्तित्व के अनुकूल हो। जो घर–गृहस्थी, परिवार को जोड़ने में सफल हो, जो नारी को पुरुष जैसी न बनाए। पुरुष में परुषता यानी कठोरता है, वह तोड़ने वाला है, विश्लेषक है, वह महान वैज्ञानिक आविष्कारक हो सकता है, किंतु श्रेष्ठ संश्लेषक नहीं।

मा मोक्षा– ओशो एक और बात पर जोर देते हैं, अद्वितीयता, यूनीकनैश। पुरुषों की शिक्षा एक प्रकार की है लेकिन क्या हर पुरुष अलग प्रकार का नहीं है?

इस बारे में आपका क्या ख्याल है?

ओशो शैलेन्द्र जी– निश्चित रूप से हर व्यक्ति अलग है। साढ़े सात अरब लोग हैं। अन्य बड़ी–बड़ी बातों को तो छोड़ दें, अंगूठे का निशान, फिंगर प्रिंट्स भी एक आदमी के दूसरे आदमी से नहीं मिलते। आज तक ऐसा आदमी नहीं हुआ, जिसके फिंगर प्रिंट आपके समान हों या मेरे समान हों और न ऐसा इंसान कभी भविष्य में होगा।

फिंगर प्रिंट जैसी इतनी छोटी–सी चीज, हमारी दृष्टि में जिसकी कोई कीमत समझ नहीं आती; वह भी प्रकृति ने बड़ी विशिष्ट बनाई है। अन्य गुणों को देखें, मन की प्रतिभाओं को देखें, मन की क्षमताओं को देखें तो हम आश्चर्य चकित होते हैं कि एक व्यक्ति जैसा दूसरा व्यक्ति कहीं है ही नहीं; न कभी हुआ है और न कभी होगा।

प्रकृति ने हमें अद्वितीयता दी है, अनूठापन दिया है, हर व्यक्ति असाधारण है। इस असाधारणता का सम्मान किया जाए और प्रत्येक को कुछ अलग होने का अवसर दिया जाए। मुझे स्मरण आता है, कुछ वर्षों पहले एक फिल्म बनी थीः 'थ्री इडियट्स'। मैं अक्सर फिल्में बहुत कम देखता हूं। लेकिन मेरे किसी मित्र ने उसकी बहुत तारीफ की। मैंने वह फिल्म देखी और मैंने पाया कि बहुत अच्छी फिल्म है, उत्कृष्ट कहानी है। उसमें यही मुख्य प्वांइट आता है कि जो इंजीनियर बन सकता है, वो इंजीनियर बने। हर किसी को इंजीनियर बनाने की कोशिश क्यों की जा रही है? हर किसी को डॉक्टर, कि सी.ए. बनाने की कोशिश क्यों की जा रही है? जिनके लिए जो सहज, स्वाभाविक है, वह अपनी–अपनी प्रतिभा का विकास उस दिशा में करें, चाहे वह पुरुष हो या नारी हो।

अद्वितीयता का ओशो ने खूब अच्छा विश्लेषण किया है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के पास एक फिक्स्ड ढांचा है, पैर्टन है, जिसमें सबको ढालना है। हमारे पास बना बनाया सांचा है। एक सांचे में सबको ढालने से बहुत गड़बड़ हो रही है। ऐसा करना प्रकृति के खिलाफ अपराध है। यह जुर्म, स्वधर्म को खिलने नहीं देता। फिर व्यक्ति को जीवन में कभी संतोष नहीं मिलता। वह आदमी जो संगीतकार बनने को पैदा हुआ था, अगर हमनें उसको डॉक्टर या इंजीनियर बना दिया तो हो सकता है कि दुनिया उसे सफल व्यक्ति माने, लेकिन उसे अपने भीतर कभी भी संतुष्टि की अनुभूति नहीं होगी। केवल आजीविका के साधन जुटाना ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं है। वह जरूरी है, किंतु सब कुछ नहीं। आजीविका, जीवन नहीं है। पूर्ण शिक्षा व्यक्ति को हर आयाम में पूर्णरूपेण खिलने हेतु सहयोगी होगी।

अंत में एक बात और– असाधारण होना बिल्कुल साधारण बात है। इसे अभिमान से मत जोड़िए। अस्तित्व में सब कुछ अद्वितीय है, किंतु ऊपर–नीचे नहीं है, हायरेरिकी नहीं है। मोक्षा, कुछ बातें रह गईं, कल आगे चर्चा करेंगे। धन्यवाद। जय ओशो।

सृजनात्मकता एवं अद्वितीयता

मा मोक्षा– प्यारे मित्रो, नमस्कार। शिक्षा इतना बड़ा विषय है कि उसे सारांश में नहीं समझा जा सकता।

गुरूदेव, समयाभाव में विगत चर्चा अधूरी रह गई थी। असाधरणता एवं अनूठेपन की खिलावट हेतु शिक्षा प्रणाली कैसे योगदान दे? ओशो की दृष्टि बताने की अनुकंपा करें।

ओशो शैलेन्द्र जी– पहले एक घटना, जिसका ओशो ने जिक्र किया है, जब वे जबलपुर में रहते थे। उनके एक परिचित चिकित्सक सेवा–निवृत्ति की उम्र पर पहुंचे। उस इलाके के वह प्रसिद्ध सर्जन थे। दूर–दूर से लोग ऑपरेशन कराने उनके पास आया करते थे। उनके रिटायरमेंट पर बड़ा उत्सव मनाया गया। नौकरी से विदाई हो रही थी, बड़ा आयोजन था। उनके सारे मित्र इकट्ठें हुए, परिचित लोग बुलाए गए और उनके विद्यार्थी भी। चूंकि वह मेडिकल कॉलेज में प्रोफेसर थे, सर्जरी पढ़ाते थे। अब तो उनके विद्यार्थी तक सुप्रसिद्ध डॉक्टर बन चुके थे। वे सब अपना सम्मान प्रकट करने आए।

पार्टी चल रही थी, अचानक लोगों ने देखा कि डॉक्टर साहब तो यहां हैं ही नहीं। थोड़ी देर इंतजार किया। घर में सब जगह ढूंढा, कहीं नहीं! बड़ी हैरानी हुई कि गए कहां? उन्हीं की खातिर तो सब आए हैं। बाहर जाकर किसी ने देखा कि बगीचे में वह किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए बहुत उदास थे और उनकी आंखों से आंसू टपक रहे थे। उनसे पूछा कि क्या हुआ... हम सब तो जश्न मनाने आए हैं, आप के जैसा प्रतिभाशाली व सफल सर्जन इस इलाके में आज तक नहीं हुआ और आप रो रहे हैं?

उन्होंने कहा, हां, रो रहा हूं। मैं डॉक्टर बनना ही नहीं चाहता था। लेकिन मेरे पिता जी बहुत डोमिनेटिंग, दबंग–प्रवृत्ति के आदमी थे। उन्होंने जबरदस्ती मुझे मैडिकल कॉलिज में पढ़ने भेज दिया। मैं सर्जन बन गया और नौकरी करने लगा। धीरे–धीरे लैक्चरर से प्रोफेसर बन गया। मेरा नाम भी हो गया और मैंने पैसा भी खूब कमाया। लेकिन यह काम मुझे कभी नहीं भाया। सर्जरी में कुशल जरूर हूं, मगर इसे कतई पसंद नहीं करता।

मित्रों ने उनसे पूछा कि आप क्या बनना चाहते थे?

वे कहने लगे कि मैं तो गिटार बजाना चाहता था। मेरा एक ही शौक था और मेरे पिता जी गिटार से इतना चिढ़ते थे कि कभी–कभार मैं यहां–वहां से पैसे इकट्ठे करके, अपना जेब खर्चा बचाकर गिटार खरीद लाया। जैसे ही पिता जी को पता चला तो उन्होंने मेरी गिटार उठाकर तोड़ दी। ऐसा दो बार हुआ। फिर तो मेरी हिम्मत नहीं पड़ी कभी गिटार बजाने की। अगर पिता जी घर में कभी गिटार की आवाज सुन लेते तो नाराज हो जाते थे। पिता जी बहुत जबरदस्त पर्सनालिटी के थे। मैं उनके ऊपर निर्भर था। मैं उनका विरोध नहीं कर सका। उनकी हर आज्ञा माननी ही पड़ती थी, घर में बड़ी तानाशाही चलती थी।

इस तरह मैं डॉक्टर बन गया लेकिन यह मेरी रुचि का काम नहीं है। आज मुझे लगता है कि काश मैंने पिता जी की न सुनी होती, विद्रोह कर दिया होता, घर से भाग गया होता। उनकी आर्थिक सहायता अगर मुझे नहीं मिलती और मैं गिटार बजाकर भीख भी मांग लेता तो भी मैं ज्यादा संतुष्ट होता। मुझे एक तसल्ली का अहसास होता कि मैंने वह कर लिया जो मैं करना चाहता था।

किसी ने पूछा कि आपके पिता जी का देहांत हुए तो करीब बीस साल हो गए, फिर आपने संगीत क्यों नहीं सीखा? गिटार क्यों नहीं बजाई?

वह कहने लगे कि इसीलिए तो मैं रो रहा हूं। यश, प्रतिष्ठा, मान, सम्मान, धन, दौलत, सुख–सुविधा, सम्पत्ति मैं भी इस जाल में उलझ गया। और अब तो मेरे हाथ कांपने लगे हैं, मैं सर्जरी भी ठीक से नहीं कर पाता। हाथों में कंपन होने लगा है। अब तो मुझसे गिटार भी नहीं बजेगी। हाथ कांपने लगे हैं। इसलिए मुझे रोना आ रहा है कि बीस साल पहले पिताजी के गुजर जाने के बाद भी मैं फिर से नई शुरूआत कर सकता था, तब तो मुझे पैसों की जरूरत भी नहीं थी। मेरे पास काफी पैसे थे और मेरे बच्चे भी बड़े हो गए थे और वे भी कमा रहे थे। इसलिए मैं रो रहा हूं, पश्चाताप के आंसू बहा रहा हूं।

याद रखना हर व्यक्ति यूनिक है, असाधारण है, बेजोड़ है और उसे स्वयं ही खोजना होगा। हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसी हो कि हम बच्चों को सहयोग दे पाएं कि वो क्या बन सकते हैं? शायद बच्चों के मन में स्वयं ही स्पष्ट न हो। बहुत बच्चे कंफ्यूज्ड रहते हैं। उनको खुद ही नहीं पता कि किस दिशा में जाना चाहिए?

विशेषज्ञ मनोवैज्ञानिक स्कूलों में एप्वाइंट किए जाएं जो बच्चों का व्यवहार देखें, उनकी मनोदशा का अध्ययन करें और गाइड कर सकें कि उन्हें किस दिशा में जाना चाहिए? उनके अविभावकों को सलाह दें कि बच्चों के साथ जबरदस्ती न करो। जो वे होने को आए हैं, परमात्मा ने उन्हें जिस काम से भेजा है, उन्हें वह करने दो ताकि जीवन में संतोष हो सके।

बिल्कुल शुरुआत से हमारी शिक्षा प्रणाली में एक बहुत बड़े परिवर्तन की जरूरत है।

मा मोक्षा– जैसे वह डॉक्टर थे, लेकिन बनना नहीं चाहते थे। ऐसे ही संसार में बहुत सारे लोग होंगे जो आज किसी और स्थिति में हैं जहां वे होना नहीं चाहते हैं। तो आप उनके लिए क्या संदेश देंगे? सबके लिए तो संभव नहीं है कि वे जिस प्रोफेशन में हैं,

उसे छोड़कर अभी तुरंत एक नई शुरूआत कर सकें। इसके लिए तो बहुत जोखिम उठानी होगी।

कोई ऐसा उपाय संभव है कि छोटे–छोटे कदम उठा सकें?

ओशो शैलेन्द्र जी– उपाय जरूर है। अगर इतनी हिम्मत नहीं है, इतना साहस नहीं है कि अपना काम–धाम छोड़ सकें और एबीसी से नई चीज शुरू कर सकें तो एक काम किया जा सकता है। चौबीस घंटे में से कम से कम एक–दो घंटा अपनी पसंद के काम में दे दें। ठीक है आप 23 घंटे डॉक्टर या इंजीनियर बने रहो। एक घंटा अपने शौक के लिए निकालिए, गिटार बजाना हो तो गिटार बजाएं और गीत गाना हो तो गीत गाएं।

अभी थोड़े दिन पहले एक पति–पत्नी आए थे, उनका काफी क्लेश चलता रहता है। तीन साल ही हुए उनके शादी को और तलाक की नौबत आ रही है। मेरे पास आए, कहने लगे आप कुछ सलाह दीजिए। हमारा हर चीज में विवाद हो जाता है, झगड़ा हो जाता है क्या करें? झगड़ा हम करना नहीं चाहते पर हो जाता है। हमारा प्रेम विवाह है। प्रेम भी है लेकिन अब बिल्कुल नहीं बन पा रही है।

मैंने युवक से पूछा कि यह बताओ कि शादी से पहले तुम्हारा खास शौक क्या था? किस चीज में तुम बहुत मजा लेते थे? उसने कहा कि मुझे बालीबॉल खेलने का शौक है लेकिन अब तो नहीं खेलता हूं। मैंने कहा, अब क्यों नहीं खेलते हो? कहने लगा कि ऐसे ही बस, घर गृहस्थी की जिम्मेदारियां आ गयीं हैं। मैंने कहा कि ऐसी कौन सी जिम्मेदारी आ गई कि घंटा भर का समय तुम नहीं निकाल सकते? क्या तुम उन दोस्तों से मिलते हो जिनके साथ पहले बालीबॉल खेलते थे? उसने कहा– नहीं, उनके साथ भी अब उतना संबंध नहीं रहा है, धीरे–धीरे सम्पर्क टूट गया है, क्योंकि अब मैं वहां जाता ही नहीं हूं।

मैंने उसकी पत्नी से पूछा– तुम बताओ, किस चीज में बहुत ज्यादा मजा लिया करती थीं? वो कहने लगीं कि मैं सितार सीखती थीं, और शास्त्रीय संगीत का मुझे बड़ा शौक था। मैंने कहा, ससुराल में तुम्हारे पास सितार है? बोली– नहीं, सितार माइके में छूट गई है।

मैंने कहा, तुम्हारे पिता जी ने लाखों रुपये का दहेज दिया और एक सितार न दे सके?

वह बोली, मैं जानबूझकर ही नहीं लायी। क्योंकि यहां तो अवसर ही नहीं है। घर–गृहस्थी की जिम्मेदारियां हैं। मैंने कहा, क्या तुम्हारे पति ने मना किया था कि सितार मत बजाना? वह कहने लगी कि नहीं, इन्होंने तो मना नहीं किया। इनको तो उसके बारे में पता भी नहीं है। मैंने कहा, तुम्हारी सास ने, ससुर ने, किसने मना किया था?

बोली– नहीं, मना किसी ने नहीं किया था, बस सितार छूट गई।

मैंने उसके पति से पूछा कि क्या तुम्हारी पत्नी ने बालीबॉल खेलने से मना किया है, रोका है? कहने लगा– नहीं, इसको तो ज्यादा पता भी नहीं है।

मैंने पूछा, तुमने क्यों छोड़ दी? तुम दोनों को जिस चीज में आनन्द आता था, घंटा–दो घंटा जिसमें तल्लीन हो जाते थे रोज, क्रिएटिव ऊर्जा पैदा होती थीं, वह चीज तुमने छोड़ दी। अब इसका बदला किससे लोगे? यह पत्नी जिसको सुख मिलता था सितार बजाने में,

शास्त्रीय संगीत में, इसका सुख छूट गया। छुड़ाया किसी ने नहीं, इसी की मूर्खतावश छूटा। आज भी चाहे तो शुरू कर सकती है। इसको कौन रोकेगा? सभी लोग समर्थन देंगे कि अगर तुम्हें इसमें शांति मिलती है, संतोष मिलता है, तो जरूर घंटा भर सीखो, बजाओ। लेकिन थोड़ी हिम्मत तो करनी होगी, अपने हृदय की बात उजागर करनी होगी।

वह युवक अपनी पत्नी से कहे कि घंटा भर मैं बालीबॉल खेलने जाऊंगा, तुम्हें कोई ऐतराज तो नहीं? मैं नहीं समझता कि पत्नी मना करेगी। पति को अगर मजा आता है अपने दोस्तों के साथ बालीबॉल खेलने में तो क्या हर्ज है? यह आदमी अगर बालीबॉल नहीं खेलेगा तो फिर घर में घूंसे चलाएगा। इसकी शक्ति जाएगी कहां आखिर? और पत्नी जो सितार नहीं बजा पा रही है, कि तबला नहीं बजा पा रही है, अब वह बच्चों के सिर को बजाएगी, उनके गालों को बजाएगी, चाटें मारेगी। कहीं न कहीं तो शक्ति लगेगी ही।

सृजनात्मक ऊर्जा, विध्वंसात्मक हो जाती है, अगर हमने उसका सदुपयोग नहीं किया। याद रखना, ऊर्जा हमारे पास एक ही है। न तो वह सृजनात्मक है न विध्वंसात्मक है। अगर हमने उसका सृजनात्मक उपयोग नहीं किया तो फिर विध्वंसात्मक हो जाएगी, और जो हमारे सुख छिन गए हैं, हम उसका दोषारोपण दूसरे व्यक्ति पर करने लगेंगे। उस बेचारे को तो पता ही नहीं है कि किस बात की नाराजगी है?

वह पत्नी बोली– यह बात तो आप ठीक कह रहे हैं। लेकिन मुझे कभी ख्याल नहीं आया कि मैं क्यों ससुराल वालों पर नाराज हूं? उसके पति ने भी स्वीकारा कि आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, अगर मैं बालीबॉल खेलने जाने लगूं तो मैं फिर वैसा ही हो जाऊंगा जैसा गैर शादीशुदा था। कम से कम घंटे भर खेलने के बाद जब मैं वापस आऊंगा तो निश्चित ही प्रसन्न आऊंगा। और जब मैं प्रसन्न आऊंगा तो मेरी पत्नी के साथ मेरी कलह नहीं होगी। पत्नी ने कहा, अगर मुझे घंटे भर सितार में डूबने का मौका मिल जाए तो हमारी गृहस्थी में जो क्लेश चल रहा है, वह एकदम बंद हो जाएगा। घर में मधुरता छा जाएगी।

यदि दो व्यक्ति दुखी हैं किसी भी कारण से और उनकी खिलावट नहीं हो पा रही है तो यही कारण है कि वे एक–दूसरे के साथ झगड़ेंगे। दुखी आदमी दूसरे को भी दुख ही देता है। ये दो व्यक्ति शादी के पहले स्वतंत्र थे, सुखी थे, तब इनमें प्रेम था। मैंने उनको समझाया कि तुम्हारा प्रेम–विवाह क्यों क्रोध–विवाह बन गया है? समझो। शादी के पहले तुम्हें जो मौज थी, तुम स्वतंत्र थे कुछ भी करने के लिए। तुम अपना–अपना मजा ले रहे थे। वह संगीत का मजा ले रही थी और तुम बालीबॉल का। तुम्हें यार–दोस्तों से मिलने में मजा आता था, तुम उनके साथ समय बिता रहे थे। दोनों सुखी थे। थोड़ी देर के लिए तुम मिलते थे आपस में। तो वह समय बड़ा अच्छा बीतता था, आनन्दपूर्ण होता था। क्योंकि तुम दोनों सुखी थे। अब शादी के बाद तुम दोनों दुखी हो। किसी ने जान–बूझकर नहीं किया है, मगर तुम हो गए दुखी।

तुम्हें सृजनशीलता की सूझबूझ नहीं है। दो दुखी व्यक्ति जब मिलेंगे तो क्रोध, कलह ही होगी। हमारे पास जो है, वही तो हम दूसरे को दे सकते हैं। अगर मेरे पास कांटे ही कांटे हैं और मैं चाहूं कि किसी को फूल दूं तो कैसे दूंगा? फूल मेरे पास होना भी तो चाहिए। तो

सुख, शांति, संतोष ये हमारे पास होने चाहिए तभी हम दूसरों के साथ शेयर कर सकते हैं। तभी एक सुखी, सम्पन्न परिवार बसेगा। मैंने यह छोटी–सी बात उनको समझायी। तब से बीच–बीच में कभी उनसे मिलना होता है, अब वे बड़े सुखपूर्वक प्रेमभरा जीवन जी रहे हैं।

सब छोटी–छोटी बाते हैं, जीवन में कोई बड़ी बातें नहीं हैं। कोई तय कर ले कि मुझे सृजनात्मक होना है। मेरे भीतर से जो रुचि और रुझान है, उसके अनुसार जीना है, तो दो घंटे आराम से निकाले जा सकते हैं। ठीक है आप जिस प्रोफेशन में हैं, उसको करते रहिए, उसको आजीविका कमाने का साधन समझिए, किन्तु आजीविका ही जीवन नहीं है। इस बात को याद रखना। रोजी–रोटी कमा लेना और भरण–पोषण कर लेना यही जिन्दगी नहीं है। इसके अलावा कुछ और भी। वह कुछ और क्या है? ...जो तुम्हारा हृदय चाहता है।

थोड़ा–सा समय उन चीजों को दो और तुम पाओगे कि रूपांतरण होने लगा। मैं समझता हूं कि कभी न कभी ऐसा मौका भी आएगा, वह सौभाग्य की घड़ी भी आएगी कि तुम अपनी रुचि की चीजों को अपना प्रोफेशन बना सको, तब तो कहना ही क्या? समझो किसी व्यक्ति को पेंटिंग में रस आता है और वह घंटा भर रोज पेंटिंग में देता है और मजा लेता है; तो मैं भली–भांति जानता हूं कि एक दिन जरूर आएगा कि उसकी पेंटिंग बिकनी भी लगेगी और यही उसका भरण–पोषण का उपाय भी बन जाएगा। उसकी जो जिन्दगी है, जो रस है, आनन्द है, जिसमें उसके प्राण बसते हैं, वही उसकी आजीविका भी बन जाएगी। अततः ऐसा होना संभव है, शुरूवात छोटे कदम से की जा सकती है।

मा मोक्षा– पुरुषों की शिक्षा अलग होनी चाहिए, नारियों की अलग। पहले इसकी चर्चा हुई है। पश्चिम में नारी मुक्ति आंदोलन भी चले हैं। सदगुरु ओशो की एक किताब है 'नारी और क्रांति' क्या आप उस संदर्भ में ओशो की दृष्टि समझाएंगे?

ओशो शैलेन्द्र जी– अवश्य! बहुत ही अद्भुत और अनूठी किताब है 'नारी और क्रांति'। यह उस समय की है, जब पश्चिम में 'वूमेन लिबरेशन' आन्दोलन शुरू हुआ था। भारतीय महानगरों में उसकी नकल शुरू हो गई थी। ओशो नकल के सख्त खिलाफ हैं। वे कहते हैं कि यदि स्त्रियां, पुरुषों की नकल करेंगी तो कभी भी नम्बर एक नहीं हो सकती हैं। वे नम्बर दो की पुरुष बनेंगी। पुरुष ही आगे रहेंगे, स्त्रियां कभी आगे नहीं निकल सकतीं।

पिछले दिनों हमने चर्चा की थी कि विज्ञान के क्षेत्र में स्त्रियां कितना भी विज्ञान पढ़ लें, वे पुरुष की होड़ नहीं कर सकतीं। स्त्रियां कितना ही गणित पढ़ लें, पुरुषों से आगे नहीं निकल सकतीं। स्त्रियां सेना में भर्ती हो जाएं, वे पुरुषों से ज्यादा अच्छा सैनिक कभी नहीं बन सकतीं। इसलिए बेहतर है कि अपने–अपने योग्य कार्य चुनें।

नारी क्रांति आंदोलन में नकल शुरू हो गई थी। स्त्रियों ने सोचा कि जो काम पुरुष कर रहे हैं, वही हम करेंगे। ये इंजीनियर बनते हैं तो हम भी बनेंगे, ये बीड़ी–दारु पीते हैं तो हम भी सिगरेट–शराब पियेंगे। यहां से गलत दिशा पकड़ ली थी नारी क्रांति आंदोलन ने।

ओशो इस भूल के प्रति नारी को सावधान करते हैं कि अपने सद्गुण पहचानो। तुम्हारे भीतर जो छिपा है अगर उसे प्रगट कर पाओगी तो तुम्हारे जीवन में सुख, शांति, संतोष होगा। पुरुष की नकल करके तुम बहुत तनाव में पड़ जाओगी। किसी सिगरेट पीने वाली और शराब पीने वाली महिला को मैंने शांत नहीं, वरन बहुत तनावग्रस्त देखा है। धूम्रपान से उसकी आंतरिक जीवन ऊर्जा की मैचिंग नहीं है, कुछ मिस–मैचिंग हो गयी।

सावधान, पुरुषों की नकल नहीं करना है, अनुकरण नहीं करना है। तुम्हें अपनी अद्वितीय प्रतिभा को उभारना है। अपने गुणों को विकसित करना है। तुम्हारे भीतर ममता, कोमलता, दया और करुणा के गुण हैं। देखो, ये जितने भी अच्छी–अच्छी सद्भावनाओं वाले शब्द हैं, ये सभी स्त्रीलिंग हैं। करुणा स्त्रीलिंग है, दया स्त्रीलिंग है, ममता स्त्रीलिंग है। जिन लोगों ने भाषा बनायी है, वे बड़े जानकार लोग रहे होंगे। प्रार्थना स्त्रीलिंग है, भावना स्त्रीलिंग है, मंगलकामना स्त्रीलिंग है, शब्दों तक के जैंडर चिंतन–ममन करके चुने गए हैं। पुरुषों के जो गुण हैं, वे हैं लड़ाई–झगड़े वाले, युद्ध वाले। पुरुष पाषाण युग से ही शिकारी रहा है। वह उसकी प्रमुख भूमिका रही है। महिला परिवार को संभालने वाली, सजाने वाली, घर–गृहस्थी को चलाने वाली रही है। दोनों की अलग–अलग भूमिकाएं हैं।

उन्हें एक–दूसरे की नकल नहीं करनी है, एक–दूसरे के कॉम्प्लीमेंटरी बनना है। कुछ कार्य पुरुष करेंगे, कुछ कार्य महिलाएं करेंगी, जब दोनों मिलकर एक–दूसरे के परिपूरक बनेंगे तभी जीवन में पूर्णता आएगी। अगर दोनों एक–जैसे ही हो गए फिर तो बात न बनेगी। फिर कॉम्प्लीमेंटरी नहीं रह जाएंगे, फिर आपस में प्रतिद्वंदिता शुरू हो जाएगी।

मैं एक डॉक्टर हूं और अपने बहुत सारे डॉक्टर दोस्तों को जानता हूं। जिन्होंने अपने पेशे के अनुसार किसी डॉक्टर से शादी की है। माना कि आर्थिक रूप से वे ज्यादा सफल हैं। समझो पति बच्चों के स्पेशलिस्ट हैं और उनकी पत्नी स्त्रीरोग विशेषज्ञ हैं तो स्वभाविक है कि इनके यहां ज्यादा मरीजों की भीड़ लगी रहेगी। धन–दौलत ये ज्यादा कमा लेंगे। लेकिन इनकी जिन्दगी में अब ये पति–पत्नी जैसे न रहे। दिन भर अस्पताल में भी संग–साथ है, फिर घर में भी लौटकर संग–साथ हैं। दिन भर मरीजों के बीच, फिर उन्हीं मरीजों की चर्चा घर में करेंगे और एक प्रोफेशनल जैलिसी आपस में शुरू हो जाएगी।

इस बात पर गौर करना कि अगर दोनों एक ही प्रोफैशन के हैं, तो उनमें प्रोफैशनल जैलिसी शुरू हो जाएगी। पत्नी कहेगी कि ज्यादा मरीज मेरे पास आते हैं, तुम तो बैठे–बैठे मक्खी मारते रहते हो। मेरे यहां जो महिलाएं आती हैं, तुम तो उन्हीं के बच्चे देखते हो। तुम्हारे पास अपने कोई मरीज थोड़े ही हैं। मैं ज्यादा धन कमाती हूं, ज्यादा पैसा कमाती हूं।

पति को जब इस बात का अहसास होता है कि पत्नी ज्यादा धन कमा रही है तो उसको हीनता की भावना पकड़ती है। हमेशा से पुरुष धन कमाते रहे हैं और स्त्रियां उनके ऊपर निर्भर रहीं हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि मरीजों की भीड़ महिला डॉक्टर के पास आ रही है। उनके बच्चें हैं इसलिए तो बच्चों के स्पेशलिस्ट को दिखातीं हैं।

पति में हीनता की भावना आएगी, यह इसका बदला कहां लेगा? यह अपनी पत्नी से

प्रतिशोध लेगा। परोक्ष रूप से, सीधा–सीधा नहीं। संभवतः दोनों को इस बात का ज्ञान भी न होगा। ईर्ष्या का प्रत्यक्ष अहसास भी न होगा। पत्नी को नहीं पता कि उसके भीतर श्रेष्ठता की भावना आ गयी और पति को भी नहीं पता कि उसके भीतर हीनता की भावना आ गयी है। अवचेतन मन के अंधेरे कोने में सुपीरियरिटी और इन्फीरियरिटी कांप्लैक्स जन्म गए।

अब इनका परिवार बड़े संघर्ष में पड़ेगा। ये प्रेमपूर्वक नहीं रह सकते हैं। क्योंकि इनकी आपस में ही शत्रुता हो गई। ईर्ष्या, स्पर्धा शुरू हो गई, प्रतियोगिता शुरू हो गई। यह परिवार कभी सुखी परिवार न हो सकेगा। इनमें तो हमेशा ही एक तनाव बना रहेगा। ये पति–पत्नी का ठीक रोल न निभा पाएंगे, क्योंकि ये जो जिन्दगी में डॉक्टर के रोल में एक साथ, एक बराबर के, समान तल के जो हो गए हैं।

ओशो कहते हैं, नारी की शिक्षा बिल्कुल अलग ढंग की हो, वह क्या हो सकती है, वह स्वयं देखे; स्वयं निर्णय करे। अपने भीतर अपनी प्रकृति की पहचाने और तब उसकी खिलावट होगी। पुरुष और स्त्री दोनों कॉम्प्लीमैंट्री होंगे। अच्छा है कि पुरुष गणितज्ञ हो और स्त्री संगीतज्ञ हो। तब बहुत अच्छा होगा कि पुरुष को संगीत के बारे में ए बी सी भी नहीं पता और स्त्री को गणित के बारे में वन टू थ्री भी नहीं पता। यह बहुत अच्छा होगा। ये एक दूसरे के कॉम्प्लीमैंट्री होंगे और इनके जीवन में एक पूर्णता का अहसास होगा।

विपरीत किस्म के, परिपूरक ढंग के पति–पत्नी के मिलने से नई समग्रता उत्पन्न होगी। अगर दोनों एक से हैं, तो वैसे ही होगा कि चुम्बक के दो नार्थ पोलों को हमने आस–पास रख दिया है। बहुत विकर्षण उत्पन्न हो जाएगा। प्रेम उत्पन्न नहीं होगा। ओशो ने इस खतरे के प्रति विशेष रूप से सचेत किया है।

नारी और क्रांति

मा मोक्षा– ओशो के प्रवचनों में हम कहीं पुरुष एवं स्त्री की बातें सुनते हैं तो कहीं पुरुष चित्त एवं स्त्रैण चित्त की बात सुनते हैं। इनमें क्या भेद अथवा विरोधाभास–सा है?

ओशो शैलेन्द्र जी– सभी पुरुष, पुरुष चित्त के हों ऐसा जरूरी नहीं है। समझो कि कोई सज्जन कवि हृदय हैं। इनके अंदर बड़ी कोमल भावना है, गहरी संवेदना है, छोटी–छोटी बातें इनको छू जाती हैं, दिल को स्पर्श कर जाती हैं। इनके भीतर संवेदनशीलता है, सौन्दर्य के प्रति दीवानगी है। उसी से तो काव्य–कुसुम लिखता है। कहने को यह पुरुष है, किन्तु ओशो की भाषा में इसको स्त्रैण चित्त कहेंगे। यह हृदय उन्मुख है, बुद्धि उन्मुख नहीं है। हमारे भीतर दो चीजें हैं– दिल और दिमाग, मस्तिष्क और हृदय। एक विचारों का केन्द्र है और दूसरा भावनाओं का केन्द्र है। कवि विचार व तर्कबुद्धि से नहीं जीता है, भावना के आयाम में जीता है। यह स्त्रैण चित्त कहलाएगा।

इसी प्रकार कभी–कभी स्त्रियों में अपवाद दिखाई देंगे। कुछ स्त्रियां ऐसी होंगी जो पुरुष चित्त की हैं। जो गणित से चलती हैं, हिसाब–किताब से जीती हैं। इनको वैज्ञानिक चिंतन–मनन संभव होता है। तर्क में जिनकी ज्यादा रुचि है और प्रेम में कम है। पुरुषों के जीवन में यह स्वाभाविक है– तर्क ज्यादा, प्रेम कम। स्त्रियों में प्रायः विपरीत स्थिति मिलेगी– प्रेम ज्यादा और तर्क कम। तब वे एक दूसरे के कॉम्प्लीमैंट्री हो जाते हैं।

किन्तु अपवाद भी होते हैं। और अपवाद नियम को ही सिद्ध करते हैं। नियम तो यही है कि पुरुषों में अधिकांश, 95 प्रतिशत लोग कठोर वृत्ति वाले होंगे। अधिकांश स्त्रियों में 95 प्रतिशत या उससे भी ज्यादा कोमल भावनाओं वाली होंगी। लेकिन चार–पांच प्रतिशत दोनों में अपवाद होंगे। चूंकि हर स्त्री या पुरुष का निर्माण माता–पिता के मिलन से हुआ है, अतः दोनों के ही गुण सबमें मौजूद हैं। किंतु कोई एक वृत्ति ज्यादा हॉवी हो जाती है और दूसरी भीतर छुपी हुई रहती है। इसलिए ओशो कभी–कभी स्त्रैण चित्त व पुरुष चित्त की चर्चा करते हैं। इस बात को गौर से समझें– देह की बनावट से अधिक मनोवृत्ति महत्वपूर्ण है।

मा मोक्षा– शिक्षा प्राप्ति के बाद जैसे–जैसे इंसान विकास करता है, ज्यादा अनुभवी होता है; वह और ज्यादा फिक्स्ड होता जाता है। जबकि होना उल्टा चाहिए कि ज्यादा सीखकर ज्यादा खुले हृदय हो। ऐसा उल्टा क्यों हो रहा है और हम क्या करें कि हम ज्यादा खुले व लचीले रह पाएं?

ओशो शैलेन्द्र जी– बहुत महत्वपूर्ण सवाल है यह। हम जिसे अपना ज्ञान कहते हैं, नॉलेज कहते हैं, सच पूछो तो वह स्मृति है। वह ज्ञान हमारे लिए दीवार जैसा हो जाता है। जितना ज्ञानी आदमी, जितना पढ़ा–लिखा, जितना विशेषज्ञ उतना ही संकीर्ण बुद्धि वाला, संकीर्ण दृष्टि वाला, नैरो–माइण्डेड होता है।

किसी पीएचडी या डी–लिट से मिलिए और आप हैरान होंगे कि वह कितना संकीर्ण नजरिया वाला है? जो वह जानता है, उसके अलावा वह और कुछ देख ही नहीं सकता है। उसे सामान्य से तथ्य भी दिखाई पड़ने बंद हो जाते हैं। ऐसा समझो कि पुरानी जो उपमा है– कूप मंडूक की– बस वैसा हो जाता है– जैसे कुंए में जन्मा और बड़ा हुआ मेंढक समझता है कि बस यह कुंआ ही सबकुछ है, इसके अलावा और कुछ है ही नहीं। यही उसका संसार है।

बड़ी मजेदार पुरानी कहानी है– एक बार समुद्र का एक मेंढक उचकते–उचकते एक छोटे से गाँव में पहुँचा। वहां एक कुआं था। वह कुंए के भीतर गया और वहां के मेंढकों से मिला। उन मेंढकों ने पूछा– अरे अजनबी, तुम कहां से आ रहे हो? उसने कहा कि मैं सागर से आ रहा हूं। कुंए के मेंढकों ने पूछा कि तुम्हारा सागर कैसा है? उसने कहा कि बहुत बड़ा है। ओर–छोर नजर नहीं आता। एक युवा मेंढक ने छलांग लगाई आधे कुंए तक और कहा कि क्या इतना बड़ा है तुम्हारा सागर?

सागर के मेंढक को हंसी आ गई। बोला– नहीं! इतनी छोटी छंलाग से सागर की माप नहीं हो सकती। युवा मेंढक ने और ताकत लगाकर छलांग लगाई करीब–करीब कुंए का थ्री फोर्थ हिस्सा उसने कवर कर लिया। उसने कहा कि क्या इतना बड़ा? सागर के मेंढक ने कहा कि नहीं भाई! तुम्हारी छलांग से नापा नहीं जा सकता सागर। तब युवा मेंढक ने और लम्बी छलांग मारी, पूरी इस दीवार से उस दीवार तक। उसने कहा कि क्या इतना बड़ा है? क्योंकि इससे बड़ी तो और कोई चीज होती नहीं है। सागर के मेंढक ने कहा कि इस कुंए से उस सागर की कोई नाप–जोख हो ही नहीं सकती। वह बहुत बड़ा है।

तब तो कुंए के सारे मेंढक हंसने लगे और उन्होंने कहा कि अच्छा! हमको बुद्धू बनाने चले हो। इस कुंए से बड़ी कोई चीज आज तक कभी देखी नहीं, सुनी नहीं। हमारे पूर्वजों ने किताबें लिखी हैं, हमारे पास सदियों पुराने ग्रंथ हैं और उनमें इसी कुंए का वर्णन है– यही विश्व का विराटतम स्थान है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी वे बेचारे मेंढक इसी कुंए में रहे हैं। उसके अलावा वे कुछ और जानते ही नहीं। कुंए के बाहर भी कुछ और है, उन्हें नहीं पता है।

हम जिसे स्मृति वाला ज्ञान कहते हैं, वह तकरीबन ऐसा ही है– जैसे हमारे चारों तरफ चहारदीवारी बन जाती है। उसमें एक छोटा सा छिद्र भी नहीं है कि हम बाहर झांक सकें। तो जितना ज्यादा विद्वान आदमी होगा, उतना ही ज्यादा कूप मंडूक होगा। होना ही पड़ेगा।

कई बार हम देखते हैं कि जो इतने पढ़े–लिखे नहीं है, जिनके पास ज्यादा स्मृतियों का बोझ नहीं है; जिन्दगी में व ज्यादा खुले मन वाले, ओपन–माइण्डेड लोग साबित होते हैं।

एक छोटा बच्चा बहुत खुला हुआ है। बच्चे को देखें, वह केवल सुन–सुनकर साल डेढ़

साल में पूरी भाषा सीख जाता है। बड़े आदमी को नई भाषा सिखाओ तो उसको पांच–सात साल लगेंगे। उसकी ग्रहणशीलता बहुत कम हो गई। अनेक साल लगेंगे एक नई भाषा सींखने में और कई स्कूल टीचर और कई कोचिंग क्लासें लेनीं पडेंगी। छोटा–सा बच्चा न कोई कोचिंग क्लास में गया, न उसको कोई सिखा रहा था। बस दूसरों की बातें सुन–सुन कर सब सीख गया।

पूना–बंबई में अधिकांश परिवारों में गुजराती, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी; चार भाषाएं बोली जातीं हैं। छोटा बच्चा चारों भाषाएं पिक–अप कर लेता है। दो–ढाई साल का होते–होते उसे चारों भाषाएं आ गईं। बड़े होकर कुछ सीखना कितना मुश्किल होता है! हम ग्रहणशील नहीं रहे, खुले नहीं रहे। संवदेनशीलता और सीखने की क्षमता घट गई।

हमारी शिक्षा प्रणाली टंकी में पानी भरने जैसी है। मन को बोझिल बना देती है। होना तो यह चाहिए कि हमारे भीतर से कुछ बाहर निकाला जाए– वही शिक्षा का असली मतलब है। तब हम संकीर्ण दृष्टि वाले नहीं होंगे, तब हमारी फैली हुई सम्यक दृष्टि होगी। जीवन के जो भी नए तथ्य हैं, हम उनको देख पाएंगे, समझ पाएंगे। अभी हमारा अनुभव, हमारा ज्ञान अर्थात् हमारी स्मृति हमें बाधा पहुँचाती है। वह आड़े आती है, वह हमें कुछ देखने ही नहीं देती है। आपने ठीक पूछा है कि जैसे–जैसे आदमी प्रौढ़ एवं अनुभवी होता जाता है, वह ज्यादा कूप मंडूक होता चला जाता है– किताबों की दीवारों से बने कारागृह में कैद हो जाता है।

छोटा बच्चा या किशोर ज्यादा खुला हुआ है। वह सबकुछ सीखने के लिए तैयार है। बड़े होने के उपरांत बहुत मुश्किल है। हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसी हो कि एक मजबूत दीवार को न बनने दे। अभी तक जो हमने जानी है, यह जानकारी है, लेकिन जरूरी नहीं कि यह सच हो। मैं एक उदाहरण से आपको समझाता हूं कि उन्नसवीं सदी तक विज्ञान जितना विकसित हुआ था, एक रेखा पर चलते हुए... अरस्तू से शुरू हुई थीं बात। कोई दो हजार साल पहले जो तर्क शुरू हुआ था, वहीं अपने शिखर तक पहुँचा। विशेषकर ढाई सौ, तीन सौ सालों में रेखाबद्ध विकास हुआ। उन्नसवी सदी के अंत एवं बीसवीं सदी की शुरूआत में आईंस्टीन ने एक बिल्कुल नई चीज प्रस्तुत की– सापेक्षिकता का सिद्धान्त और पिछला पूरा विज्ञान गलत साबित हो गया। हजारों सालों से जो तर्कबद्ध चला आ रहा था, जिसको हम सभी सही मान रहे थे, वह बिल्कुल भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया।

लेकिन इस नए को स्वीकारना कितना मुश्किल हुआ? कई साल लगे आईंस्टीन को और उसकी मजाक भी खूब उड़ाई गई। यहां तक कहा गया कि वह सिर्फ सिरफिरा यहूदी दार्शनिक है; वैज्ञानिक है ही नहीं। उसके पेपर्स विज्ञान–पत्रिकाओं में छापना मुश्किल था। बा–मुश्किल से रिलेटीविटी प्रिंसिपल को मान्यता मिली। क्योंकि पुराने सारे सिद्धांत गलत साबित हो गए। एक खुली दृष्टि हो, तो हम नए को अंगीकार कर पाएंगे।

और आगे देखें, विज्ञान में नया विकास हुआ। 1930 में क्वांटम फिजिक्स खोजी गई और ऐसा लगा कि पुराना जो कुछ भी जाना गया था, पुनः सब कुछ गलत हो गया। पदार्थ

के बारे में हमारी जो जानकारी थी, सभी पर प्रश्न चिह्न लग गया। अब इस नए तत्व को स्वीकारने के लिए बड़ा दिल चाहिए। जिन वैज्ञानिकों को हम विद्वान, बहुत समझदार और आविष्कारक मानते हैं, वे भी सख्त विरोध में आ जाते हैं।

विज्ञान का इतिहास उठाकर पढ़िये। वैज्ञानिकों की बड़ी जमात, जो परंपरागत रूप से चली आ रही है, लकीर की फकीर हो जाती है। वे भी नई बात से भारी संघर्ष करते हैं। आम जनता तो विरोध करती ही है लेकिन वैज्ञानिक तक विरोध में खड़े हो जाते हैं। क्वांटम फिजिक्स को स्वीकारने में बहुत वक्त लगा। अब जो आधुनिक फिजिक्स की किताबें छपती हैं, वे अलग प्रकार की होती हैं। विज्ञान की जो पुरानी जो किताबें होती थीं, वे शुरू होती थीं सवालों से, कि ये–ये प्रश्न हैं; हम इनके उत्तर देते हैं। अंत में जाकर एक कंक्लूज़न, निष्कर्ष होता था कि ये–ये सिद्धान्त खोज लिए गए हैं; जिनसे वे सारे सवाल हल हो गए।

माडर्न फिजिक्स की किताबें देखीं आपने? शुरूआत होती है कि पुराने सिद्धान्त ये–ये थे। जो हमारे पूर्वजों ने खोजे, अब उन पर प्रश्न चिह्न लग गए हैं नए तथ्यों के उद्घाटित होने से। अतः ये सिद्धांत शंकास्पद हो गए हैं। मोटी किताब में वे सारे सिद्धांत गलत साबित कर दिए जाते हैं और फिर अंत में प्रश्नों की एक लंबी सूची रहती है कि अभी ये प्रश्न बाकी हैं, जिनकी खोजबीन की जानी चाहिए।

उत्तर पर नहीं, प्रश्नों की लिस्ट पर किताब खत्म होती है। अब तो वैज्ञानिक भी दावे से नहीं कह सकते हैं कि हम जो जानते हैं, वह सही है। क्योंकि पहले भी हम दावे से कहते थे कि यह सही है, कितनी बार वह गलत निकल चुका। अब ऐसी दावेदारी कहीं नहीं होती।

सामान्य जन को भी इसके प्रति सजग होना चाहिए कि हम जो जानते हैं, वहां पर ज्ञान समाप्त नहीं हो जाता। बहुत कुछ जानने को शेष है और यह संभव है कि हम जो जानते हैं, वह सभी गलत हो, पूरा का पूरा थोक में गलत हो... ऐसा कितनी बार पहले हो चुका है!

एक बहुत मजेदार घटना घटी अमेरिका के पेटैंट आफिस में। उसका जो सबसे बड़ा इंचार्ज है, पिछले दो सौ सालों में चार बार ऐसा हुआ कि पेटैंट उच्चाधिकारी ने सरकार से अनुरोध किया कि अब पेटैंट आफिस बंद कर दिया जाए। क्योंकि महानतम आविष्कार हो चुका है। अब इसके आगे कुछ नई खोज हो ही नहीं सकती।

आज हमें यह सुनकर हंसी आती है। वह स्वयं भी बड़े वैज्ञानिक थे और ऐसा चार बार हो चुका। अलग–अलग लोग रहे हैं, उन्होंने भी यही बात दोहराई फिर से कि अब तो फाइनल कन्क्लूजन आ चुका है और विज्ञान अब यहां पर समाप्त होता है और इसलिए आगे कुछ आविष्कार हो नहीं सकता। भविष्य में कुछ पेटैंट करने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

कितने अनगिनत आविष्कार होते गए, होते चले जा रहे हैं। हम अपने ज्ञान को अपनी सीमा न बनाएं। पुराने जमाने में इक्का–तांगे चलते थे, उसमें घोड़े की आंख पर ऐसी पट्टी पहना देते थे कि उसे आजू–बाजू का कुछ न दिखाई दे, केवल सामने दिखाई दे। हमारा ज्ञान हमें उस घोड़े जैसा बना देता है। ज्ञान पट्टी बन जाता है। बस सामने दिखाई देता है, हम

लकीर के फकीर बन जाते हैं। परंपरावादी, रूढ़ीवादी बन जाते हैं।

इसी वजह से बुजुर्ग लोगों में रूपांतरण बहुत मुश्किल है। मेरे पास बहुत लोग आते हैं। जो युवा उम्र में आते हैं, उनके जीवन में परिवर्तन करना आसान है। उन्हें कोई नई बात समझाई जा सकती है। लेकिन जब बड़ी उम्र वाले लोग आते हैं, तब बहुत मुश्किल खड़ी हो जाती है। वे कुछ समझने या सीखने को तैयार ही नहीं होते हैं। क्योंकि वे तो मानते हैं कि उन्हें सब पता है। आप क्या सिखाओगे? अरे, हमारी उम्र साठ साल हो गई। साठ साल क्या हम घास चरते रहे? हमारे बाल क्या धूप में सफेद हुए हैं? उनके अहंकार को चोट लगती है। इसलिए वे कोई नई बात ग्रहण करने तैयार नहीं होते हैं।

शिक्षा बचपन से ही ऐसी होनी चाहिए कि हम बच्चों को हमेशा नए के लिए खुला बनाएं– ओपन माइंड! थोड़े दिन पहले किसी का एस.एम.एस. आया, मुझे बहुत अच्छा लगा। उसमें लिखा था– मन पैराशूट की तरह है, खुलेगा तो ही काम करेगा, वरना नहीं। बंद रह जाएगा तो काम ही नहीं कर पाएगा। हमारा तथाकथित ज्ञान का बोझ है, हमें संकीर्ण कर देता है, बंद कर देता है और हम सारे जगत से टूट जाते हैं। सच पूछो तो हम अस्तित्व से ही खंडित हो जाते हैं।

यह केवल बौद्धिक विकास के लिए ही नहीं अपितु आध्यात्मिक उन्नति के लिए बहुत जरूरी है कि हम खुले हुए हों, नया सीखने को तत्पर हों। हमारा पुराना ज्ञान, पुराने अनुभव, भावी विकास हेतु बाधा न बनें; भविष्य खुला हुआ रहे। तब हम पाएंगे कि एक बहुत बेहतर मनुष्य जाति इस दुनिया में पैदा हो सकती है।

शिक्षा के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है, छोटा–मोटा नहीं। आज सारे जगत की जो दुर्गति है, वह शिक्षा प्रणाली की वजह से है। इस बात को स्वीकारो और अगर कुछ बेहतर हो सकता है, इस धरती पर स्वर्ग बन सकता है; तो शिक्षा पद्धति के परिवर्तन से हो सकता है। इसलिए सद्‌गुरु ओशो ने सम्यक शिक्षा के ऊपर बहुत जोर दिया है। भांति–भांति से क्रांतिकारी और मौलिक विचार दिए हैं कि नई शिक्षा कैसी हो।

मा मोक्षा– इस चर्चा में आखिरी छोटा–सा प्रश्न लेना चाहूंगी। आधुनिक शिक्षा के कारण पीढ़ी अंतराल बढ़ा है। यह जनरेशन गैप बढ़ता ही जा रहा है। ऐसा क्यों?

ओशो शैलेन्द्र जी– यह मुद्दा भी विस्तार में बात करने योग्य है, अभी संक्षेप में समझ लीजिए। पुराने जमाने में जब शिक्षा नहीं थी, तब माता–पिता और घर के बुजुर्ग जन ही नयी पीढ़ी को सिखाने वाले शिक्षक भी होते थे। एक मां अपनी बेटी को सिखा रही कि कैसे रोटी सेंकना? कैसे चावल पकाना? कैसे दाल को छोंकना? मां उसकी शिक्षिका थी। पीढ़ी अंतराल नहीं हो सकता था, दोनों जुड़े हुए थे, कन्क्टेड थे आपस में। समझो एक पिता वैद्य था और वह अपने बेटे को वैद्यगिरी सिखा रहा है। वह उसका शिक्षक है और पिता भी है। और पिता हमेशा ज्यादा समझदार रहेगा। बेटा पचास साल का हो जाएगा तब पिता

सत्तर साल का हो जाएगा और वह ज्यादा अनुभवी, ज्यादा ज्ञानी होगा। इसलिए पीढ़ी अंतराल नहीं हो सकता था।

आधुनिक शिक्षा की वजह से क्या हुआ है कि नई पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी से आगे निकल गई है। मां है अनपढ़ या प्राइमरी स्कूल पढ़ी हुई। उसकी बेटी होम साइंस में एमएससी करके आ गई। इसको घर गृहस्थी संभालना, भोजन पकाना और अंतर्राष्ट्रीय व्यंजन बनाने आते हैं, जिनके नाम भी उसकी मां ने या सास ने नहीं सुने हैं। उसके सामने मां अथवा सास बिल्कुल ही अपरिपक्व हैं। यह डिग्रीधारी पुत्री या बहू उनसे कुछ नहीं सीखेगी। यह तो सबकुछ कालेज से सीखकर आयी है। यह तो उनको सिखाने की कोशिश करेगी और बुजुर्ग महिलाएं इसको स्वीकार करने कतई तैयार नहीं होंगी।

समझो, आज किसी डॉक्टर का बेटा डॉक्टर बनकर आता है। पिता और बेट में तीस साल का फासला है। वह आधुनिक ज्ञान लेकर आया है। उसका पिता तो ऑउट ऑफ डेट हो गया है। पिता जी जो दवाई लिखते हैं, उसमें से तो बहुत कुछ मिलती भी नहीं हैं बाजार में, कब की बंद हो चुकी हैं! यह बेटा अपने बाप से नहीं सीखेगा। बाप उस पर आज्ञा चलाने की कोशिश करे और सोचे कि यह मुझे मान–सम्मान दे, तो ऐसा संभव नहीं होगा।

याद रखना, वह सम्मान ज्ञान का था, उम्र का नहीं था। अब ज्ञान में बेटा आगे निकल गया है। अब तो पिता को सीखना पड़ेगा कि बेटा तुम क्या–क्या सीख कर आए हो, जरा मुझे भी बताओ। इसलिए पीढ़ी अंतराल खड़ा हो गया है।

आगे हम फिर कभी विस्तार से चर्चा करेंगे इस विषय पर। धन्यवाद। जय ओशो।

शिक्षा प्रणाली कैसी हो?

मा मोक्षा– गुरुदेव, पिछली चर्चा के बाद ई–मेल द्वारा कुछ सवाल आए हैं।

पहला प्रश्न है– आपने कहा कि समाज की कुछ मजबूरियां हैं और बच्चों को प्रशिक्षण देना ही पड़ता है, अतः विभाजन तो होगा ही। फिर आपके नजरिये में शिक्षा प्रणाली कैसी होनी चाहिए?

ओशो शैलेन्द्र जी– शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए, कि बंधन इतने मजबूत न बनाए जाएं कि फिर तोड़े न जा सकें। परिवार वाले जो संस्कार और विचार दे रहे हैं– बंधन तो बनाने होंगे, मर्यादाएं सिखानी होंगी, एटिकेट्स और मेनर्स सिखाने होंगे। लेकिन साथ में ऐसी चेतना जगायी जाए, ध्यान की पद्धति सिखायी जाए ताकि वह बच्चा किसी दिन इस बंधन के बाहर भी निकल सके। मर्यादाओं और अनुशासन की सीमाओं में तो बांधना होगा। एक प्रकार का कारागृह निर्मित होगा। अहंकार की जंजीरें पहनानी होंगी। लेकिन वह इतनी मजबूत न हों कि फिर तोड़ी ही न जा सके। मनो–कारागृह की दीवारें कच्ची हों, कैदी आसानी से उसके बाहर भी निकल सके।

तो जो संस्कार परिवार वाले दे रहे हैं, स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी में दे रहे हैं, उसमें इस बात का विशेष ख्याल रखा जाए कि कभी उससे स्वतंत्र भी हुआ जा सके। तब दुनिया में बड़ा मंगलमय जीवन, अत्यंत सुखी जीवन संभव हो सकेगा।

मा मोक्षा– आज का दूसरा प्रश्न है– ओशो ऐसी शिक्षा की बात करते हैं, जिसमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास भी हो। इस पूर्ण शिक्षा के बारे में आप कुछ बताएंगे?

ओशो शैलेन्द्र जी– हम पीछे चर्चा कर रहे थे कि कहने के लिए तो हमने चार खण्ड कर लिए हैं; वास्तव में ऐसे खण्ड कहीं हैं नहीं। हमने बांट लिया कि यह शरीर है, यह

मन है, यह हृदय है, यह आत्मा है। इसको ऐसे समझना, जैसे जमीन पर हमने कहा कि यह हिंदुस्तान है, यह पकिस्तान है, यह बांग्लादेश है, यह अफगानिस्तान है। वास्तव में तो पूरी पृथ्वी एक है। पृथ्वी को तो पता हीं नहीं कि हमने राजनैतिक नक्शे बना रखे हैं। और आए दिन नये–नये देश बनते जाते हैं, नक्शा बदलता चला जाता है। क्या वास्तव में जमीन में कहीं दरार पड़ी है? कहीं भी लकीर नहीं पड़ी। जमीन तो एक ही है, लेकिन कहने के लिए नक्शे में तो खंड–खंड हो गए।

ऐसे ही इन खंडों को समझना– शारीरिक, मानसिक, हार्दिक, आत्मिक। अभी हमारी जो शिक्षा है, वह मुख्य रूप से मानसिक विकास के लिए है। हम बच्चे के अंदर सूचनाएं डाल रहे हैं, नयी इन्फॉर्मेशन डाल रहे हैं। उसकी स्मृति को मजबूत कर रहे हैं। विशेषकर उसकी मेमोरी को बढ़ा रहे हैं और हमारी सारी परीक्षाएं उसकी स्मृति की जांच कर रही हैं कि उसको कितना याद है? जो–जो उसको रटाया गया था, क्या वह वापस उनको रिप्रोड्यूस कर सकता है? अगर कर सकता है तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाएगा।

यह तो केवल मेमोरी की जांच हुई। वाकई में इससे आई क्यू टेस्ट नहीं होता। आई क्यू तो बड़ी चीज होती है– इटेलिजेंस कोशियेंट– उसका एक छोटा–सा हिस्सा है मेमोरी। हमारी सारी शिक्षा मुख्य रूप से मेमोरी–सेंटर्ड, बुद्धि केंद्रित है। मन का एक छोटा–सा हिस्सा, जिसको हम स्मृतिआलय कहते हैं, स्टोर हाउस ऑफ द मेमोरी। हमने कुछ सूचनाएं दीं; यदि बच्चा उसको रिप्रोड्यूस कर सकता है, पुनः बता सकता है तो पास हो गया। जैसे हमने कम्प्यूटर में कुछ डाटा डाली और सर्च में खोजा और वह जानकारी वापस मिल गयी। बस ऐसी ही हमारी परीक्षा प्रणाली है– सिर्फ बुद्धि के बारे में। यह तो पूर्ण रूप से बौद्धिक विकास भी नहीं कहलाएगा। केवल बुद्धि के एक अंश– स्मृति का प्रशिक्षण है, बस!

ओशो चाहते हैं कि शिक्षा ऐसी हो जिसमें सर्वांगीण विकास हो। शरीर पर भी ध्यान दिया जाए। आजकल मैं देखता हूं कि छोटे–छोटे बच्चों का खेल–कूद ही बंद हो गया है। शारीरिक विकास पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इतनी ज्यादा किताबें, इतना ज्यादा टेक्स्ट उनको रटना है। स्कूल से आकर होमवर्क करना है। होमवर्क के बाद फिर कोचिंग क्लास में जाना है, ट्यूशन पढ़ाने एक टीचर घर आ रहा है। शारीरिक खेल–कूद का कोई इंतजाम ही नहीं है। ज्यादा से ज्यादा वीडियो गेम्स, टीवी के सामने बेठे हैं, दूसरे खेल रहे हैं, उनको देख रहे हैं। शरीर का विकास कैसे होगा? शरीर और स्वास्थ्य पिछड़ गया। शरीर बहुत श्रम करने के लिए बना है। बच्चों को खेल–कूद में शरीक होना चाहिए। फिजिकल एक्टिविटी चाहिए, फिजिकल चैलेंजेस चाहिए; उनमें शरीर का विकास होता है।

फिर हृदय का विकास महत्वपूर्ण है। लेकिन वह बिल्कुल ही उपेक्षित है। मैं मानता हूं कि कहीं–कहीं, किन्हीं–किन्हीं स्कूलों में शरीरिक विकास पर भी जोर दिया जा रहा है, लेकिन हार्दिक विकास तो बिल्कुल ही इग्नोर्ड कर दिया गया। मनुष्य के भीतर भावनाएं भी हैं, उनका भी हमें परिशुद्धिकरण करना होगा। जो गलत हैं, उस्नसे कैसे मुक्त हों? जो सही

हैं, वे कैसे और वृद्धि करें, विकसित हों? इसके उपाय किए जाने चाहिए। अगर स्कूल, कॉलेज इसका उपाय नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? कैसे उसके भीतर प्रेम, दया, करुणा, सहानुभूति, सहयोग, भाईचारे की भावना विकसित होगी? कैसे उसके भीतर दूसरों के साथ सामंजस्य बिठाने की कला विकसित हो? दूसरे की विविधताओं को स्वीकार कर पाना, असमानताओं को स्वीकारने का भाव सिखाया जाए।

जीवन बहुत विराट है और इसमें बहुत लोग भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। हम अपने अहंकार के वशीभूत होकर चाहते हैं कि मैं जैसा चाहता हूं, वैसे ही सब लोग हों। तब हम कुछ चुनिंदा लोगों को ही प्रेम कर पाते हैं और बाकी हमारे विपरीत, विरोधी हो जाते हैं। सिखाया जाए कि हमारा हृदय कैसे विस्तीर्ण हो? कैसे हम विविधताओं को खुशी–खुशी स्वीकार कर सकें? तब हम पाएंगे कि हमारे भीतर प्रेम का विकास होने लगा, भाईचारा आने लगा।

अभी हम उल्टी बातें सिखा रहे हैं। हम जातिवाद एवं राष्ट्रवाद सिखा रहे हैं; इसका मतलब यह हुआ कि दूसरी जातियों के खिलाफ, दूसरे राष्ट्र के खिलाफ। अगर मैं कहता हूं कि, मैं हिंदू हूं और मुझे इस पर गर्व है। इसका मतलब यह हुआ कि मैं बाकी सब धर्मों के खिलाफ हूं। ऐसा स्पष्ट रूप से कहा नहीं है लेकिन कोष्ठक में छुपा हुआ है। मैं कहता हूं कि मेरा देश महान्। कोष्ठक में भीतर लिखा हुआ है कि मैं बाकी सारे सब देश तुच्छ हैं। हमारे ऋषियों ने धारणा दी थी– विश्व बंधुत्व की– वसुधैवकुटुम्बकम, वह कैसे पूरी होगी? भाईचारा होना चाहिए। ब्रदरहुड सिखाया जाए और इसके संस्कार बचपन से ही डाले जाएं।

ओशो कहते हैं कि शिक्षा प्रणाली में बुनियादी परिर्वतन जरूरी है। ये तो हुईं तीन पर्तें– शारीरिक, मानसिक और हार्दिक। अब इसके बाद चौथी बात आती है 'आत्मिक'। हार्दिक को सिर्फ इग्नोर किया गया है, चौथी का तो पता ही नहीं है कि है कि ऐसी भी कोई चीज हो सकती है। तो ध्यान की शिक्षा, भक्ति की शिक्षा, सच्ची प्रार्थना हो! स्कूलों में प्रार्थनाएं तो होती हैं, लेकिन बस वह नियम है इसलिए हो रही हैं। सच्चे प्रार्थना भाव में कोई विद्यार्थी या शिक्षक डूबा ही नहीं तो कैसी प्रार्थना हुई? यह तो एक रूटिन है बस, रटी–रटाई बात उन्होंने दो मिनट में कह दी और खेल खत्म। यह तो कोई प्रार्थना न हुई।

ऐसा माहौल बनाना है कि भक्तिभाव उत्पन्न हो सके। ध्यान विकसित हो सके। अपने भीतर के उस शून्य गगन में कांसेशनेस है; उसमें डूब सकें। उसके भीतर गूंज रहे अनहद नाद को सुन सकें। तो हर व्यक्ति को अध्यात्म के ये दो मार्ग अवश्य सिखाया जाएं, जिनको हम मुख्य रूप से कहते हैं– ध्यान और भक्ति, या संकल्प और समर्पण। तब जाकर वह संपूर्ण शिक्षा कहलाएगी। उसमें जीवन के सारे अंग शामिल हो जाएंगे।

तब परस्परतंत्रता समझ में आएगी कि हम इंटरडिपेंडेंट हैं, सारी दुनिया एक है। 'वसुधैवकुटुम्बकम' यहां कोई किसी का दुश्मन नहीं है, सारी धरती एक है। न केवल मनुष्य जाति एक है बल्कि पशु–पुक्षियों से, पेड़–पौधों से, मछलियों से, महासागरों से हम जुड़े हुए हैं। धीरे–धीरे अखंडता पैदा होगी। हमारा शरीर स्वस्थ हो, मन विवेकपूर्ण हो। याद रखना

सिर्फ बुद्धिमान नहीं! बुद्धि चालाक, राजनीतिक और कूटनीतिक बना देती है। नहीं, होशियार नहीं बनना, होश की साधना करनी है। विवेक होना चाहिए, प्रज्ञा होनी चाहिए। इन दो शब्दों को अलग-अलग समझना। एक है विज्डम और एक है इंटलेक्ट। वर्तमान शिक्षा प्रणाली केवल इंटलेक्ट सिखा रही है, विज्डम नहीं, विवेक नहीं। विवेक भी सिखाया जाए। हृदय को विकसित किया जाए, भावनाओं को शुद्धिकृत किया जाए और फिर चेतना का विकास का मार्ग दिखाया जाए। उस आत्मा से फिर हम धीरे-धीरे परमात्मा और समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतना को जान लेते हैं। ऐसी संपूर्ण शिक्षा होनी चाहिए।

मा मोक्षा- आजकल शिक्षा में बहुत कम्पटीशन है। बच्चे एक-दूसरे की स्पर्धा में जीते हैं। पैरेंट्स यही सिखाते हैं, टीचर्स भी, माहौल ही पूरा रुग्ण है। इसकी वजह से बहुत बच्चे तनाव में आ जाते हैं। वे गिल्टी फील करते हैं जब उम्मीदों पर खरे नहीं उतर पाते। इससे निवारण का कोई उपाय है?

ओशो शैलेन्द्र जी- इसका उपाय सद्‌गुरु ओशो ने दिया है। 'शिक्षा में क्रांति' इस पुस्तक में उस समय के प्रवचन संकलित हैं, जब सद्‌गुरु ओशो स्वयं कॉलेज में प्रोफेसर थे। यूनिवर्सिटी में सेवा के दौरान जगह-जगह घूमकर उन्होंने विभिन्न विश्वविद्यालयों में, कॉलेजों में शिक्षा के ऊपर प्रवचन दिए हैं; उनका ही संकलन है यह पुस्तक 'शिक्षा में क्रांति'। इसके पहले ही प्रवचन में वे कहते हैं कि प्रतियोगिता और स्पर्धा दुश्मनी पैदा करती हैं। कहने को हम कहते हैं कि यह हमारा सहपाठी है, लेकिन वास्तव में उसी के साथ तो सारी ईर्ष्या जुड़ी है। माता-पिता ने कहा कि क्लास में प्रथम आना है। हम जिन्हें अपना संगी-साथी कह रहे हैं, यही तो हमारे शत्रु हैं, इन्हीं को तो रौंधते हुए आगे निकल जाना है और नंबर एक पर पहुंच जाना है। और ऐसा ही वे संगी-साथी भी सोच रहे हैं। ऊपर-ऊपर से हम जिन्हें मित्र एवं सहपाठी बता रहे हैं; उन्हीं के साथ हमारी गहन शत्रुता सध गयी है। यह तो जीने का कोई सही ढंग न हुआ- दोस्ती के नाम पर दुश्मनी!

सद्‌गुरु ओशो कहते हैं कि इस प्रकार की प्रतियोगिता न सिखाई जाए। बचपन में ये जो संस्कार पड़ गए फिर ये जिंदगी भर पीछा करेंगे। यही आदमी फिर बड़ा होकर राजनीति में पहुंच जाएगा। एक दिन यह सोचेगा कि शहर का सबसे अमीर आदमी बन जाऊं। कभी यह सोचेगा कि दुनिया का सबसे सम्पन्न इंसान बन जाऊं। चाहे किसी का गला घोंटना पड़े, चाहे किसी का खून चूसना पड़े। अब इसको किसी की चिंता नहीं, इसको किसी भी हाल में 'नंबर एक' पर पहुंचना है, चाहे किसी का कितना भी नुकसान क्यों न हो।

यह जीने का सही तरीका नहीं। बचपन से ये शिक्षा-संस्कार भीतर डाल दिए और ये जीवन भर उसका पीछा करेंगे। जीने की एक गलत राह बता दी गयी- अशुभ शैली!

सावधान! ओशो कहते हैं कि प्रतियोगिता नहीं।

फिर सवाल उठेगा कि विकास कैसे होगा? क्योंकि अभी तो प्रतियोगिता ही एक मात्र

प्रेरणा स्रोत है जो व्यक्ति को दौड़ा रही है कि और आगे, और आगे निकलो। सद्‌गुरु सुझाव देते हैं कि अपने ही अतीत से तुम आगे बढ़ो। दूसरे के संग प्रतियोगिता नहीं। कल जितना मैं समझता था, जितना मैं जानता था; आज मैं उससे ज्यादा समझूं, ज्यादा जानूं। तो अपने अतीत से मैं आगे निकलूं यह बात बिल्कुल ठीक है। मेरे जो प्राकृतिक गुण हैं, वे फलें-फूलें।

भगवान कृष्ण गीता में इसे स्वधर्म कहते हैं- अपने स्वधर्म में जियो। तो व्यक्ति को कुछ नेचुरल टेलेंट (जन्मजात प्रतिभा) मिली हुई है। वह अपना टैलेंट विकसित करें, तब दूसरे से प्रतियोगिता का कोई सवाल ही नहीं उठता है। दूसरा, दूसरा है। मैं, मैं हूं।

ओशो कहते हैं कि गुलाब का फूल, गुलाब का फूल है। चमेली का फूल, चमेली का फूल है। इसमें कोई कम्पटीशन थोड़ी है कि हम गेंदे के फूल से कहे कि अरे! क्या तुम छोटे से गेंदे के फूल? वह देखो कमल का फूल कितना बड़ा है? उससे कम्पटीशन करो। अगर गेंदे का फूल पागल हो और कम्पटीशन में लग जाए तो उसकी क्या दुर्गति होगी? उसका पूरा जीवन व्यर्थ हो जाएगा, निराशा से घिर जाएगा।

हर साल हमारे देश में कितने स्टूडेंट्स आत्महत्या कर लेते हैं? फेल हो गए, मुंह दिखाने लायक न रहे अब क्या करें? नहीं, यह तो सही शिक्षा प्रणाली न हुई जो आत्महत्या एवं डिप्रेशन की तरफ ले जाती है। सही शिक्षा प्रणाली ऐसी हो कि गेंदे से हम कहें कि तुम और बेहतर गेंदे बनो। कमल से हम कहें कि तुम और विकसित कमल बनो। इनका आपस में कोई कम्पटीशन नहीं है। अभी हम कमल को सिखा रहे हैं कि तुम कहां गंदे कीचड़ में पड़े हो। वह देखो गुलाब को, कितने अच्छे गमले में लगा हुआ है। और मनीप्लांट को तो देखो, लोगों ने घर के भीतर लगाया है और तुमको यहां बाहर छोड़ दिया।

कमल को भी शौक चढ़ जाए कि मैं भी घर के अंदर जाऊंगा तो बेचारा मर जाएगा।

अल्बर्ट आइंस्टीन ने खूब मजाक उड़ाते हुए कहा है कि हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसी है, जैसे हम मछलियों से कहें कि देखो बंदर पेड़ों पर चढ़े हुए हैं और तुम लोग यहां पानी में तैर रही हो; पेड़ पर चढ़ना सीखो। बंदरों से हम कहें कि तुम लोग सिर्फ पेड़ों पर ही उचकते रहते हो, पानी में डूबना सीखो- देखो मछली को! पंछियों, कीट पतंगों, और पेड़-पौधों को, सबको स्पर्धा सिखा दें तो उनकी क्या दुर्गति होगी? बेचारे बुरी तरह मारे जाएंगे।

पूरी मनुष्य जाति के साथ यही दुर्घटना घटी है। शिक्षा प्रणाली हजारों साल से यही विषपान करा रही है। वर्तमान में यह अपने शिखर पर पहुंच गयी है।

सद्‌गुरु ओशो ने खूब सावधान किया है। वे कहते हैं कि दूसरे के साथ प्रतियोगिता नहीं, स्पर्धा नहीं। तुम, तुम हो; वह, वह है। स्वाभवतः जितने अच्छे तुम कल थे, आज और अच्छे बनो, और खिलो। इस प्रकार आगे बढ़ने का जो प्रेरणा स्रोत रहेगा वह अपना ही अतीत रहेगा, दूसरा व्यक्ति नहीं। इस तरह की शिक्षा व्यवस्था ओशो प्रस्तावित करते हैं।

मा मोक्षा- क्या इंसान को महत्वाकांक्षी या एंबिसेस नहीं होना चाहिए?

ओशो शैलेन्द्र जी– महत्वाकांक्षी का मतलब यही है कि दूसरों से आगे निकलने की दौड़ में उत्सुक। जब कोई कहता है कि मैं शहर का सबसे अमीर आदमी बनूंगा तो हम उसको कहते हैं एंबिसेस, महत्वाकांक्षी। वह दूसरों से कम्पटीशन में है। इस एक आदमी के अमीर बनने के लिए जरूरी है कि बाकी सब इससे ज्यादा गरीब रहें। ये दूसरों को गरीब बनाकर ही अमीर बन सकता है। यह तो कोई शुभ बात न हुई।

देश में सवा अरब लोग हैं और एक ही आदमी प्रधान मंत्री बन सकता है। और लोगों को हमने पागलपन सुझा दिया कि तुम भी प्रधान मंत्री बन सकते हो। पुराने जमाने में इतनी महत्वाकांक्षा नहीं थी। सबको पता था कि राजा का बेटा ही उत्तराधिकारी बनेगा। दो–चार भाई हैं उनका आपस में कम्पटीशन होगा। औरंगजेब ने अपने सारे भाईयों का क़त्ल कर दिया। महत्वाकांक्षा बहुत ज्यादा थी। बाप को जेल में बंद कर दिया और कुर्सी पर बैठ गया। लेकिन सब को पता है कि शाहजहां के बेटों में से ही कोई उत्तराधिकारी बनेगा। हर किसी को यह पागलपन नहीं चढ़ता था।

प्रजातंत्र आने के बाद यह पागलपन सर्वव्यापी हो गया है। हर व्यक्ति को लगता है कि एमएलए, एमपी कुछ तो बन जाएं। अरे, कुछ नहीं तो नगर पालिका के मेंबर ही बन जाएं। महत्वाकांक्षा का रोग बहुत फैल गया है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार के संग दुनिया में सुख–शांति नहीं बढ़ी। बहुत विषाद और निराशा ने घेर लिया है।

एक प्रश्न चिह्न सद्‌गुरु ओशो ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर लगाया है कि हमें पुनर्विचार करना चाहिए। क्या हम सही दिशा में जा रहे हैं? और सही दिशा क्या है यह भी उन्होंने सुझाया है। वे कहते हैं कि आज तक जितनी भी क्रांतियां हुईं– राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, तकनीकी, व्यवस्थागत, परंपराओं से विद्रोह इत्यादि– कोई भी उलटफेर या सत्ता–परिवर्तन उस शांति को न ला सका, जिसकी आशा दिलाई गई थी। यह चमत्कार केवल एक ही क्रांति से संभव है– शिक्षा में क्रांति के द्वारा। इतिहास में इस ओर किसी ने खास ध्यान नहीं दिया। शिक्षा के बुनियादी मूल्यों पर चिंतन–मनन करना होगा। ऊपरी, सतही परिवर्तन नहीं, बिल्कुल आधारभूत बातों को बदलना होगा। मनुष्य की नींव बदले तो ही यह विराट भवन रूपांतरित हो सकेगा।

मा मोक्षा– शिक्षा का नया सूर्योदय हो, इसके लिए ओशो ने अनूठे सूत्र हमें दिए हैं। इस नये सूरज के संग ही प्रतियोगिता, स्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष, राजनीति, कूटनीति, हिंसा, आतंकवाद, युद्ध आदि का अंधकार विलीन होगा। एक स्वर्णिम भविष्य की संभावना दूर क्षितिज पर दिखाई देती है। अतीत का अंधेरा छंटने के करीब है। शिक्षा में क्रांति द्वारा इंसान की सोच में बुनियादी परिवर्तन से ही ऐसा होना मुमकिन नजर आता है।

आपका बहुत–बहुत धन्यवाद। जय ओशो।

ओशो ने नियम क्यों नहीं दिए

मा मोक्षा– गुरुदेव, हम स्वतंत्रता, नारी व क्रांति, शिक्षा जैसे विषयों पर चर्चा कर चुके हैं। आज एक नया विषय लेते हैं। एक साधक ने सवाल भेजा है कि ओशो ने अपने शिष्यों को कोई नियम, कानून एवं सिद्धांत क्यों नहीं दिए?

स्वामी शैलेन्द्र जी– जब भी ऊपर से कोई नियम, कानून, सिद्धांत थोपा जाता है, तो वह एक मिथ्या आचरण निर्मित करता है। पाखंड शुरू हो जाता है। उस व्यक्ति के भीतर तो कुछ और भावना थीं, कुछ अन्य विचार तथा इच्छाएं थीं, लेकिन ऊपर–ऊपर से औपचारिकताएं निभाएगा। दूसरों को दिखाने के लिए वह कुछ और है, स्वयं अपने भीतर कुछ और हो जाता है। भीतर एक खंडित व्यक्तित्व पैदा हो जाता है। यह बड़े से बड़े मनोरोगों का कारण है। वह पाखंडी हो गया... मतलब वह खंड–खंड हो गया है। एक उसका भीतर का प्राकृतिक हिस्सा है, उसका नेचुरल माइंड है और एक ऊपर–ऊपर से समाज को दिखाने के लिए, दूसरों को बताने के लिए, ओढ़ा गया आचरण, नकली मुखौटा है।

सद्‌गुरु ओशो की शिक्षा अखंड होने की है, पाखंडी होने की नहीं। अखंड का मतलब एकजुट, यूनिफाइड। अखण्डता में ही शांति और आनंद हो सकता है। व्यक्ति के भीतर जितने ज्यादा खंड होते हैं, वह उतना ही बेचैन, अशांत होता है। इसलिए जिस व्यक्ति को आध्यात्मिक साधना करनी है, उसका अखंड होना, एकजुट होना जरूरी है। भीतर–बाहर में भेद नहीं होगा, तो जीवन में शांति होगी। अतः निश्चितरूपेण सद्‌गुरु ओशो आचरण नही, बल्कि जागरण साधने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं, तुम ज्यादा से ज्यादा होशपूर्ण बनो। तुम भीतर से परिवर्तित होओ। हां उस परिवर्तन की वजह से फिर अवश्य तुम्हारा व्यवहार भी

बदलेगा। बाहरी व्यवहार प्रमुख बात नहीं है, तुम्हारी अंतर्आत्मा प्रमुख बात है।

जो व्यक्ति ज्यादा होशपूर्ण होगा, ज्यादा ध्यानपूर्ण होगा; उसका व्यवहार, उसकी वाणी, उसके कर्म निश्चित ही परिवर्तित हो जाएंगे तथा वह खंडित भी नहीं होगा। जो उसके भीतर है, वही बाहर प्रकट हो रहा है। जैसे किसी वृक्ष की जड़ें, जो रस खींच रही हैं जमीन से, वही रस उसके फूलों में खिलता है और सुगंध बनकर बिखरता है। यह वास्तविक फूल है। और एक फूल हो सकता है कि हमने ऊपर से चिपका दिया हो– प्लास्टिक या कागज का फूल, ऊपर से इत्र भी उसमें छिड़क दी, देखने वाले को धोखा हो जाए! कई बार ऐसा भी हो सकता है कि नकली फूल, असली फूल से भी ज्यादा सुंदर लगे। उसकी सुगंध असली को भी मात कर दे। लेकिन नकली चीज तो नकली है। उस सौंदर्य का, उस सुवास का वृक्ष के प्राणों से कोई जोड़ नहीं है। सब ऊपर से थोपा गया है।

जब भी हम कोई नियम, कोई सिद्धांत देते हैं, एक खास प्रकार के आचरण की अपेक्षा करते हैं, तो पाखंड खड़ा हो जाता है। प्लास्टिक के फूल जैसा सब कुछ नकली है। और हम चले थे परम सत्य की तलाश में, परमात्मा की खोज में!

इस नकली व्यवहार से, इस झूठे मुखौटे को लेकर प्रभु के चरणों में हम न पहुँच पाएंगे। यह प्लास्टिक का फूल प्रभु के चरणों में अर्पित न हो सकेगा। इसलिए जो भी आध्यात्मिक व्यक्ति होगा, वह कभी भी इस पक्ष में न होगा कि पाखंड किया जाए। आपने अक्सर संन्यासियों का एक नाम सुना होगा– स्वामी अखंडानंद। इसमें अखंड+आनंद, दो बातें क्यों इकट्ठी हैं? ये वास्तव में जुड़ी हुई हैं। जो अखण्ड है वही आनन्दित हो सकता है और जो आनन्दित है, वह अखण्ड हो जाएगा। वह अपने सहज स्वाभाविक ढ़ंग से जीएगा। एक शब्द आपने सुना होगा– सहज योग। सहज का मतलब होता सरल, सुगम, स्पान्टेनियस, प्राकृतिक, नैसर्गिक। सहज योगी वही हो सकता है, जो बालवत जी रहा है।

बाईबिल में एक जगह उल्लेख आता है कि ईसा मसीह बाजार से गुजर रहे थे, कुछ लोगों ने उन्हें घेर लिया और सवाल पूछने लगे। किसी ने पूछा कि प्रभु के राज्य में प्रवेश का अधिकारी कौन होगा? ईसा मसीह ने उस भीड़ में से एक छोटे बच्चे को उठाकर अपने कंधे पर बिठा लिया और कहा कि 'वे जो छोटे बच्चे की भांति हैं।' क्या अर्थ हुआ? परमात्मा के राज्य में प्रवेश का केवल वही अधिकारी है जो सरल है, जो सहज है। बच्चे की खूबी है– वह जैसा है, वैसा ही है। अभी उसने पाखंड नहीं सीखा। बड़े व्यक्ति पाखंडी होना सीख गए। भीतर है क्रोध किंतु ऊपर से मुस्कुरा रहे हैं। कह रहे हैं कि बड़े दिनों में आपके दर्शन हुए, आप तो दूध के चाँद हो गए हैं। भीतर की भावना है कि यह दुष्ट कहां से नजर आ गया, आज का दिन बरबाद हो गया। इस प्रकार का व्यक्तित्व, असत्य, पाखंडी; धर्म के अनुभव में नहीं डूब सकता। भीतर के सच्चिदानंद को नहीं जान सकता। वह तो दुखी, चिंतित, परेशान होगा। उसको हमेशा कुछ न कुछ संभालते रहना पड़ेगा। वह सहज नहीं हो सकता। सहज

योगी नहीं हो सकता।

इसीलिए सद्गुरु ओशो कहते हैं– ऊपर–ऊपर से आचरण मत साधो, भीतर तुम जागृत बनो। निश्चित रूप से तुम्हारा आचरण बदलेगा। लेकिन वह एक सहज स्वाभाविक परिणाम होगा। अतः वे बाह्य आचरण के पक्ष में नहीं, आत्मिक जागरण के पक्ष में हैं।

मा मोक्षा– आप अभी बात कर रहे थे कि साधक को बच्चों जैसे सरल होना चाहिए। एक शब्द है– 'द्विज'। क्या उसका भावार्थ इस से मिलता–जुलता है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हाँ, बिल्कुल ठीक वही अर्थ है। भारत में ब्राह्मणों को कहा जाता है– 'द्विज'। एक जन्म तो जो माता–पिता से मिला है, वह शरीर का जन्म था। शिक्षा ने, परिवार ने, समाज ने, संस्कारों ने हमारे मन को पैदा किया, विचारों को, आचरण को जन्म दिया। निश्चित ही हर व्यक्ति को इस दौर से गुजरना होगा। वह पाखंडी हो जाएगा। भीतर कुछ, बाहर कुछ और हो जाएगा। वह सत्य में न जी पायेगा। बड़े होते–होते उसे कई प्रकार के असत्य मुखौटों को ओढ़ना होगा।

प्रौढ़ता के बाद उसके जीवन में पुनः एक क्रांति आनी चाहिए। जब इस झूठ के बाहर आ जाए। तभी वह सत्–चित्–आनंद को जान पायेगा। ऋषियों ने परमानंद की परिभाषा की है– सत्यम् शिवम् सुन्दरम्! सत चित आनंद। वह सत्य, स्प्रिचुअल मैच्योरिटी के बाद आएगा। और वह परिपक्वता क्या होगी? वह व्यक्ति सब प्रकार के पाखंड छोड़ दे और पुनः बालवत, प्रामाणिक, ईमानदार हो जाए। ऐसी अंतर्आत्मा का जन्म, व्यक्ति स्वयं ही स्वयं को दे सकता है। यह दूसरा जन्म हुआ, इसलिए इसको 'द्विज' संज्ञा मिली है। भारत में ब्राह्मणों को द्विज कहने का भावार्थ यह है कि जिसने दोबारा अपने को जन्म दिया। समाज ने जो झूठा कवच चारों तरफ निर्मित कर दिया था, उसके बाहर जो निकल आएगा। ऐसा व्यक्ति ही ब्रह्म को जान पाएगा। ब्राह्मण का शब्दार्थ है– ब्रह्म को जानने वाला, ब्रह्मज्ञानी।

ईसा मसीह जिसे कह रहे हैं कि प्रभु के राज्य में प्रवेश; वही ब्रह्मज्ञान का अर्थ हुआ। वह व्यक्ति सच्चा हो गया। जैसा है बस वैसा ही हो गया। बहुत सरल, सहज, वही ब्राह्मण हो सकेगा। जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। इसको जाति–पांति से संबंधित मत समझना। जो ब्रह्मज्ञानी है, वह ब्राह्मण है, ऐसा व्यक्ति ही द्विज है। उसने आत्म–रूपांतरण किया। यह प्रक्रिया जागरण के द्वारा घटती है। इस जागरण को कोई कहे ध्यान साधना, योग साधना या जो भी नाम दें। जागरण से फिर जो आचरण आता है, उसके लिए भी हम एक नया नाम देते हैं। भगवान बुद्ध के वचनों में आता है– 'शील'। दो शब्द में भेद समझना– एक है चरित्र और दूसरा है शील। चरित्र, कैरेक्टर, यानी बाहरी आचरण, मर्यादाएं, औपचारिकताएं इत्यादि। ऊपर से थोपे गये प्लास्टिक के फूल जैसा। दूसरा है शील; वास्तविक फूल की सुवास जैसा। एक मुर्दा लाश है। दूसरा जीवंत है, अस्तित्व में जड़ें जमाए है।

मा मोक्षा– शील यानी आत्मानुशासन?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हां, आत्मानुशासन शब्द बहुत अच्छा है, हम इसका प्रयोग कर सकते हैं। जो भीतर आत्मा से आ रहा है, बाहर से थोपा हुआ अनुशासन नहीं है। **मा मोक्षा– अभी आप बात कर रहे थे स्प्रिचुअल मेच्योरिटी की। कोई भी व्यक्ति स्प्रिचुअली मेच्योर हो सकता है? या कोई विशेष क्राइटेरिया, या खास उम्र की बात है?**

स्वामी शैलेन्द्र जी– उम्र तो तय नहीं हो सकती। हां, औसत अंक कह सकते हैं। जिस प्रकार शारीरिक प्रौढ़ता करीब–करीब 14 साल में आती है, ठीक उसी प्रकार कोई व्यक्ति अगर स्वाभाविक ढंग से जिंदगी को जीता है, तो लगभग 42 साल से लेकर 49 साल के भीतर–भीतर एक स्प्रिचुअल प्रौढ़ता आएगी। उसके जीवन में क्रांति–बिंदु आएगा।

पुराने जमाने में हमारे देश में एक व्यवस्था थी कि 50 साल में व्यक्ति वानप्रस्थ हो जाए। यह उम्र काफी सोच–समझ कर चुनी गई थी। जीवन के अनुभवों से गुजरते हुए एक प्रकार की परिपक्वता आती है। उम्मीद है कि लगभग 50 साल तक पहुंचते–पहुंचते हर व्यक्ति के भीतर एक रूपांतरण का बिंदु आ जाना चाहिए। घर–गृहस्थी में, धन–संपत्ति में, पद–शक्ति में, माया–मोह इत्यादि में रुचि धीरे–धीरे घटती जाएगी। यह उसकी परिपक्वता की निशानी होगी। मोह भंग होते चले जाएंगे। युवावस्था में सपने देखे थे, महत्वाकांक्षा संजोई थी, वह खत्म होती चली जाएगी। जीवन के सत्यों के प्रति जाग्रति आएगी।

जैसे–जैसे मृत्यु नजदीक आएगी, वैसे–वैसे उसके सोचने–विचारने के, उसके चिंतन–मनन के ढंग बदलते जाएंगे। बचपन में खेल–कूद और खेल–खिलौने महत्वपूर्ण थे। युवा अवस्था में प्रेम संबंध बहुत महत्वपूर्ण थे। फिर 30–35 साल के होते–होते धन, संपत्ति, शक्ति, पद, यश, प्रतिष्ठादि महत्वपूर्ण हो गए। ठीक इसी प्रकार और आगे प्रौढ़ता आने पर अब उसके लिए अपनी अंतर्आत्मा, भीतरी होश, अपने हृदय को भक्ति में डुबाना महत्वपूर्ण होना चाहिए। अब सामने मृत्यु आ रही है। यह जीवन छूट ही रहा है। क्रमशः उसकी पकड़ भी ढ़ीली होनी चाहिए। स्वाभाविक रूप से प्रौढ़ता आनी चाहिए।

शांति, आनंद, परमात्मा के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिए। क्या है जीवन? क्या है मृत्यु? क्या है मृत्यु के पार? ऐसी जिज्ञासा जन्मेगी। तब साधना की शुरुआत होगी। इसी को मैं आध्यात्मिक परिपक्वता कह रहा हूं। सब लोग अगर स्वाभाविक ढ़ंग से, प्रकृति ने जैसा दिया है, वैसे ही जिएं तो यह और भी जल्दी आ सकती है। उदाहरण के लिए, आदि शंकराचार्य 12 साल की उम्र में संन्यस्त हो गए। 12 साल में उनके भीतर इतनी समझदारी आ गई, जो सकता है कि जो 90 साल के बूढ़े के अंदर भी न आती हो। अक्सर ऐसा देखने को मिल जाता है कि 90 साल के बूढ़े भी खेल–खिलौने में व्यस्त हैं। खेल–खिलौने अलग होंगे, छोटा बच्चा प्लास्टिक की कार से खेल रहा है, बूढ़ा आदमी महंगी इर्म्पोटेड कार से खेल

रहा है। उसकी पकड़ वैसी ही है। खेल-खिलौने वाले छोटे बच्चे, गुड्डे-गुड़ियों के ब्याह रचा रहे हैं और बुजुर्ग अपने बेटे-बेटियों के, पोते-पोतियों के ब्याह रचाने में वैसे ही व्यस्त हैं। समझ बढ़ी नहीं। जरूरी नहीं कि बाल पक जाने से किसी के भीतर बुद्धि भी पक गई हो।

उम्र के साथ बुद्धिमत्ता विकसित होनी चाहिए। लेकिन नियम के कुछ अपवाद होते हैं। कुछ लोग छोटी उम्र में बहुत परिपक्व हो जाते हैं। कुछ लोग इसके विपरीत भी हैं। बड़ी उम्र तो हो गई, लेकिन अनुभव हासिल नहीं किया। इस प्रकार उम्र से तो तय नहीं होगा, किंतु परिपक्वता का औसत अंक कह सकते हैं। लगभग पचास साल में, आधी से अधिक उम्र बीत गई, तब असैात व्यक्ति के भीतर प्रौढ़ता, आध्यात्मिक परिपक्वता आनी चाहिए।

मा मोक्षा– क्या मृत्यु के लिए भी कोई तैयारी की जाती है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– निश्चित रूप से, दो प्रकार की शिक्षाएं होनी चाहिए। एक वह जो हमारी सामान्य शिक्षा अभी चल रही है, वह जीवन जीने के लिए है। आजीविका कमाने के लिए है। कैसे रोजी-रोटी कमाएं? कैसे दुकान और फैक्ट्री चलाएं? कैसे हम घर-गृहस्थी बसाएं ? सारी शिक्षा आजीविका केन्द्रित है। उसका मुख्य बिंदु है, कैसे धन संपत्ति कमाएं, जीने की व्यवस्था करें। लेकिन जीवन ही तो सब कुछ नहीं है। आगे मृत्यु भी आने वाली है, फिलहाल उसके लिए कोई प्रशिक्षण या तैयारी नहीं है।

दूसरी शिक्षा होनी चाहिए आश्रमों में, गुरुकुलों में। हो सके तो स्कूल, कॉलेज में भी होनी चाहिए। रिटायरमेंट से पूर्व 50-55 साल के व्यक्ति को पुनः शिक्षा दी जानी चाहिए- ध्यान की शिक्षा, तथाता भाव की शिक्षा। अब बीमारियां आने वाली हैं, विपरीत परिस्थितियां आने वाली हैं। वृद्धावस्था व कमजोरी आएगी, नौकरी से निवृत्ति होने वाली है, सारा काम-धंधा छूटने वाला है। जिस चीज के लिए आपने 25 वर्ष तक शिक्षा गृहण की थी, अब वह किसी काम की नहीं। डिग्रियां और पीएचडी अब किसी मतलब की नहीं।

आगे बहुत कुछ नया होना है। रिटायरमेंट के बाद वह व्यक्ति कैसे एकांतवास कर पायेगा? कैसे अकेला रहेगा? संगी-साथी, सहकर्मी छूट गए। यार-दोस्त, आफिस के लोग बिछड़ गए। अब एक नये ढ़ंग से जीने की कला आनी चाहिए। अब परिवार के लोग मरेंगे और अपनी स्वयं की भी मृत्यु उसके सामने आ रही है। इसकी क्या तैयारी है?

किसी छोटी-मोटी यात्रा पर भी व्यक्ति जाता है तो अपना सूटकेस तैयार करता है। सामान रखता है कि क्या-क्या जरूरत पड़ेगी? टीफेन ले जाता है, ट्रेन में भोजन की जरूरत पड़ेगी, पानी लगेगा। जहां जा रहा है वहां के मौसम के अनुसार कौन से कपड़े जरूरी हैं, सब ख्याल करता है। जब मृत्यु की महायात्रा पर जाने वाले हैं, क्या वहां की कोई तैयारी नहीं होगी? अपने साथ कुछ तो ले जाना होगा? इस जगत में कमाया हुआ तो कुछ भी संग न जा सकेगा। नाम-पद-प्रतिष्ठा, मित्र-रिश्तेदार, बैंक बैलेन्स, हीरे-जवाहरात, यहां तक कि स्वयं की देह तक साथ न जाएगी। अपना ही मन, स्मृति, शिक्षा, डिग्री, भाषा,

सिद्धांत, धर्म ग्रंथ, शास्त्र, क्रियाकांड, पूजा–प्रार्थना आदि सब चिता पर राख हो जाएंगे।

हम जिसे आध्यात्मिक साधना कहते हैं, वह एक प्रकार से मृत्यु की तैयारी है। ओशो की एक किताब का शीर्षक है, 'मैं मृत्यु सिखाता हूं'। दूसरी प्रकार की शिक्षा की तैयारी होनी चाहिए। जो दुनिया में शिक्षा फिलहाल प्रचलित है, वह आजीविका कमाने का प्रशिक्षण है– 'हाउ टू अर्न लिवलीहुड' बस!

एक और महाशिक्षा होनी चाहिए। आजीविका नहीं, महाजीवन का प्रशिक्षण। चलो छोटी उम्र में उसकी जरूरत नहीं है। तो पचास साल के बाद होनी चाहिए। तब लोगों में प्रौढ़ता आती और आंतरिक जिज्ञासा जागती है। आज दुनिया में इतना फ्रस्ट्रेशन और डिप्रेशन नज़र है, क्योंकि नौकरी छूटने के बाद व्यक्ति खाली हो गया, करने को कुछ बचा नहीं, कोई मिलने–जुलने वाला नहीं। कहां जाएं, क्या करें, कुछ समझ में नहीं आता।

वाकई, यही वक्त है ध्यान–साधना का। लेकिन उचित मार्गदर्शन नहीं है। बुजुर्गों के लिए एक नये प्रकार के विद्यालय होने चाहिए। उन्हें ध्यान में डूबना सिखाएं, उनको ऐसा शिथिल होना सिखाएं, जैसे मृत्यु में हो जाते हैं। मृत्यु की तैयारी करें, भक्ति भाव में डूबें। उस पार हम अपने संग क्या ले जाएंगे– ओंकार का संगीत, परमात्मा का प्रकाश, अपनी अंतर्आत्मा के दिव्य गुण। अब उन भागवत गुणों के अनुभवों में डूबें ताकि मृत्यु के समय व्यक्ति बिल्कुल निश्चिंत होकर स्वीकार भाव से भरा हुआ जा सके।

एक नये प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। सारी दुनिया में होनी ही चाहिए। और मुझे लगता है कि जैसे–जैसे मेडिकल साइंस की वजह से लोगों की उम्र बढ़ती जा रही है, इसकी जरूरत और भी ज्यादा महसूस होगी। मैं उम्मीद करता हूं कि आने वाले 20–25 सालों में सारी दुनिया में नये प्रकार के विद्यालय होंगे जहां पर मृत्यु की शिक्षा दी जाएगी। कैसे मरें– शांतिपूर्वक, आनंदपूर्वक, धन्यवाद भाव से ओतप्रोत!

अनुगमन नहीं विवेक जागरण

मा मोक्षा— गुरुदेव, आज ईमेल द्वारा एक साधक ने पूछा है कि ओशो ने अपनी ही कही हुई बातों को काटा भी है। तो हम उनकी कौन-सी बात मानें? क्या उन्होंने सबकुछ हम पर ही छोड़कर हमारे लिए बड़ी अड़चन नहीं खड़ी कर दी?

स्वामी शैलेन्द्र जी— अड़चन खड़ी नहीं की है, हमें विवेकपूर्ण और प्रज्ञावान होने के लिए चुनौती दी है। अगर वह कोई ठोस सिद्धांत देते, तब उनके फालोवर अंधविश्वास करने वाले अनुयायी बन जाते और ओशो बिलकुल नहीं चाहते कि कोई उनका अनुगमन करे, कोई उनका अनुकरण करे। वे चाहते हैं कि हमारे भीतर बुद्धिमत्ता उत्पन्न हो।

तुम स्वयं चुनो। याद रहे, जब व्यक्ति स्वयं चुनाव करता है, कोई निर्णय करता है, तब उसका विकास होता है। हो सकता है उसका निर्णय कभी-कभार गलत हो, दुष्परिणाम आएं। किंतु वे दुष्परिणाम भी सिखाते हैं। हमें स्वयं ही निर्णय करना चाहिए।

अतः ओशो ने विभिन्न सत्यों के भिन्न-भिन्न आयाम उजागर किये; क्योंकि सत्य मलटीडाइमैंशनल, बहुआयामी है। जीवन बड़ा कॉम्पलैक्स, जटिल है। इसलिए एक सीधी रेखा ऐसी सुगमता से नहीं खींची जा सकती। जिंदगी वर्तुलाकार है, सर्पिलाकर है। इसके कई पहलू हैं। एक पहलू की चर्चा करें, फिर दूसरे-तीसरे-चौथे की चर्चा करें तो कई बातें कॉन्ट्राडिक्ट्री प्रतीत होती हैं, एक-दूसरे को काटती सी लगती हैं। एक उदाहरण से समझें-

डॉक्टर के पास मोटा मरीज़ आया। ब्लडप्रेशर की बीमारी है उसको, कोलेस्ट्रोल बढ़ा हुआ है। डॉक्टर ने उससे कहा कि घी-तेल कम खाइए, भोजन कम लीजिए, कैलोरी कम। खूब मेहनत कीजिए, पैदल चलिए, व्यायाम करिए रोज घण्टाभर। तभी दूसरा मरीज आया दुबला-पतला, उसको कहा कि आपको खून की कमी है, आप आयरन और विटामिन ज्यादा लीजिए। थोड़ा घी-तेल खाइए, ज्यादा कैलोरी वाला खाना लीजिए; ताकि आपका

कुछ वजन बढ़े, ज्यादा मेहनत न करें, थोड़ा विश्राम कीजिए। तीसरा मरीज आया, हृदय का रोगी था, उसको कहा कंपलीट बैड रैस्ट, व्यायाम तो करना ही नहीं है, आपको पैदल तक नहीं चलना है। बस बैडरूम से बाथरूम तक जा सकते हैं, इसके अलावा कुछ भी नहीं।

क्या ये बातें विरोधाभासी हैं? हां, कोई व्यक्ति जिसे पता न हो कि किससे बातें कही जा रही हैं और क्यों कही जा रही हैं; वो शायद गलत निष्कर्ष पर पहुंच जाए कि डॉक्टर तो बड़ा कन्फ्यूज़ करने वाला है। किसी से कुछ कहता है, किसी से कुछ और। किसी को कहता है कम खाओ, किसी को कहता है ज्यादा खाओ। किसी को कहता है खूब व्यायाम करो, परिश्रम करो, किसी से कहता है कंपलीट बैड रैस्ट करो। ये बातें कांट्राडिक्ट्री नहीं हैं। भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न लोगों से कही गई हैं।

याद रखना, ये बातें हमेशा ही उस एक व्यक्ति पर भी लागू नहीं होंगी। समझो किसी व्यक्ति ने भोजन कम करके, ज्यादा व्यायाम करके अपना वजन नॉर्मल कर लिया। वह दोबारा आएगा तो डॉक्टर कहेगा– अब बिलकुल ठीक, 2000 कैलोरी वाला भोजन कर सकते हो। थोड़ा बहुत घी तेल भी इस्तेमाल कर सकते है। अब उतना व्यायाम करने की जरूरत नहीं, आपका वजन नार्मल हो गया है। बात बदल गई।

जीवन रोज बदल रहा है। जो व्यक्ति जागरूक जिएगा वह परिस्थिति के अनुसार अपना निर्णय भी बदलेगा। जो अपना वक्तत्व बदलने तैयार नहीं है, वह अत्यंत जड़बुद्धि होगा, मूढ़ होगा। याद रहे, जीवंतता का लक्षण है परिवर्तनशीलता। बदलाहट के साथ ही वक्तव्य भी बदलेगा। विवेकपूर्ण व्यक्ति जिद्द नहीं करेगा कि मैंने एक बार ऐसा कह दिया, अब मैं कैसे बदल सकता हूं, मैं अपनी बात कैसे काटूं? बदलना जीवंतता का लक्षण है।

अनेक लोग पूर्व निर्धारित सिद्धांत से जीते हैं। बस, एक बार तय कर लिया सो कर लिया। लकीर के फकीर हो गए। वे लोग स्वयं मूढ़ हैं और उनके अनुयायी भी बहुत मूढ़ हो जाते हैं। इसलिए हम देखते हैं जितने भी दुनिया में लकीर के फकीर हैं, अंधे अनुयायी हैं, उनके जीवन में जागृति के लक्षण दिखाई न देंगे। उनमें रूपांतरण के लक्षण दिखाई न देंगे। वे अंधों की भांति जीते हैं। जैसे आंखों पर पट्टी बांध दी गई है सिद्धांतों की, शास्त्रों की।

सद्‌गुरु ओशो ने हमारी पट्टियां खोली हैं, पलकें खोली हैं, हमें जगाया, चेताया है, और हमें सब आयामों से सत्य बताया है। यह भी समझाया है कि कोई बात वे कह रहे है, किसलिए कह रहे हैं, उसके पीछे कारण क्या है? एक वैज्ञानिक चिंतन उन्होंने दिया है। और तब उन्होंने हमारे ऊपर ही छोड़ा है कि हम स्वयं तय करें, हम स्वयं निर्णय लें। क्योंकि वे सदा नहीं होंगे। हमें अपना जीवन स्वयं ही जीना होगा। परिस्थितियां बदलेंगी। यदि हमें एक ठोस सिद्धांत पकड़ा दिया गया, तब हम मुसीबत में फंसेंगे। क्योंकि पूरी स्थिति बदल जाएगी और हम पुराने निर्देश का पालन करते रहेंगे, तो मरेंगे!

समझो उसे डॉक्टर ने कहा, तुम्हें कम भोजन करना है, ज्यादा व्यायाम करना है, कल

को उसे बुखार आ गया। टायफाइड हो गया। वह पुराना सिद्धांत पकड़ कर बैठा है, डॉक्टर ने तो ऐसा कहा था।

हमें विवेक देना होगा, बुद्धि जाग्रत करनी होगी। किन परिस्थितियों में तुम्हें यह कहा जा रहा है। और कौन–कौन सी भिन्न परिस्थितियां हो सकती हैं, जब तुम्हें परिवर्तित करना होगा। अंततः कुल मिलाके तुम्हें स्वयं ही समझकर, जिम्मेदारीपूर्वक निर्णय करना होगा।

सद्गुरु के प्रवचन में एक बड़ी प्यारी कहानी आती है कि एक शिष्य अपने गुरु के पास दस साल रहा, शिक्षा ग्रहण की, साधना की, ध्यान में डूबा फिर जब उसकी शिक्षा पूरी हो गई, तो गुरु ने कहा– अब तुम जा सकते हो। वह जाने को था, रात का समय था, सद्गुरु ने उसे एक दीपक जला कर दिया और कहा कि यह अंधेरी रात है ज़रा संभलकर जाना, अमावस की रात है, दूर है तुम्हारा गांव। उस शिष्य ने धन्यवाद दिया।

वह दीपक लेकर जैसे ही आश्रम की सीढ़ियां उतरा, गुरु ने दौड़कर जोर से फूंक मारी, दीपक बुझा दिया। शिष्य हैरान होकर बोला– आप यह क्या कर रहे हैं, अभी थोड़ी देर पहले तो आपने कहा था कि अमावस की रात है, दीपक की रोशनी में जाना।

गुरु ने कहा– यह मेरे द्वारा दिया गया दीपक है, तुम स्वयं अपने दीपक बनो।

भगवान बुद्ध का अंतिम वचन है– अप्प दीपो भव। अर्थात् अपने दीपक स्वयं बनो। 'बी ए लाइट अनटु योरसैल्फ' दूसरों के द्वारा दी गई रोशनी काम न आएगी। तुम्हारी अंतर्आत्मा जागे, तुम्हारा अन्तःकरण जागे, तुम्हारे भीतर विवेक और प्रज्ञा विकसित हो।

निश्चितरूपेण भूलचूक होंगी। लेकिन अपनी भूलचूक भी सहयोगी होती है। और दूसरे के द्वारा दिया गया सिद्धांत चाहे जितना ही सही हो, हो सकता है कुछ भूलचूकों से बचा ले, लेकिन उससे तुम प्रज्ञावान न बनोगे। आगे कभी–न–कभी ऐसी परिस्थिति आएगी जब तुम गड्ढे में गिरोगे। दूसरों के द्वारा दी गई लाठियां, सहारे काम न आएंगे। तुम्हें आँख खोलकर चलना सीखना होगा। अंधे को दी गई लाठी कब तक काम आएगी? क्यों न उसकी आंखें ही खोली जाएं। इसलिए ओशो हमें लाठी नहीं पकड़ाते। वह हमारे अंधेपन का इलाज करते हैं। इसलिए उन्होंने जीवन में बहुत–सी बातें कहीं जो आपस में विपरीत–सी लगती हैं। क्योंकि वे भिन्न–भिन्न लोगों को कही गई हैं। उनके शिष्यों में पुरुष भी हैं, स्त्रियां भी हैं। दोनों पर एक–सी बात तो लागू नहीं होगी। उनके प्रेमियों में छोटे बच्चे भी हैं, युवा भी हैं, वृद्ध भी हैं। सबके लिए एक–सी बात तो लागू नहीं हो सकती।

किसी बच्चे से कहेंगे– तुम संकल्पवान बनो। उसके भीतर अहंकार को जगाएंगे। अभी यही जरूरी है, उसको अपने पैरों पर खड़ा होना है। और अहंकारी वृद्ध व्यक्ति से कहेंगे– निरअहंकारी बनो। इस अभिमान को त्यागो। दोनों बातें जरूरी हैं।

लेकिन किताबों में यह तो लिखा नहीं जाता कि किसको कही गई है यह बात, क्यों कही गई है। और कई बार उसी व्यक्ति से भी बदलकर बात कहेंगे। चार महीने पहले आया

था, तब उसका सवाल अलग था। उत्तर भी अलग था। चार महीने बाद वह फिर आया है, उसका प्रश्न बदल गया। ओशो का उत्तर भी बदल जाएगा।

जो जड़ व्यक्ति होते हैं, बुद्धिहीन, वे सैद्धांतिक होते हैं। वे कहते हैं एक बार हमने ऐसा कह दिया, अब न बदलेंगे। जाग्रत व्यक्ति हमेशा परिवर्तन को तैयार रहता है। और सद्‌गुरु यही कहते हैं कि उनको प्रेम करने वाले जागरूक बनें। अभी-अभी हमने भगवान बुद्ध का नाम लिया। बुद्ध शब्द का लिट्रल मीनिंग है जाग्रत 'द अवेकंड वन'। वे सिद्धांत नहीं देते, वे हमें सत्य देते हैं। परिवर्तनशीलता जीवन का एक लक्षण है। अनेक बातें आपस में कॉन्ट्राडिक्ट्री नहीं हैं- भिन्न-भिन्न आयामों में, विभिन्न लोगों से कहीं गई हैं।

मा मोक्षा- आपने बताया कि सदगुरु ओशो से कोई बच्चा पूछेगा तो वे उनके भीतर अहंकार को जगाएंगे, संकल्पशक्ति जगाएंगे? तो क्या यह अहंकार भी जरूरी है?

स्वामी शैलेन्द्र जी- बहुत जरूरी है, उसके बिना काम न चलेगा! जरूरी है कि छोटा बच्चा विद्रोही बने, बगावती बने। अगर वह हमेशा माता-पिता एवं शिक्षकों की आज्ञा मानता रहे तो उसके भीतर अपने व्यक्तित्व का निर्माण नहीं होगा। उसकी अपनी पर्सनैलिटी डैवलप नहीं होगी। आंतरिक टैलेंट विकसित नहीं होंगे। इसलिए आपने अक्सर देखा होगा जो आज्ञाकारी बच्चे बड़ों के आदेश मानकर जीते हैं, उनके भीतर आई क्यू लेवल कम रह जाता है। वे गोबर-गणेश हो जाते हैं। माटी की मूरत... जैसा कहो वैसा कर देते हैं।

बच्चे के अन्दर विद्रोह आए, वह बगावत करे। उसके भीतर से 'न' कहने की क्षमता उत्पन्न हो, यह भी जरूरी है। यह निश्चित रूप से है तो अहंकार का लक्षण। इसी से उसका विल-पॉवर उत्पन्न होगा, संकल्पवान बनेगा, यह बिलकुल अनिवार्य है। तभी वह अपना जीवन जी पाएगा ठीक से। हां, एक समय आएगा। जब एक नई प्रकार की मैच्योरिटी उसके भीतर आएगी। और तब समर्पण की भावना जाग्रत होगी, श्रद्धा उमड़ेगी।

एक समय हम उसके भीतर संदेह पैदा करें, वैज्ञानिक चिंतन-मनन पैदा करें, उसके अंधविश्वासों को तोड़ें, वह संदेहशील बने, हर चीज पर सवाल खड़ा करना सीखे, वह अन्वेषक बने, सायंटिफिक थिंकिंग पैदा हो, यह सब जरूरी हैं। वह स्वयं डिटर्मिनेशन कर पाए, निर्णय ले पाए, ऐसी शक्ति उसके अन्दर उत्पन्न हो। उसी का नाम संकल्प-शक्ति है। ये सब अहंकार के ही विविध रूप हैं। इनसे भी व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

फिर समय आएगा कि वह व्यक्तित्व के बाहर, बियोंड पर्सनैलटी, अपनी इंडिविजुवैलटी जानने की कोशिश करे। बिल्कुल विपरीत घटना घटेगी। लगभग आधा जीवन उसका अहंकार को अर्पित होगा। फिर बाकी आधा जीवन इसके ठीक विपरीत दिशा में होगा। अब उसे समझ में आ गया कि अहंकार साध-साध के आनंद नहीं पाया जा सकता। तब वह अहं-मुक्त होना सीखेगा। याद रहे, मुक्त भी हम उसी बात से हो सकते हैं,

जो हमारे पास है। अगर मेरे पास लाख रुपये हैं, तो ही मैं लाख रुपये छोड़ सकता हूं। यदि हैं ही नहीं, तो छोडूंगा क्या? ठीक इसी प्रकार जिसके पास अहंकार है, संकल्प है, वही व्यक्ति समर्पित हो सकता है। सुनने में लगता है दो विपरीत बातें कि कहां संकल्प, कहां समर्पण! एकदम विपरीत बातें हो गईं। संकल्प का अर्थ है कि मैं निर्णय करूंगा, मैं कर्म करूंगा। और समर्पण का अर्थ है– जो प्रभु की मर्जी। मैं कौन हूं करने वाला। कर्त्ता पुरुष तो परमात्मा है। सुनने में लग रहा है दो विपरीत बातें हैं। लेकिन जो जितना सजग व संकल्प से जिया होगा, वही व्यक्ति एक दिन समर्पित हो पाएगा प्रभु के चरणों में। जिसके अन्दर संकल्प नहीं है, वह समर्पण भी नहीं कर पाएगा।

गौर से समझना, जिसके अन्दर संकल्प नहीं है वह समर्पण भी नहीं कर सकता; क्योंकि समर्पण तो महासंकल्प है। समर्पण का अर्थ कि अब मैं छोड़ता हूं, यह तो बड़े से बड़ा निर्णय है, कि आगे से अब निर्णय करना ही छोड़ता हूं। जो अस्तित्व की मर्जी। यह तो महानिर्णय है। सुनने में लगता है समर्पण और संकल्प विपरीत हैं, वास्तव में ऐसा नहीं है। समर्पण महान निर्णय है। महासंकल्पवान व्यक्ति ही कर सकता है।

मा मोक्षा– ओशो की बात कितनी अनूठी है! विपरीत चीजें दिखती हैं– संकल्प और समर्पण। उनमें समन्वय व अद्वैत दिखाया। क्या ऐसे ही जीवन के हर पहलू में हो सकता है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हर पहलू में हो सकता है, उदाहरण के लिए इसी बात को हम रिवर्स करके देखें। क्या संकल्प में समर्पण है? समर्पण का मतलब डिवोशन और संकल्प का मतलब डिटरमेशन। जो व्यक्ति स्वयं निर्णय करता है– इसे हम दूसरे तरीके से कह सकते है 'हि इज डिवोटेड टू हिज डिसीजन' उसने जो निर्णय लिया है उस पर वह अडिग है, एक बार उसने जो निश्चय कर लिया, पक्के इरादे के प्रति समर्पित है। डिसीजन के प्रति डिवोटेड है। संकल्प में भी एक प्रकार का समर्पण है। वस्तुतः जिंदगी में ये दोनों बातें कहां एक–दूसरे की कॉन्ट्राडिक्ट्री हैं? मनुष्य निर्मित भाषाकोष में लिखी हैं कि विपरीत हैं।

जीवनकोष में दोनों संयुक्त हैं। संकल्प में भी समर्पण की भावना है। और समर्पण भी अपने आपमें एक महासंकल्प है। जीवन के विभिन्न आयामों में हम इसी बात को देख सकते हैं। सब जगह विपरीत चीजें आपस में संयुक्त हैं। थोड़ी गहरी नजर, थोड़ी–सी पैनी नजर करके खोदें तो हम पाते हैं कि अरे, ये विपरीत तत्व एक साथ मौजूद हैं। फिर उन्हें विपरीत कहने का भी क्या अर्थ? अभी–अभी जो सूर्य उदय हुआ है, कुछ ही घंटे बाद वह अस्त हो जाएगा। क्या सूर्योदय में ही सूर्यास्त नहीं छिपा था? सूर्यास्त, सूर्योदय का ही तो एक्सटेंशन है। उसी का दूसरा छोर। अभी दिन हुआ है, जल्दी ही रात हो जाएगी। रात में से फिर दिन निकल आएगा। दिन में से फिर रात निकल आएगी। हम जिसको युवावस्था कह रहे हैं उसी में से वृद्धावस्था निकल आएगी। जिसको हम जन्म कह रहे थे; अन्ततः वही मृत्यु

बन जाएगा। मृत्यु फिर एक नए जन्म की तैयारी हो जाएगी। तो विपरीत हैं कहां! एक गोल वर्तुल है, बस उसी के भिन्न-भिन्न अंग हैं। इस तरफ से उस तरफ, उस तरफ से इस तरफ। हम जिसको बायां और दायां कहते हैं, क्या वे दोनों ही हाथ अथवा पैर हमारे शरीर के हिस्से नहीं हैं। विपरीत कहां हैं?

ठीक ऐसे ही जीवन बड़ा मल्टीडायमैंशनल और कॉम्पलेक्स है। जो लोग एक सीधी रेखा की तरह जीवन को सोचते हैं, वे सिद्धांतों में बांटकर, वर्गीकरण करके, टुकड़ों में बांट के, क्लासीफाइड करके सोचते हैं। वहां मुश्किल खड़ी हो जाती है। फिर वे विपरीत शब्दों का प्रयोग करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक-दूसरे के कंट्राडिक्ट्री है। हम कहते हैं स्त्री-पुरुष एक दूसरे के विपरीत हैं। अगर विपरीत होते, तो उनके भीतर इतना आकर्षण और प्रेम कैसे होता। कहीं भीतर से गहरा खिंचाव और जोड़ है। कैसे उनको विपरीत कहें?

जीवन के हर पहलू को देखें संक्षेप में, ओशो इसको उदाहरण से समझाते हैं- सिक्के के दो पहलू- क्या ये दोनों जुड़े हुए नहीं हैं? सिक्का तो एक ही है। किंतु हम एक बार में एक पहलू देख पाते हैं। यह हमारी दृष्टि की कमजोरी है। हम दोनों पहलू एक साथ नहीं देख सकते। पलट के दूसरी तरफ देखेंगे तो पहले वाला छिप जाएगा। हम छोटे-से रेत के कण के सभी पहलू नहीं देख सकते। एक ही पहलू एक बार में नजर आता है। लेकिन यह तो हमारी दृष्टि की कमी है। ऐसा नहीं कि रेत का कण दो हिस्सों में विभाजित है। वह तो एक ही है।

ऐसे ही जीवन बहुआयामी है। मल्टीडायमेंशनल- बहुत से पहलूओं वाला। सिक्के में तो सिर्फ दो पहलू होते हैं, जीवन में अनेक पहलू हैं। कभी कुछ सामने आता है, कभी कुछ। लेकिन बुद्धिमान आदमी यह समझ जाता है कि इसके कई पहलू हैं। इसलिए फिलहाल जो मेरे सम्मुख है, केवल यही सत्य नहीं है, इससे ठीक विपरीत बात, जो दूसरी तरफ है, साइड में छिपी है, अन्य बहुतेरे पक्ष हैं, वे भी परिवर्तनशील हैं। बदल रही हैं। इस पूरी कॉम्पलेक्सिटि को जो समझेगा, निश्चित ही उसमें एक नये प्रकार कि मेच्योरिटी आएगी।

सद्गुरु यही चाहते हैं कि हम सबके भीतर वैसी बुद्धिमत्ता, प्रज्ञा पैदा हो। इसलिए वे हमें कोई ठोस सिद्धांत नहीं देते। वरन क्षण-क्षण जागरूक रहने की शिक्षा देते हैं। सदा सजग रहो। देखो, अवलोकन करो, और उसके अनुसार तुम्हारा रिस्पोंस हो, व्यवहार हो।

आश्चर्य होता है यह जानकर कि अद्वैत की चर्चा करने वाले बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वान भी कितने द्वन्द्वों में जीते हैं। छोटी-छोटी बातों में द्वैत खड़ा करते हैं। मनुष्य के मन में सर्वाधिक गहरे विभाजन अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, आस्तिकता-नास्तिकता, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्यादि के हैं। इनको सिखाने वाले तथाकथित अद्वैतवादी ही हैं। परम सत्ता को भी भगवान और शैतान के द्वन्द्व में बांट दिया है। फिर कोई निर्द्वन्द्व कैसे हो सकता है?

मा मोक्षा- सदगुरु ओशो ने जगत को वास्तविक अद्वैत की जीवंत दृष्टि दी है। हम धन्यभागी हैं। जय ओशो।

पर्व-त्योहारों का औचित्य

मा मोक्षा– गुरुदेव, आज एक मित्र ने पूछा है कि दीवाली, होली, रक्षाबंधन इत्यादि पर्वों के संबंध में ओशो के क्या विचार हैं, एवं इनका क्या औचित्य है?

ओशो शैलेन्द्र जी– यह सवाल लगभग ऐसा ही है जैसे कोई किसी बुजुर्ग व्यक्ति से पूछे कि छोटे बच्चे जो खेल–खिलौनों से खेल रहे हैं, इनके संबंध में आपके क्या विचार हैं? बुजुर्ग व्यक्ति यही कहेगा– कि बहुत अच्छे हैं, खेल–खिलौने हैं, बच्चों को खेलना चाहिए। और बर्थडे पर वह गिफ्ट भी लाकर देगा खिलौने– छोटी–सी प्लास्टिक की कार है, कि रेलगाड़ी है, कि रबड़ का हवाई जहाज है। प्रौढ़ व्यक्ति जानता है कि यह हवाई जहाज कोई सचमुच का हवाई जहाज नहीं हैं और यह कार भी बिल्कुल बेकार है। मगर बच्चे के लिए तो बहुत महत्वपूर्ण हैं। बच्चे में अभी उतनी बुद्धिमत्ता विकसित हुई नहीं है। और उसे सचमुच की कार दे भी मत देना, वह दुर्घटना कर बैठेगा। उसे खेल–खिलौनों से खेलने दो।

ठीक ऐसे ही जिनके भीतर आत्मिक प्रौढ़ता आ जाती है, उनके भीतर करुणाभाव और प्रेमभाव, स्नेह और वात्सल्य भी बहुत घना हो जाता है। तब जो लोग बचकानी बुद्धि के हैं, भले ही शरीर से बड़े हो गए, किंतु खिलौनों में व्यस्त हैं, करुणावान व्यक्ति उनके खिलौनों को नहीं छीनते। खेल को नहीं बिगाड़ते। शायद उन्हें और नए–नए खिलौने भेंट कर दें। हां, इस आशा और उम्मीद के साथ कि एक दिन इनके भीतर भी परिपक्वता आएगी, ये भी जाग्रत होंगे और खेल–खिलौने छोड़ सकेंगे।

समाज में कई प्रकार के व्रत–त्योहार इत्यादि प्रचलित हैं। सद्‌गुरु ओशो का संदेश उत्सव में जीने का है, जीवन को एक सेलिब्रेशन की तरह लेने का है। उनका कहना है कि तुम्हारा क्षण–क्षण ही सेलिब्रेशन हो जाए। तो चलो होली–दिवाली ही सही, कहीं से तो शुरुआत करो कि तुम उत्सव मना रहे हो। उसे वो नहीं तोड़ेंगे। लेकिन वे चाहेंगे कि हर दिन तुम्हारी होली हो और हर रात तुम्हारी दीवाली हो। उसको और फैलाना चाहेंगे पॉजिटिव ढंग से। वे हमारी प्लास्टिक की कार नहीं छीनना चाहेंगे; लेकिन वे चाहते हैं कि एक दिन बड़ी कार तुम चला सको, उसकी ड्राइविंग का मजा ले सको, सचमुच की यात्रा हो सके। इस प्लास्टिक की कार से तो कोई यात्रा नहीं होती। लेकिन बच्चों के लिए वह पर्याप्त है।

चूंकि सद्‌गुरु हजारों लोगों से बात कर रहे होते हैं; इसलिए उनके वक्तव्यों में हमें विरोधाभास देखने को मिलेगा। कोई बचकानी वृत्ति का व्यक्ति सवाल पूछेगा और उसे वो एक ढंग की बात कहेंगे। कोई ज्यादा समझदार व्यक्ति होगा जो बचकाना भी नहीं रहा और पूरी तरह परिपक्व भी नहीं हुआ, उसको कहेंगे– छोड़ो, इसमें क्या रखा है? कोई व्यक्ति बहुत परिपक्व हो गया उससे कहेंगे अब तो तुम्हारा क्षण–क्षण त्योहार होना चाहिए। पूरा जीवन ही एक उत्सव होना चाहिए। अलग से एक विशेष दिन बनाने की क्या जरूरत? निश्चित रूप से जिसके 365 दिन उत्सव हो गए अब वो एक दिन क्या उत्सव करेगा। लेकिन इसका कोई विरोध भी नहीं हैं। याद रखना! वे किसी पॉजिटिव दिशा की ओर ले जा

रहे हैं। जब हम किसी चीज का विरोध करते हैं, वह निगेटिव होता है। हम कहते हैं कि ये छोड़ो, वो त्यागो। वे छोड़ने–त्यागने को नहीं कह रहे। वे कुछ उससे और बड़ा पाने को कह रहे हैं, कुछ बेहतर उपलब्ध करना है। हमारा पूरा जीवन उत्सवमय हो जाए।

ओशो छोटे उत्सव के विरोध में नहीं हैं। लेकिन उसमें बचकानापन है। जैसे–जैसे आदमी की बुद्धिमत्ता प्रगाढ़ होगी, वह बचकानेपन से बाहर स्वयं ही आएगा। बच्चे से खिलौने छीने नहीं जाते, एक दिन बच्चा खुद ही छोड़ देता है। बड़ा हो जाएगा, उससे हम फिर पूछेंगे कि अरे तुम्हारी वो गुड़िया कहां गई? उसको याद भी न आएगा कि गुड़िया कहां गई। तुम्हारे पास एक बहुत अच्छी ट्रेन थी, उस ट्रेन का क्या हुआ? तुम तो उसके लिए रोते थे। एक दिन ट्रेन टूट गई थी, बहुत रोए थे, नींद नहीं आई, खाना नहीं खाया था। याद है वो ट्रेन कहां है आजकल? वह बच्चा भी हंसेगा कि आप कहां की बात कर रहे हो? क्या पता कहां–कब कचरे में फिंक गई वो ट्रेन, कहां गई वह गुड़िया। अब मैं बड़ा और समझदार हो गया हूं।

यदि हम उसके खेल–खिलौने छीन लेंगे तो हो सकता है वो जिन्दगीभर बचकाना ही रहे, उसे कभी समझ ही न आए कि वह गुड़िया, वह ट्रेन, वह कार किसी काम की न थी। उसको जी भर के खेल लेने दो। खेल खेल के ही समझ में आएगा, बुद्धिमत्ता विकसित होगी। जैसा हम छोटे बच्चों के संग करते हैं महान जाग्रत सद्गुरु भी मनुष्य जाति के साथ वैसा ही करते हैं। उनके लिए यह विराट मनुष्य जाति छोटे–छोटे बच्चों के ही समान हैं। तो वे कुछ छीनना नहीं चाहते।

वे होली, दिवाली के विरोध में नहीं हैं। लेकिन एक और रंगों की होली खेली जाती है। ओशो कहते हैं तुम्हारे भीतर परमात्मा फाग खेल रहा है। वहां आलोक छाया है, रंग छाया है, उस रंग में कब डूबोगे? ठीक है बाहर तुम रंग लगाते हो और गुलाल उड़ाते हो, अच्छी बात है। लेकिन तुम्हारी अन्तरात्मा में भी एक गुलाल उड़ रही है उस रंग को कब देखोगे? वह ज्यादा महत्वपूर्ण है। बाहर तुमने दीपक जलाए चलो अच्छी बात है! अमावस की रात, अंधेरा कटा। लेकिन तुम्हारी अन्तरात्मा अंधेरी है उस अंधेरे को कब दूर करोगे। वह तो ध्यान के दीपक जलाने से होगा। वो मिट्टी के दीपक को बुझाने की नहीं कह रहे हैं। लेकिन भीतर चेतना का दीपक जलाने की कह रहे हैं। इस पॉजिटिव ढंग से उनकी बात को समझें।

मा मोक्षा– आपने बताया कि ओशो हमें त्याग नहीं सिखाते, छोटे उत्सव छोड़ने के लिए नहीं कहते, एक महोत्सव की तरफ चलने के लिए कहते हैं। तो ओशो की जो दृष्टि है उसमें त्याग का क्या महत्व है?

स्वामी शैलेन्द्र जी–त्याग अपने–आप में एक निगेटिव वर्ड है कि हमें कुछ छोड़ना है। पुराने जमाने में संन्यास का यही अर्थ था– त्याग, रीनन्सिएशन। घर त्यागो, परिवार त्यागो, धन–सम्पत्ति त्यागो, मकान त्यागो, समाज त्यागो। जाके जंगल में, पर्वत में, गुफाओं में एकांतवास करो। यह संन्यास का अर्थ था। ओशो ने बिल्कुल नया अर्थ दिया– नाट रीनन्सिएशन, बट सेलिब्रेशन। त्याग नहीं, उपलब्धि की भाषा में सोचो सकारात्मक रूप से हमें पाना क्या है? जीवन में एक पॉजिटिव टार्गेट होना चाहिए। निगेटिविटी कोई टार्गेट नहीं है कि मैं ये छोड़ दूं, वो छोड़ दूं। उस छोड़ने से कुछ हासिल तो नहीं होगा। समझो किसी व्यक्ति के पास में चमकदार कंकड पत्थर हैं और उनको बहुत मूल्यवान मानता है। छोटे बच्चे

अक्सर खेलते हैं नदी किनारे, सागर तट से सीप बीन लाते हैं, कंकड़–पत्थर उठा लाते हैं। उनके लिए तो वही हीरे–जवाहरात के समान हैं। अब कोई बुजुर्ग व्यक्ति उनसे कहे कि तुम कंकड़–पत्थर छोड़ो, बच्चे को कितना कष्ट होगा! वो तो छाती से लगाए है उसको। शर्ट और पैंट के जेब भरे हुए हैं पत्थरों से। वह तो बड़ा खुश होता है नदी के तट से कि आज मैं खूब धनवान होके आया हूं। बड़ी महंगी चीजें अपने साथ में लेके आया घर में सजाने के लिए। और हम उससे कहें कि ये कंकड़–पत्थर हटाओ।

अगर बुजुर्ग की बात सुनके वह कंकड़–पत्थर फेंक भी दे, तो बेचारा रातभर चैन से सो न पाएगा। सपने में वही कंकड़–पत्थर तैरते रहेंगे उसके मन में। यह त्याग नकारात्मक हुआ। नहीं, कंकड़–पत्थर त्यागने को न कहो, हीरे–जवाहरात पाने की बात करो। ज्यादा मूल्यवान की ओर संकेत करो। उपलब्धि की सकारात्मक भाषा बोलो। निश्चित रूप से यह बच्चा जिस दिन हीरे–मोती खोज लेगा उस दिन कंकड़–पत्थर स्वयं ही छोड़ देगा, कहने की भी जरूरत नहीं है। फिर यह त्याग नहीं कहलाएगा।

कोई व्यक्ति अपने घर पे झाड़ू–बुहारी लगा के कचरा–कूड़ा रोज फेंक देता है, क्या वह कहता है कि मैंने त्याग कर दिया। अखबारवालो, पत्रकारो, कहां हो? टी. वी. संवाददाताओ, आओ देखो फिर मैंने टोकरी भर कचरा फेंक दिया, मैं कितना महात्यागी हूं!

कोई ऐसा करेगा हम उसपर हंसेंगे। यह आदमी पागल है। कचरा–कूड़ा का कोई त्याग करता है क्या। कचरा–कूड़ा बस कचरा–कूड़ा है, पता चल गया, खुद छूट जाता है। फिर उसको कौन पकड़ेगा। ठीक ऐसे ही कंकड़–पत्थर जब पता चल जाएंगे कि निरर्थक हैं तो छूट जाएंगे। इसमें कहना क्या। और अगर कोई कहे कि मैंने छोड़ दिए, इसका मतलब अभी वह समझा नहीं हैं, अभी वह इसकी बड़ी कीमत आंक रहा है। तो जो साधु, संन्यासी, त्यागी, महात्मा गुणगान करते हैं कि मैने ये छोड़ा, मैने वो छोड़ा इसका मतलब कुछ छूटा नहीं हैं अभी, भीतर से पकड़ बाकी है। कीमत उसी में अटकी है, उसी को बहुमूल्य समझ रहे हैं।

सद्‌गुरु ओशो कहते हैं त्याग की बात ही छोड़ो तुम तो पाने की भाषा सीखो। तुम्हारे जीवन का पॉजिटिव लक्ष्य क्या है। आनंद पाना है, शांति पाना है, अपने भीतर का आलोक देखना है, अपने भीतर ओंकार का संगीत सुनना है, अपने भीतर के साक्षी चैतन्य को जगाना है। समथिंग पॉजिटिव– साधना का लक्ष्य हमेशा पॉजिटिव होना चाहिए। तुम्हें क्या होना है, क्या पाना है, कहां पहुंचना है, तुम्हारी आत्मा की क्या स्थिति हो, कैसे मुक्ति, शांति, प्रीति की भावदशा तुम्हारे भीतर बने।

छोड़ने का सवाल नहीं है। हां, कुछ चीजें छूटेंगी। मैं नहीं कह रहा हूं कि त्याग नहीं होगा लेकिन फिर उनके लिए हम त्याग शब्द का उपयोग नहीं करेंगे। जैसे कचरा–कूड़ा फेंकने को त्याग नहीं कहते। बस वह छूट जाता है। पता चला कि व्यर्थ है बात खतम हो गई। सार्थक को पाना सकारात्मक साधना है। व्यर्थ अपने आप छूट जाएगा। उसकी चर्चा करने की भी जरूरत नहीं। और जो लोग त्याग की चर्चा करते हैं उनकी चर्चा से ही स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक उनको सार्थक का एहसास नहीं हुआ।

मा मोक्षा– ओशो का एक कथन है कि संत त्यागी नहीं, महाभोगी है। इसका क्या तात्पर्य है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– बिल्कुल अभी–अभी हम जो बात कर रहे थे वही अर्थ हुआ।

संसारी तो बेचारा साधारण सुख–सुविधा ही भोग रहा है, कुछ खास नहीं। संन्यासी वह है, आध्यात्मिक व्यक्ति वह है जो महाभोग कर रहा है। जो परमात्मा के सच्चिदानंद को, सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को भोग रहा है। उससे बड़ा महाभोगी कौन होगा! परम शांति उसने पा ली, परम आनंद उसने पा लिया, अपने भीतर आत्मा में जो प्रतिष्ठित हो गया इससे बड़ा पद और कौन सा होगा! छोटे–मोटे पद को कोई क्या भोगेगा, उसमें तो तनाव ही तनाव है। लेकिन अपने जो साक्षी चैतन्य में स्थित हो गया निश्चित रूप से उसने विराट पदवी पा ली। संत उसे कहते हैं परमपद। तो वास्तव में संत महाभोगी हैं, परमभोगी हैं।

हिन्दुओं के पास एक अद्भुत ग्रंथ हैं विष्णु सहस्त्रनाम, जिसमें भगवान के एक हजार नाम हैं। उसमें एक नाम यह भी है– परमभोग। परमात्मा का एक नाम है परमभोग।

मा मोक्षा– एक और किताब है जिसमें अल्लाह के सौ नाम लिखे हैं। लेकिन ऐसा सुना गया कि निन्यानवे ही नाम हैं। तो उस एक छुपे हुए गुप्त नाम का क्या रहस्य है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– वास्तविक रहस्य तो शब्दों में कहा नहीं जा सकता। वह हमेशा ही छूट जाता है। जो निन्यानवे नाम हैं वास्तव में वे परमात्मा के गुण हैं। वे परमात्मा के नाम नहीं हैं। जैसे हम किसी व्यक्ति को कहते हैं ये उसका नाम है फलां–फलां और हम उसके गुणों का वर्णन करें कि वह सुन्दर है, वह लंबा है, वह बुद्धिमान हैं। तो उसकी लंबाई, उसका स्वास्थ, उसकी उमर ये उसका नाम नहीं हैं। उसकी बुद्धिमत्ता, उसका प्रेमपूर्ण होना, उसकी मुस्कुराहट, ये उसके नाम नहीं हैं। ये उसके लक्षण हैं, गुण हैं।

इसी प्रकार जो निन्यानवे नाम हैं वो परम तत्व के लक्षण हैं। हम कहते हैं कि वो रहमान है अर्थात् वह रहम, करूणा, कृपा करने वाला है। ये उसकी क्वालिटी हुई। रहमान उसका नाम नहीं है। ठीक इसी प्रकार अन्य सारे नाम हैं। सूफियों ने इस किताब में वास्तविक नाम छोड़ दिया गया है क्योंकि उसे हम अपने कंठ से उच्चारित नहीं कर सकते। हमारे शब्द, हमारी भाषा बड़ी संकीर्ण हैं। इन छोटे–छोटे शब्दों में वह विराट भला कैसे समाएगा। परमात्मा यानि सम्पूर्ण अस्तित्व और शब्द कितना छोटा सा है कुछ अक्षरों से बना। उसमें सम्पूर्ण अस्तित्व कैसे समाएगा? इसलिए सूफियों ने बड़ी हिम्मत की और एक नाम छोड ही दिया। कहते हैं कि अल्लाह के सौ नाम हैं लेकिन कुल निन्यानवे ही लिखे हैं।

सद्गुरु ओशो ने अपनी एक किताब का शीर्षक यही रखा– नाइनटी नाइन नेम्स ऑफ नथिंगनेस। उस महाशून्य को चाहो तो कहो परिपूर्ण, उसके निन्यानवे नाम, उसके गुण हैं। वह एक नाम कहा नहीं जा सकता। चीन के संत लाओत्से अपनी प्रसिद्ध किताब ताओ तेह किंग में कहते हैं कि सत्य अनाम है। लेकिन काम चलाऊ कुछ तो कहना होगा, चलो हम उसे ताओ कह के पुकारेंगे। यूं तो उसका कोई नाम नहीं हैं। ये बिल्कुल नया शब्द उन्होंने उपयोग किया– ताओ। एक नया शब्द गढ़ा ताकि तुम कोई पुराने भावार्थ उसमें न डाल सको।

गुरु नानक देवजी कहते हैं, एक ओंकार सतनाम। कहते हैं ओम् उसका सच्चा नाम है। उपनिषद् की ऋषियों ने भी ओम् की अत्यंत महत्ता गाई। यह वास्तव में नाम नहीं हैं। यह एक प्रकार की सूक्ष्म ध्वनि है जो शांत और सजग हो कर अपनी अन्तरात्मा में सुनी जाती है। जब परमात्मा का प्रथम अनुभव प्रायः संगीत रूप में होता है। तो आप चाहें तो उसी को

परमात्मा का सौवां नाम पुकार सकते हैं जो कि वास्तव में नाम नहीं हैं। क्योंकि इसे हम बोल नहीं सकते, लेकिन इसे हम सुन सकते हैं। इसलिए सूफियों ने इसको छोड़ दिया है सुनने के लिए। शब्दों में कहा नहीं हैं। कहने की नहीं, अकथनीय, किंतु सुनने की बात है।

मा मोक्षा– जीसस ने एक गुण बताया कि परमात्मा प्रेम है। लेकिन ओशो उसका उलटा कहते हैं कि प्रेम ही परमात्मा है। इसे क्या राज की बात है, समझाएंगे आप?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हां, थोड़ा सा इंफेसिस का फर्क है। जीसस क्राइस्ट कहते हैं गॉड इज लव। इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा के कई गुण हैं उसमें प्रेम भी एक गुण हैं। इस वक्तव्य का बैकग्राउंड भी समझना। ईसा मसीह के पहले प्रचलित था यहूदी धर्म जिसमें परमात्मा को बहुत कठोर और क्रूर कहा गया था। ईश्वर का वचन है पुरानी बाइबल में कि मैं बहुत कठोर अनुशासन वाला हूं। मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया तो अनंत काल तक नर्क में तुम्हें यातना दूंगा। आइ एम नाट योर अंकल, मैं तुम्हारा चाचा नहीं हूं।

ईसा मसीह ने ठीक विपरीत बात कही। कहा कि प्रभु हमारा पिता है। अगर कन्ट्रास्ट में ख्याल न हो तो समझ में नहीं आएगा कि जीसस की बात में कितनी बड़ी क्रांति हो गई। उनके पहले के शिक्षक कह रहे थे कि परमात्मा तुम्हारा चाचा नहीं लगता और ईसा मसीह कह रहे हैं कि वह हमारा परम पिता है, हम उसकी संतान हैं, हम उसके पुत्र हैं। सारी बात ही बदल गई। परमात्मा प्रेमस्वरूप है। तुम से कोई भूलचूक हो गई, कोई बात नहीं, क्षमा मांग लो। पिता क्षमा कर देगा अपने पुत्र को। वह दयानिधि है, करूणावान हैं।

ईसा मसीह के वचन में, गॉड इज लव में गॉड इम्पॉर्टेन्ट है, लव उसकी एक क्वालिटी है। ओशो कहते हैं लव इज गॉड। इस वक्तव्य में जोर बदल गया। यूं देखने में लगेगा कि वही बात है, लेकिन– लव इज मोर इम्पॉर्टेन्ट दैन गॉड। तुम ईश्वर को भूल जाओ तो चलेगा लेकिन प्रेमपूर्ण होना मत भूलना। यह ज्यादा महत्वपूर्ण है। प्रेम ही प्रभु है।

ईसा कह रहे हैं परमात्मा प्रेम है, ओशो कह रहे हैं प्रेम ही परमात्मा है।

प्रेम को हम साध सकते हैं, हम कुछ कर सकते हैं। परमात्मा प्रेम है इसमें हम क्या करें? हमारे लिए साधना का कोई द्वार नहीं खुलता। हमारे लिए कोई प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती कि हम क्या करें? ओशो जब कहते हैं प्रेम ही परमात्मा है तो वो कह रहे हैं तुम ज्यादा प्रेमपूर्ण बनो। और, और, और अधिक अपने प्रेम को शुद्ध करो। धीरे–धीरे यही प्रीति की भावना एक दिन पराभक्ति बन जाती है और ऐसा भक्त फिर भगवान को जान लेता है।

ओशो के वचन से परमात्मा तक पहुंचने की राह मिलती है। ओशो कहते हैं प्रेम है द्वार प्रभु का। हमारे लिए एक द्वार खुलता है। चलो हम छोटा–मोटा एक सामान्य प्रेम तो जानते ही हैं। इसको जरा और शुद्ध करें, निखारें। ईसा मसीह के वचन से राह नहीं खुलती। ईश्वर के बारे में तो पता चलता है कि वह प्रेमपूर्ण हैं। लेकिन हम क्या करें? ओशो हमारे लिए एक राह खोलते हैं, एक मार्ग देते हैं जीने की एक नई राह। ठीक है मोक्षा!

मोक्षा– जी गुरुदेव। दर्शक मित्रो, ओशो की प्रेमपूर्ण राह पर चलने के लिए आपको भी निमंत्रण है– प्रतिदिन होली–दीवाली मनाने के लिए, सतत उत्सवपूर्ण जीने के लिए। जय ओशो।

प्रार्थना : मांग नहीं, धन्यवाद

मा मोक्षा– आज ईमेल द्वारा एक मित्र ने पूछा है कि हमें प्रार्थना करनी चाहिए या नहीं? इस संदर्भ में ओशो का क्या मंतव्य है? समझाने की अनुकंपा कीजिए।

स्वामी शैलेन्द्र– प्रार्थना शब्द के दो अर्थ हैं। इसलिए मंतव्य भी दो अलग–अलग हैं। सामान्यतः प्रार्थना का अर्थ होता है– याचना, मांगना, किसी चीज के लिए गिड़गिड़ाना, रोना, भीख मांगना, यह सामान्य निगेटिव अर्थ है। ओशो इसके खिलाफ हैं। भगवान कोई व्यक्ति नहीं है, जो हमारी प्रार्थना सुनेगा, हमारी भाषा समझेगा। परमात्मा का अर्थ है– सम्पूर्ण अस्तित्व। वह हमारी भाषा नहीं समझता लेकिन हमारे भाव जरूर समझता है।

सद्गुरु ओशो ने प्रार्थना का एक पॉजिटिव अर्थ दिया है– धन्यवाद देना। प्रचलित से ठीक विपरीत तात्पर्य! परमात्मा ने इतना कुछ दिया है। अस्तित्व की कृपा की बरसात निरंतर हो रही है। क्षण–क्षण यह जीवन हमें कितना कुछ दे रहा है, उसके प्रति संवेदनशील बनो और तब तुम्हारे हृदय में धन्यवाद का भाव उत्पन्न होगा। तुम अनुग्रह से भर जाओगे। तुम्हारा जीवन उत्सवमय हो जाएगा। तुम फूल की तरह खिल जाओगे। नाचोगे, झूमोगे, गाओगे। तुम्हारी अहोभाव की दशा, सेन्स ऑफ ग्रेटिट्यूड ही असली प्रार्थना है।

इसीलिए मैंने कहा कि प्रार्थना शब्द के दो अर्थ हो गए हैं। एक है– परंपरागत अर्थ, जहां भिखारियों की तरह लोग मांग रहे हैं कि हे प्रभु, ऐसा कर दे! हे प्रभु, वैसा कर दे! और एक ओशो का प्यारा अर्थ है– जहां पर प्रभु ने इतना कुछ दिया है, हम उसके प्रति धन्यवाद भाव से भरें। हम अपनी खुशी व्यक्त करें। इसलिए दो बातें अलग–अलग हो गईं।

पुराने ढंग की प्रार्थना हेतु ओशो मना करते हैं। क्यों? क्योंकि उसमें एक प्रकार की नाराजगी छिपी है। वह व्यक्ति जो मांग रहा है प्रभु से, वह कह रहा है कि हे मालिक! तूने

जैसी दुनिया बनाई है यह ठीक नहीं है। मेरी सलाह ले, मैं बताता हूं कि कैसा होना चाहिए। तूने जो किया है, वह उचित नहीं हैं। यह है मेरी सलाहों की सूची, ऐसा–ऐसा कर, ऐसा होना चाहिए, वैसा नहीं होना चाहिए, तब जाकर ठीक होगा। इसका मतलब यह हुआ कि परमात्मा, मैं तुझसे ज्यादा समझदार हूं। तुझसे भूल–चूक हो गई है। अब अपनी भूलों को सुधारो। मैं बताता हूं कि क्या–क्या सुधार होना चाहिए।

यह कैसी आस्तिकता हुई? यह तो ईश्वर से एक प्रकार की नाराजगी है। इसमें कम्प्लेनिंग नेचर है, शिकायत का भाव बसा है। ऐसा व्यक्ति दुखी होगा, नाराज होगा, चिंतित होगा, परेशान होगा। इसके जीवन में शांति नहीं हो सकती, आनंद नहीं हो सकता। यह दुखियारे किस्म का व्यक्ति, जीवन से निराश, कह रहा है कि काश अगर जीवन ऐसा न होता, मेरी मर्जी के अनुसार होता तो ठीक होता। यह भगवान के ऊपर भी अपनी मालकियत चलाना चाह रहा है। यह तो ईश्वर को भी सलाह दे रहा है। यह तो उससे भी ज्यादा बुद्धिमान है। इसे आस्तिक कहेंगे कि नास्तिक कहेंगे?

सद्‌गुरु ओशो ने एक बिल्कुल ही नई दृष्टि हमें दी। उन्होंने कहा कि मांगने के लिए मंदिर मत जाना; जाना है तो धन्यवाद देने जाना। फिर मंदिर जाने की जरूरत भी क्या है? यह सम्पूर्ण जगत ही उसका निर्माण है, उसका मंदिर है। तो जहां हो, वहीं अहोभाव से भर जाओ। उसे देखो जो तुम्हें मिला हुआ है। सामान्यतः हमारी नजर अभावग्रस्त है। अभाव यानी जिसकी कमी है, उस कमी पर नजर अटकी हुई है। अतः हम शिकायत से भरते हैं कि ऐसा नहीं होना चाहिए, वैसा होना चाहिए। आस्तिक की नजर भाव पर आई। भाव मतलब जो है, डैट विच इग्जिस्ट्स। याद रखना, अस्ति या अस्तित्व शब्द का मतलब– जो है। नास्ति का मतलब– जो नहीं है। डैट विच डज नाट इग्जिस्ट। जिसकी 'भाव' पर नजर है, अस्तित्व पर दृष्टि है, वही सच्चा आस्तिक है। और जिसकी 'अभाव' पर नजर है वह नास्तिक है। इस दृष्टि से देखोगे तो मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजाघरों में, शिवालयों में प्रार्थना करने वाले लोग नास्तिक की कोटि में आएंगे। वे सच्चे आस्तिक नहीं हैं। उनकी नजर ही उन चीजों पर अटकी है जो उनको नहीं मिलीं। और इतना कुछ मिला है, वह उन्हें दिखता ही नहीं, वे उसके प्रति अंधे हैं।

सच्चे आस्तिक की नजर अस्तित्व पर है। कितना कुछ मिला है! और याद रखना, बिना मांगे मिला है। तुम कहीं मांगने गए थे ईश्वर के दफ्तर में कि मुझे पृथ्वी पर एक मनुष्य के रूप में जन्म दो? कहीं अर्जी लगाई थी तुमने? तुम्हारी परीक्षा हुई थी और उसके बाद सलेक्शन हुआ था कि ठीक है हिन्दुस्तान में तुम्हें भेज देते हैं? नहीं, बिना मांगे यह प्यारा जीवन मिला है। श्वास चल रही है, हृदय धड़क रहा है। क्या धन्यवाद भी न दोगे?

जिसकी नजर अस्तित्व पर पड़नी शुरू होगी, उसके हृदय में एक प्रकार की आह्लाद की सुगंध फैल जाएगी। वह तो नाच उठेगा, झूम उठेगा कि अस्तित्व ने कितना कुछ दिया है! हम और क्या कर सकते हैं इसके सिवाय कि अपनी खुशी व्यक्त करें। धन्यवाद शब्द तो

कोरा शब्द होगा, बड़ा छोटा और ओछा होगा, धन्यवाद कहना भी उचित नहीं। हम तो नाचें, गाएं, उत्सव मनाएं। क्षण-क्षण हमारी खुशी व्यक्त हो, यही सच्ची प्रार्थना होगी।

ओशो इस पॉजिटिव प्रार्थना के पक्ष में और शिकायत वाली प्रार्थना के विपक्ष में हैं।

वे एक नई धारणा देते हैं, एक नया विकल्प खोलते हैं; अहोभाव से भरी हुई प्रार्थना का। जहां झुकना है, अनुग्रह से भरना है। कितना अनूठा, कितना निराला है। हमारे कम्प्लेनिंग एटिट्यूड से शिफ्ट होकर हम उसके शुक्रगुजार हों, जो हमें मिला है।

मा मोक्षा– इस अनूठी दृष्टि के संदर्भ में एक अन्य प्रश्न है कि ओशो का सेवा, ध्यान और तपस्या के बारे में क्या मंतव्य है?

स्वामी शैलेन्द्र– भीतर के अहोभाव से, प्रेमभाव से, करुणाभाव से जो कर्म निकलेंगे, निश्चित रूप से वे सेवा वाले होंगे। लेकिन यह सेवा किसी अन्य चीज को पाने का सोपान नहीं बनेगी। सामान्यतः दुनिया में जो धार्मिक लोग सेवा करते दिखाई देते हैं, वे उस सेवा का भी उपयोग कर रहे हैं। वे जिसकी सेवा कर रहे हैं, उसका शोषण कर रहे हैं, अपना कुछ लक्ष्य हासिल करने के लिए। कोई सोचता है कि सेवा करने से स्वर्ग मिलेगा। उसके जीवन में स्वर्ग महत्वपूर्ण है। सेवा उसका साधन है, उसका साध्य तो स्वर्ग है। सेवा करके वह स्वर्ग जाने की अपनी टिकिट बुकिंग करा रहा है। जिसकी वह सेवा कर रहा है, उसके प्रति प्रेमभाव नहीं है। वह तो चाहेगा कि हमेशा इसको सेवा की जरूरत पड़े, वरना फिर मैं स्वर्ग कैसे जाऊंगा? यही तो मेरी सीढ़ी है। सीढ़ी तो वहीं रहनी चाहिए जहां है। यह हमेशा दयनीय हालत में हो। इसको हमेशा सहयोग की, सहारे की जरूरत हो ताकि हम स्वर्ग जा सकें। इसके मन में उसके प्रति करुणाभाव नहीं है। इसका अपना लक्ष्य अलग ही है। यह तो दूसरों के कंधों पे चढ़कर अपने स्वर्ग का रास्ता तय कर रहा है। ऐसी सेवा, सेवा नहीं है, यह तो एक प्रकार का शोषण है। निश्चितरूपेण ओशो इसके सख्त खिलाफ हैं।

हमारे देश में जून, जुलाई, अगस्त और सितंबर; गर्मी और बरसात के महीने होते हैं; इनमें कई तरह के इन्फेक्शन फैलते हैं। डॉक्टर लोगों की खुशी देखो; वे कहते हैं कि आजकल सीजन बहुत अच्छा चल रहा है। सामान्यतः हम समझते हैं कि चिकित्सक लोगों की सेवा कर रहे हैं। समाज सेवी हैं। स्वास्थ की सेवा में संलग्न हैं।

दिसम्बर-जनवरी में डॉक्टरों की क्लिनिक में भीड़ कम हो जाती है। ठंड के मौसम में बीमारी कम हो जाती है। इन्फेक्शन, कीट-पतंगें कम होते हैं, मक्खी-मच्छर कम हो जाते हैं और डॉक्टर उदास हो जाते हैं। इनकी अन्तर्आत्मा क्या चाहती है– लोग बीमार पड़ते रहें।

ऊपर से ऐसा लगता है कि बीमारी से लड़ रहे हैं, लोगों को ठीक कर रहे हैं। लेकिन भीतर-भीतर ये चाहते क्या हैं? इनकी रोजी-रोटी ही बीमारियों पर खड़ी है। बैक्टीरिया, वाइरस ही इनकी आजीविका चला रहे हैं। बड़ी कॉन्ट्राडिक्ट्री बात है। ऊपर से ऐसा लगता है कि स्वास्थ की सेवा में संलग्न हैं, हम इनको स्वास्थ्य कर्मचारी कहते हैं, स्वास्थ्य सेवक

कहते हैं लेकिन भीतर–भीतर से इनके प्राण चाहते हैं कि लोग बीमार होते रहें।

पुलिस, वकील, न्यायाधीश ऊपर–ऊपर से लगते हैं कि न्याय के सेवक हैं, सुरक्षा व्यवस्था बनाने में लगे हुए हैं और भीतर–भीतर से उनके प्राणों की चाहत है कि अन्याय होता रहे, अपराध होते रहें। वरना उनकी रोजी–रोटी कैसे चलेगी? अगर सबकुछ न्यायपूर्ण हो जाये और अपराधी अपने दुष्कर्म छोड़ दें, परिवर्तित हो जाएं सब। तब? सरकार पुलिस वालों से कहेगी– नौकरी खत्म, तुम जाकर खेती–बाड़ी करो। कुछ दूसरा काम करो, मजदूरी करो। कोई अपराध हो ही नहीं रहा, पुलिस का कोई काम ही नहीं बचा।

हाईकोर्ट की बड़ी–बड़ी बिल्डिंगें हैं, उनको परिवर्तित कर दिया जाएगा, कॉलेज बना दो, क्लब बना दो। यहां कुछ और बना दो। कोर्ट में कोई आता ही नहीं। क्या होगा सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश का, बड़े बड़े जजों का। उनकी सारी इज्जत, मान, प्रतिष्ठा अपराधियों पर निर्भर है। बड़ी विचित्र बात है। ऊपर से दिखता है कि न्याय की सेवा में संलग्न हैं लेकिन भीतर से उनकी चाहत है कि अन्याय व अपराध होते रहें। इसी से उनकी प्रतिष्ठाएं हैं, इज्जत है, रोजी–रोटी, आजीविका है।

ठीक इसी प्रकार से धार्मिक लोगों की सेवा को समझना। सद्‌गुरु ओशो के प्रवचन में एक बड़ी मजेदार कहानी आती है, वह मैं आपको सुनाऊं–

कहीं एक सर्वधर्म सम्मेलन होने वाला था और दुनिया के सारे धार्मिक लोग, बड़े–बड़े धर्मगुरु, पंडित, पुरोहित, पादरी उस मेले में आकर प्रवचन देने वाले थे। जिस सड़क से राहगीर गुजर रहे थे, उसके किनारे एक कुआं था। कुएं में एक आदमी गिर गया। भीतर से चिल्ला रहा है कि मुझे बचाओ, निकालो। मेले में जाने वाले लोग वहां से गुजर रहे हैं, उसकी उपेक्षा करके जा रहे हैं। एक जैन मुनि वहां से गुजरा। उस आदमी ने कहा कि अरे मुनि जी सेवा करिए, मुझे बाहर निकालिए। मुनि ने कहा, तुमको जैन सिद्धांतों व शास्त्रों का ज्ञान है कि नहीं? नासमझ। हम किसी दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते। क्योंकि कर्म का सिद्धांत कहता है कि अगर हमने उदाहरण के लिए तुमको बचा लिया और बाद में तुमने कुछ गलत काम किया, किसी की हत्या कर दी, या बलात्कार कर दिया, कि चोरी की तो उस कर्म के जिम्मेवार फिर हम भी हो गए। न हम तुम्हें बचाते और न तुम वह गलत कार्य कर पाते; इसलिए हम तुम्हारे पापों के भी हिस्सेदार हो जाएंगे। और चूंकि हम तो अपने मोक्ष को जा रहे हैं, हम तो मुक्ति की राह पकड़ लिए हैं, हम कर्म–बंधन में बंधना नहीं चाहते, इसलिए हम तुमको कुएं से बाहर नहीं निकालेंगे। वह मुनि वहां से चला गया।

एक हिन्दू संन्यासी वहां से गुजरा। वह आदमी फिर चिल्लाया– आप तो संन्यासी हो। अरे, कुछ दया करो, मुझे बाहर निकालो। संन्यासी ने कहा कि देखते नहीं कि मैं आदि शंकराचार्य का शिष्य हूं और हमारे गुरु कह गए हैं 'जगत माया है'। अरे, क्या ऊपर की धरती, क्या जमीन, क्या गड्ढा, क्या कुआं, क्या पानी; सब बराबर है, माया है, स्वप्नवत है।

जीकर भी क्या करोगे इस मायावी संसार में? अच्छा है माया से मुक्त हो रहे हो।

संन्यासी भी उपदेश देकर चला गया।

वह आदमी बड़ा हैरान हुआ कि लोग अपने-अपने सिद्धांत बताते जा रहे हैं। मेरी कोई मदद ही नहीं कर रहा है। इसी प्रकार कहानी चलती जाती है आगे। एक कन्फ्यूशियस का शिष्य वहां से गुजरा। बोला- अच्छा, तुम यहां नीचे गिर गए। यहीं तो हमारे गुरु ढाई हजार साल पहले अपने धर्मग्रंथ में लिख गए हैं कि हर कुएं पर पाट होनी चाहिए। अब देखो इस कुएं पर सरकार ने पाट नहीं बनाई है। मैं अभी जाता हूं सर्वधर्म सम्मेलन मेले में और एक आन्दोलन खड़ा करूंगा। और कहूंगा कि जैसा कन्फ्यूशियस ने किताब में लिखा है, हर कुएं पर पाट होनी चाहिए। सरकार और प्रशासन पर दवाब डालूंगा, आन्दोलन करूंगा, हड़ताल करूंगा कि कुंओं पर पाट बनवाई जाये ताकि भविष्य में इंसान या पशु गिर न सके।

डूबते आदमी ने कहा- कब पाटें बनेंगी? कब होगा तुम्हारा आन्दोलन? मुझे बचाओ।

उत्तर मिला कि एक व्यक्ति का सवाल नहीं है, पूरी मनुष्य जाति का सवाल है। मैं जा रहा हूं मेले में। तुम देखना भूख-हड़ताल करके मैं हर कुएं पर पाट बनवा के ही रहूंगा ताकि तुम्हारी आने वाली पीढ़ियां कुएं में न गिरें। ऐसा कहते हुए वह समाजसेवी चला गया। उसने राजनैतिक आन्दोलन छेड़ दिया मेले में जाकर। भारी हंगामा मचाकर टीवी न्यूज में आ गया।

डूबता आदमी बेचारा चीख रहा, चिल्ला रहा है, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ। इसी तरह लंबी कहानी आगे चलती है। सभी धर्मगुरु वहां से गुजरते हैं और कोई उसे नहीं बचाता। अंत में एक ईसाई मिशनरी वहां से गुजरता है। उसने फटाफट अपना सूटकेस खोला। सूटकेस में कई सामान रखे हुए थे बचाने के। उसने रस्सी निकाली। उस आदमी को कहा कि रस्सी पकड़ो, मैं तुम्हें बाहर निकालता हूं।

उस आदमी ने कहा कि आपका बहुत-बहुत धन्यवाद। मनुष्य जाति के आप ही सच्चे सेवक हो। इतने धर्मगुरु यहां से गुजरे लेकिन किसी ने मुझे नहीं बचाया। आपके दिल में ही सच्ची करुणा है। ईसाई मिशनरी बोला- क्षमा करिए, करुणा वगैरह नहीं है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि सेवा से स्वर्ग मिलता है। हम तो तलाश में ही रहते हैं कि कहां सेवा करने का मौका मिल जाय। धन्यवाद हम आपका देते हैं। आपने हमारी स्वर्ग की टिकट कन्फर्म करा दी। अपने परिवार वालों को भी सलाह दीजिए कि इसी प्रकार कुएं में गिरते रहें ताकि हमारी आगे आने वाली पीढ़ियां स्वर्ग जाती रहें। मैं उस कन्फ्यूशियस के शिष्य का सख्त विरोधी हूं, जो कह रहा है कि हर जगह पाट बन जाएं। तब तो लोग कुएं में गिरेंगे ही नहीं। वे मुसीबत में नहीं फसेंगे तो हम मदद कैसे करेंगे। और मदद नहीं करेंगे तो स्वर्ग कैसे मिलेगा?

अब समझें, सेवा शब्द के भी दो अर्थ हैं। जैसे हमने कहा कि प्रार्थना के दो अर्थ हैं। एक सेवा है- जिसमें हम दूसरे की दयनीय स्थिति का शोषण कर रहे हैं, अपने किसी और लक्ष्य को हासिल करने के लिए। और एक सेवा हुई सहज प्रेम से उत्पन्न। जो व्यक्ति ध्यानस्थ होगा,

समाधिस्थ होगा, जिसके हृदय का विकास होगा, भक्त बनेगा, जो भीतर शांत बनेगा वही सच्चे अर्थों में संत बनेगा। तब वह जो भी करेगा, वही सेवा होगी।

ओशो ने संत कबीर के इस बचन को बहुत अच्छे ढंग से समझाया है– जहं जहं डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा। कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खावं पियौं सो पूजा। ऊठत बैठत कबहुं न छूटै, ऐसी तारी लागी। साधो सहज समाधि भली।

सद्गुरु की एक प्रसिद्ध किताब है– 'सहज समाधि भली'– कबीर के इसी वचन पर आधारित शीर्षक है। कबीर कहते हैं कि अब तो जो भी मैं करता हूं, वह सब कुछ सेवा स्वरूप ही है। ऐसी सेवा करने योग्य है। ओशो इसके पक्ष में हैं। लेकिन दूसरी सेवा, जिसमें शोषण है, वह सच में सेवा ही नहीं है। वह तो दूसरे का उपयोग हुआ। ओशो उसके विपक्ष में है। काश, दुनिया में ऐसी स्थिति आए कि किसी को सेवा की जरूरत न पड़े।

मा मोक्षा– बाहरी रूप से तो नहीं डिसाइड कर सकते कि यह वास्तविक सेवा है या शोषण की व्यवस्था। क्या भीतर से जान सकते हैं कि हम किस राह पर चल रहे हैं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हां, भीतर तो हमको पता ही है कि हम किसलिए कर रहे हैं, हमारा मकसद क्या है? अपने स्वार्थवश कर रहे हैं या वास्तव में परहित के लिए कर रहे हैं। एक में करुणा की भावना है, एक में शोषण की भावना है। और उस व्यक्ति को अपने भीतर तो बिल्कुल स्पष्ट ही होता है कि मैं ऐसा क्यों कर रहा हूं। डॉक्टर से पूछें कि मरीज तुम्हें फीस न दें तो तुम इलाज करोगे? क्या तब ऑप्रेशन करोगे? तब वो नहीं करेगा। स्पष्ट है कि वह किसलिए कर रहा है, धन कमाने के लिए। उसको मरीज से कोई मतलब नहीं है और उस डॉक्टर को पता चल जाये कि दूसरे किसी व्यवसाय में, कि शेयर खरीदने से ज्यादा प्रौफिट है तो अस्पताल चलाने के बजाय वह अपने अस्पताल की बिल्डिंग को बेचकर शेयर में सारा पैसा लगा देगा। उसको तो पैसा कमाने से मतलब है।

कल ही मेरी एक सज्जन से मुलाकात हुई। वह कनाडा में काम कर रहे हैं। यहां से इंजीनियरिंग पढ़कर गए थे। वहां जाकर उन्होंने देखा कि एकाउटैंसी के काम में ज्यादा पैसे मिलते हैं तो उन्होंने इंजीनियरिंग छोड़ दी और एकाउटैंसी करने लगे। एकाउटैंसी या इंजीनियरिंग महत्वपूर्ण नहीं है, ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाना महत्वपूर्ण हैं। इसलिए सेवक को दिखाई देता है, उसको तो पक्का पता है। ऊपर से हो सकता है दूसरा न पहचान पाए लेकिन उसकी अन्तर्आत्मा तो जानती है कि मैं ऐसा क्यों कर रहा हूं।

मा मोक्षा– अंत में सभी मित्रों को साधना हेतु आमंत्रण देती हूं। अपने जीवन को वास्तविक प्रार्थना व सेवा की राह पर अग्रसर करें। नकली सिक्कों से सावधान। झूठ बाहरी मुखोटे होते हैं। असली संपदा को खोजें। वह स्वयं के भीतर से आती है।

बहुत–बहुत धन्यवाद। जय ओशो।

वास्तविक दान और तपस्या

मा मोक्षा– प्रार्थना व सेवा पर हुई पिछली चर्चा के संदर्भ में आज एक प्रश्न आया है– वास्तविक दान व तपस्या पर सदगुरु ओशो का नजरिया समझाने की कृपा करें।

स्वामी शैलेन्द्र जी– दोनों शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं, विशेषकर आध्यात्मिक साधना में। ओशो ने तपस्या का अर्थ बहुत सुंदर ढंग से बताया है। पतंजलि के योग सूत्र पर उन्होंने सौ प्रवचन दिए हैं। जहां 'तप' शब्द आता है, वहां पर सद्‌गुरु ने कहा है कि जीवन को सहज ढंग से, अपने अंतःकरण से, सरल होकर जीना। सरलतापूर्वक जीने से निश्चित ही तुम्हारे आसपास के लोगों द्वारा, समाज द्वारा, भीड़ द्वारा कुछ दुख तुम्हें दिए जाएंगे। उन दुखों को भी प्रेमभाव से स्वीकार कर लेना। यही तप है।

तपस्या का पुराना अर्थ है– जान बूझकर कष्टों को आमंत्रित करना। तुम्हें गर्मी लग रही है, और मई–जून का महीने में धूप में खड़े पसीना–पसीना हो रहे हो। या तुम्हें भूख लगी है, भूखे हो और तय कर लिया कि तुम उपवास करोगे, खाना नहीं, पानी नहीं लोगे। इसको तपस्या कहा जाता है। तुम्हारा मन था सुख–सुविधा पूर्वक अपने घर में रहने के लिए और तुम जंगल जाकर पर्वत की गुफा में रह रहे हो। उसको तपस्या माना जाएगा, कोई व्यक्ति एक पैर पर खड़ा है, या कोई व्यक्ति लकड़ी का सहारा लेकर खड़ा ही हुआ है दस साल से। अपने आपको भांति–भांति के कष्ट दे रहा है।

दुनिया में भांति–भांति की तपस्याएं प्रचलित रहीं। लेकिन उनका सार–संक्षेप क्या है? स्वयं को कष्ट देना। यह जो अपने आपको सताना है, यह एक प्रकार की आत्महिंसा है, एक प्रकार का मनोरोग। यह तो एक प्रकार की मानसिक विकृति है। कोई व्यक्ति दूसरे को दुख दे तो हम उसको अपराधी कहते हैं। जो व्यक्ति खुद को दुख दे, वह अपराधी नहीं है?

याद रखना, शरीर तो सभी पराये हैं। आत्मा के लिए दूसरे का शरीर जितना दूसरा है, उतना ही अपना शरीर भी दूसरा ही है। तो हमने किसको कष्ट दिया, अन्य को या स्वयं को; कष्ट तो कष्ट ही है, हिंसा तो हिंसा ही है। चाहे वह परहिंसा हो, चाहे वह आत्महिंसा हो। सेल्फ टार्चर या अदर टार्चर– इससे क्या फर्क पड़ता है। ऐसी तपस्या को अपराध की कैटागरी में गिनना चाहिए।

ओशो के अनुसार तपस्या यह है कि जीवन में सहज रूप से जो दुख आते हैं, कुछ पीड़ाएं, कष्ट, संताप आते हैं– घटनाओं के रूप में, तन–मन या भाव तल पर, लोगों के

साथ जो हमारे संबंध हैं उनके द्वारा मिले कष्टों को सहज रूप से स्वीकार लेना। यह भी जीवन का हिस्सा है। यह शरीर है तो बीमारी भी आएगी। बीमारी का इलाज जरूर कराना। लेकिन जो कष्ट इस बीच में भोगने पड़ेंगे, उनको स्वीकार भाव से भोग लेना। कभी मन के कुछ अनुकूल होगा, कभी-कभार प्रतिकूल होगा। संबंधों में कितना ही प्रेम हो, लगाव हो, कभी न कभी कुछ कटुतापूर्ण होगा। स्वीकार लेना। जो व्यक्ति तुम्हें प्यार करता है, कभी क्रोध में कटु वचन भी बोलेगा। स्वीकार लेना। इस जीवन रूपी पौधे में जहां फूल हैं, वहां कांटे भी हैं। कांटों को भी स्वीकारना। ओशो की दृष्टि में यही है तपस्या- जीवन को सहजता से स्वीकारना। गुलाब के पौधे को चाहने वाला व्यक्ति, केवल फूलों को ही पसंद नहीं करता, कांटों को भी अंगीकार करता है। कांटे भी पौधों के अनिवार्य हिस्से हैं।

जीवन के अनेक आयामों में कुछ हमारे मन के अनुकूल हैं, कुछ प्रतिकूल हैं। अतः दुखों को आमंत्रित नहीं करना है कि आ बैल मुझे मार। दुख अपने आप आ ही रहे हैं। वे जीवन के अंग हैं। उन्हें सहजता से स्वीकारना, यह 'तप' का सार है। दिन आया है तो रात भी आती है, गर्मी आई है तो ठंड भी आती है, सहज है। इसे स्वीकार कर लो प्रेम भाव से। ओशो की दृष्टि में इसी का नाम तपस्या है।

दूसरे शब्दों में सहजता से सरल होकर जियो। जीवन के सारे आयामों को स्वीकारो। इसमें हिंसावादी दृष्टि नहीं है, स्वयं को कष्ट नहीं देना है। हां, जो कष्ट आ रहे हैं उनको शांतिपूर्वक स्वीकार कर लेना है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम उससे बाहर निकलने का प्रयास नहीं करेंगे। हम प्रयास करेंगे लेकिन जरूरी नहीं कि हमारा प्रयास हमेशा सफल हो। विफलता के प्रति भी स्वीकार भाव, ओशो के नजरिये में तपस्या है।

मा मोक्षा- दान के बारे में ओशो का क्या मंतव्य है?

स्वामी शैलेन्द्र जी- दान के भी दो भिन्न-भिन्न अर्थ समझ लें। एक तो पारंपरिक अर्थ है कि किसी को कुछ देना। कोई मंदिर बनवा रहा है, धर्मशाला खुलवा रहा है; स्कूल, अस्पताल बनवा दिया या कुछ अन्य सामाजिक कार्य करवा रहा है। उसे हम कहते हैं दानी। पहले धन कमाओ और फिर धन का समाज सेवा में उपयोग करो। सामान्य अर्थ में ऐसा व्यक्ति दानी है। ऐसे व्यक्ति को समाज निश्चित रूप से सम्मानित करता है। क्योंकि समाज का लाभ है इसमें। समाज उस व्यक्ति को इज्जत और प्रतिष्ठा देकर उसका शोषण कर रहा है- दान करवाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। इज्जत-प्रतिष्ठा मिलेगी तब वह दान करने को तैयार होगा।

सद्‌गुरु के प्रवचन में एक कहानी आती है कि किसी मंदिर का निर्माण हो रहा था। बहुत सारे मजदूर काम कर रहे थे। नींव खोदी जा रही थी। ईटों और पत्थरों का ढेर लगा हुआ था। संगमरमर के ट्रक खाली हो रहे थे। एक अजनबी आदमी वहां से गुजर रहा था। उसने किसी मजदूर से पूछा कि यहां क्या काम चल रहा है?

उत्तर मिला कि मंदिर का निर्माण हो रहा है।

अजनबी आदमी ने यह जानने के लिए कि किस इष्ट देवता की, किस ईश्वर की उपासना के लिए- राम का, कृष्ण का, शिव का, हनुमान का, किसका मंदिर है ऐसा पूछने

के लिए उसने सवाल किया था। उसका भावार्थ था कि किस देवता के लिए, किस भगवान के लिए। लेकिन उस मजदूर ने जब सुना कि किसके लिए मंदिर बन रहा है तो उसने कहा चलिए, मैं आपको बताता हूं कि किसके लिए बन रहा है? उस अजनबी का हाथ पकड़कर ले गया दूर जहां एक संगमरमर के पत्थर पर स्वर्ण अक्षरों में लिखा था कि फलां–फलां सेठ के द्वारा प्रदत्त दान की गई इतनी राशि के द्वारा यह मंदिर बन रहा है।

मजदूर ने कहा कि इस पत्थर को लगाने के लिए पूरे भवन का निर्माण हो रहा है। मुख्य चीज यह पत्थर है, जिसमें दानी की प्रशंसा लिखी हुई है। अब इसी के खातिर बाकी भवन बनेगा। उस भवन में भगवान भी प्रतिष्ठित किए जाएंगे, उनकी पूजा भी होगी। लेकिन वे भगवान भी इस पत्थर की सेवा में हैं। ईश्वर या मंदिर महत्वपूर्ण नहीं हैं।

अधिकांश लोग जो दान करते हैं, उनके ऊपर यही कहानी लागू होती है।

लेकिन एक दान और है। उसमें है देने का भाव कि मेरे पास बहुत है और मैं उसको बांटूं। बांटने में खुशी है, उमंग है, उत्साह है, आनंद है। सवाल यह नहीं है कि किसी को पता चले कि इससे मुझे प्रतिष्ठा और सम्मान मिले, अखबारों में मेरी फोटो छपे, टी. वी. के लिए संवाददाता मेरे पास आएं साक्षात्कार लेने कि आपने बहुत बड़ा दान किया, बहुत उपकार किया है। नहीं, वह दान ऐसा नहीं होगा। वह दान अपने भीतर के आनंद को शेयर करने के लिए होगा। ओशो कहते हैं कि जब तुम्हारे भीतर शांति का, आनंद का फूल खिलता है तो उसकी सुवास चारों तरफ फैलती है। वह सुवास फूल का दान है। वह जान–बूझकर नहीं दे रहा है कि कोई प्रतिष्ठा मिलेगी, इज्जत होगी, कि कोई कवि यहां से गुजरेगा और वो उस फूल के ऊपर कविता लिखेगा कि इसकी कितनी अच्छी सुगंध है। तो यह दान बिल्कुल भिन्न हो गया। यह बड़ा सहज–स्वाभाविक हुआ।

हम यह नहीं कहते हैं कि फूल ने सुगंध का दान दिया है या कुंआ पानी का दान करता है, कि नदी पानी देती है, कि वृक्ष फलों का दान करता है। वृक्ष को तो पता भी नहीं है कि मैं दानी हूं। यह बिल्कुल सहज है कि उस वृक्ष में फल लगते हैं और मनुष्यों को, पशु–पक्षियों को मिलते हैं। यह बिल्कुल सहज है कि नदी में पानी प्रवाहित हो रहा है और बहुत प्यासों के कंठों की प्यास बुझाता है। नदी को तो पता भी नहीं चलता कि मैने कुछ विशेष किया, न वृक्ष को पता चलता है। यह एक अलग प्रकार का दान हुआ, बड़ा सहज!

तपस्या और दान को ओशो ने सहजता से जोड़ा है। पुराने ग्रंथों में भी गुप्त दान का बड़ा महत्व कहा गया है। गुप्त दान का अर्थ है, जिसमें देने वाले का पता ही न चले। लेने वाले को मिल जाए, देने वाले को पता न चले।

लेकिन जिस प्रकार सेवा शोषण का साधन बन गई, उसी प्रकार दान भी बन गया है। पंडित, पुरोहितों ने, पादरियों ने दान की खूब महिमा गाई है। उनका लाभ इसी में था कि वे अहंकारियों को फुसला सकें। तो उन्होंने कहा कि दान देने वाले को स्वर्ग मिलता है। जगह–जगह बोर्ड लगे हुए हैं– दान ही धर्म है। मजे की बात है अगर दान पुण्य है तो इसके पीछे पाप करना अनिवार्य है। यह शायद लोगों ने सोचा नहीं। अगर किसी पुण्य को करने के लिए पहले पाप करना अनिवार्य हो, क्या वह पुण्य, पुण्य कहलाएगा? कोई व्यक्ति धन

का दान कर रहा है, यह धन आया कहां से? क्या वह व्यक्ति पैदाइशी अपने संग लेकर आया था? क्रेडिट कार्ड लेकर आया था? नहीं, जन्म के साथ तो वह नंग–धड़ंग पैदा हुआ था, एक पैसा उसके पास न था, कपड़े–लत्ते भी न थे। जो कुछ भी उसने कमाया है, दुनिया में आकर कमाया है। इस संसार में धन–संग्रह तो शोषण के द्वारा ही होता है।

जिनको हम महादानी कह रहे हैं, जिन्होंने लाखों–करोड़ों दान कर दिया; पहले यह तो पूछो कि वह सब आया कहां से है? इसी दुनिया का शोषण करके तो उन्होंने धन कमाया था। फिर दान दिया। बड़े मजे की बात है कि इसी पैसे के द्वारा उन्होंने अपनी सुख–सुविधाओं का सामान खरीदा था और अब उन्होंने धर्म भी खरीद लिया। अब मंदिर बनवा कर उन्होंने अपनी स्वर्ग की टिकट बुक करा ली। इसका मतलब स्वर्ग भी बिकाऊ है। केवल अमीर आदमी पहुंच सकता है क्योंकि अमीर ही दान कर सकता है। गरीब आदमी बेचारा कैसे दान करेगा? उसके पास खुद ही नहीं है। वह तो स्वर्ग जा ही नहीं सकता।

अगर दान ही धर्म है, तब तो केवल अमीर ही धर्म कर सकते हैं, धनी ही धर्मात्मा हो सकते हैं। क्योंकि वे ही छोड़ सकते, त्याग कर सकते, दान दे सकते हैं। इस प्रकार का त्याग या दान तो वास्तविक दान नहीं है। दान तो ऐसा होना चाहिए कि सभी कर सकें।

जब हृदय में प्रेम, करुणा, मंगल भावना का विकास होता है, उसके संग–साथ देने का वैसा सहज भाव उत्पन्न होता है; जैसे नदी जल देती है, वृक्ष फल देता है, हवाएं श्वास देती हैं। क्या वायुमंडल ने आकर कभी घोषणा की कि देखो मैने कितनी श्वास तुमको दी? वायुमंडल को पता भी नहीं है। न हमें ऐसा लगता है कि हम लेने वाले हैं कि अरे कितनी ऑक्सीजन खींच ली, बेचारे वायुमंडल तो परेशान हो गया होगा, इतनी हवा हमने ले ली।

न लेने वाले को, न देने वाले को पता चलता। कहीं अहंकार नहीं, किसी का शोषण नहीं है और फिर भी दिया जा रहा है और लिया जा रहा है। ऐसा दान ही वास्तविक दान है। सद्‌गुरु ओशो ऐसे दान के पक्ष में हैं, जो बहुत सहज, नैसर्गिक, प्रेमजन्य हो। जिसमें हिंसा न हो, जिसमें शोषण न हो। गृहण करने वाले को हीनता ग्रंथि से भरना भी हिंसा है।

मा मोक्षा– आपने दान, सेवा, तपस्या का असली भावार्थ समझाया। कृपया उपवास के बारे में भी कुछ बताइए?

स्वामी शैलेन्द्र जी– उपवास के भी दो अर्थ हैं– एक तो हुआ अनशन, भूखा रहना, अपने आपको कष्ट देना। इसमें कोई धार्मिकता नहीं है और न साधना का कोई संबंध है। किसी गरीब आदमी के पास भोजन की कमी है, क्या वह भूखे रहने से धार्मिक हो गया? नहीं, भूखा तो वह वह इसलिए है कि दरिद्र है, कष्ट में है। कोई व्यक्ति जान–बूझकर भूखे हैं इससे कैसे धर्म का कोई नाता जुड़ सकता है?

लेकिन दूसरे प्रकार का उपवास भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ सद्‌गुरु ओशो ने उजागर किया– वास का मतलब होता हैः निवास। उप का मतलब होता हैः निकट। उपवास का अर्थ हुआ निकट में निवास। अपने स्वयं के पास होना। वह तो ध्यानस्थ, समाधिस्थ हो जाने का नाम हुआ। जो व्यक्ति ध्यान में प्रतिष्ठित है, अपने साक्षी, चैतन्य में रम रहा है; वह उपवास में है। क्यों यह नाम पड़ा? क्योंकि ऐसे बहुत से संत हुए, जिन्हें गहरे ध्यान में डूबने

पर भूख–प्यास का उन्हें पता ही नहीं चलता था। क्योंकि भूख–प्यास तो लगती है शरीर को और वे अपने चैतन्य में, साक्षी में रमे हैं। भूख का एहसास ही नहीं हुआ, भोजन करना भूल गए उस परमानंद की दशा में। बाहर से लोगों ने देखा कि अरे, ये तो भूखे–प्यासे रह जाते हैं! महर्षि रमण के जीवन में उल्लेख आता है कि कई–कई दिनों तक उन्होंने भोजन नहीं किया। एक बार तो लगभग तीन महीने तक भोजन–पानी नहीं लिया। परम आनंद की समाधि अवस्था में लीन रहे।

रामकृष्ण परमहंस कई बार समाधिस्थ हो जाते थे और एक–एक हफ्ते तक खाने–पीने की सुध नहीं रहती थीं। यह दूसरे ढंग का, पॉजिटिव उपवास है। परमात्मा के निकट स्थित हैं; इसीलिए देह का पता नहीं चल रहा, शरीर काफी दूर रह गया, भूख–प्यास का कोई एहसास ही नहीं है। यह सच्चा, असली उपवास हुआ। जो भीतरी परमानंद में लीन हैं, उनको उस वजह से भूख की याद नहीं आई।

नकली उपवास में आत्मा या आनंद का कुछ पता नहीं, ध्यान–समाधि का कुछ ज्ञान नहीं, बस जान–बूझकर शरीर को कष्ट दे रहे हैं। इस में कोई सार्थकता नहीं है। ये तो व्यर्थ अपने शरीर को नुकसान पहुंचाने वाला एक प्रकार का हिंसक व्यक्ति है। यह आदमी प्रेमपूर्ण नहीं है, यह दुष्ट किस्म का है। उसको धार्मिक कहना तो बिल्कुल गलत है। यह तो सज्जन भी नहीं है और अपने प्रति दुष्ट व्यवहार करता है। यह आत्महिंसा में लीन है। इस प्रकार के उपवास का कोई आध्यात्मिक अर्थ नहीं है।

इस तरह उपवास दो प्रकार के हो गए। उनका हम भाव ही बदल दें। एक हुआ हिंसात्मक, उसको अनशन कहना ठीक है और दूसरा है परमानंद भाव में लीन होने से शरीर की सुध–बुध नहीं रही, भूख–प्यास का पता न चला। उसमें कोई जान–बूझकर भूखा नहीं रह रहा है। क्योंकि उसे पता ही नहीं चल रहा है। क्योंकि वह प्रभु के निकट उन क्षणों में वास कर रहा है। तो दोनों बातें अलग हो गईं। सद्गुरु पहले वाले अनशन के विरोध में हैं और दूसरे वाले अर्थात् 'परमात्मा के निकट वास' वाले के पक्ष में हैं।

मा मोक्षा– गुरुदेव, इस चर्चा को आज हम यहीं विराम देते हैं। ऐसे बहुत से बिंदु और हैं जिनके संबंध में सदगुरु ओशो की क्रांतिकारी जीवन दृष्टि आगे समझेंगे। आपका बहुत–बहुत शुक्रिया, इन गहन भावार्थों को समझाने के लिए।

दर्शक मित्रों से निवेदन है कि हर बात के दो पहलू होते हैं। भगवान महावीर पर बोलते हुए ओशो ने बारह तपों को विस्तार से समझाया है। इनमें से प्रथम है उपवास और द्वितीय है कम मात्रा में भोजन लेना। इनका आध्यात्मिक साधना में क्या महत्व है, कैसे इनका पॉजीटिव सदुपयोग चेतना के विकास में किया जाए, इस विज्ञान को समझने के लिए 'महावीर वाणी' पढ़िए अथवा सुनिए।

आज के लिए सभी मित्रों को धन्यवाद।

शुभ रात्रि। जय ओशो।

तीर्थ-स्नान आदि के अर्थ

मा मोक्षा– गुरुदेव, पिछली श्रृंखला को आगे बढ़ाते हुए आज हम जानना चाहेंगे कि ओशो के नजरिए में तीर्थ और गंगा स्नान इत्यादि का क्या महत्त्व है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– एक गंगा है, जो बाहर बह रही है। दूसरी गंगा है, जो चेतना की धारा बनकर हमारे भीतर बह रही है। बाहर की गंगा में स्नान करना शरीर का ही स्नान होगा। भौतिक–रासायनिक जल हमारे भौतिक शरीर को ही साफ कर सकता है। शरीर की स्वच्छता हेतु नदी उपयोगी है। गंगा के प्रति तुम्हारी भावना जुड़ी है। अवश्य गंगा स्नान का मजा लेना। अच्छा है स्नान करना। लेकिन याद रखना, उससे आत्मा का स्नान नहीं होगा। हमें धोना है अपने मन को, अपने हृदय को, अपनी चेतना को निखारना है। यह तो भीतर ध्यान की धारा में डूबने से ही होगा।सद्गुरु ओशो ने इसलिए दो अलग–अलग प्रकार की व्याख्याएं की हैं। कभी वह विपक्ष में बोलते हैं कि बाहरी तीर्थों में भटकने से क्या होगा? तुम्हारा हृदय, तुम्हारी अन्तर्आत्मा असली तीर्थ है, वहां जाओ। परिक्रमा ही करनी है तो अपने भीतर करो, अपने में रमण करो। बाहरी परिक्रमा करने से क्या होगा? असली तीर्थ तुम्हारे भीतर है। असली घट में जाओ, वहां डुबकी मारो जहां परमात्मा का निवास है।

धार्मिक लोग कहते हैं कि प्रभु सर्वव्यापी है। फिर वही लोग बताते हैं कि इस विशेष मंदिर में, इस विशेष तीर्थ स्थान में, खास जगह पर ईश्वर रहता है। उनकी बात तो आपस में ही कॉन्ट्राडिक्ट्री हो गई। अगर प्रभु सर्वव्यापी है तो सबसे निकट तो हमारी अन्तर्आत्मा है। क्यों न हम उसी में डुबकी लगाएं। कबीर साहब जिन्दगी भर गंगा के किनारे रहे बनारस में। और कहा जाता था कि एक गांव है मगहर, वहां पर जो भी मरता है, वह अगले जन्म में गधा हो जाता है। काशी में जिसकी मृत्यु होती है, उसे स्वर्ग प्राप्त होता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। किंतु कबीर जिन्दगी भर तीर्थ स्थान में रहे और मृत्यु के पूर्व मगहर में जा बसे।

यह उनका बड़ा कटाक्ष था, चेताने वाला व्यंग्य था।

लोगों ने कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं? कबीर बोले– अगर तीर्थ स्थान के प्रताप से मेरी मुक्ति होती है तो मुझे ऐसी मुक्ति नहीं चाहिए। वह मुक्ति जो दूसरे के द्वारा हो, वह भी कोई मुक्ति हुई! मैं मगहर में जाकर मुक्त होऊंगा तो ही मेरी मुक्ति सच्ची मुक्ति होगी।

वह मगहर में जाकर मरे। क्या कह रहे हैं कबीर साहब इस घटना के द्वारा? यही बता रहे हैं कि कैसी पागलपन की बातों में पड़े हो। किसी विशेष स्थान पर रहने से या मरने से कैसे मुक्ति होगी? तुम्हारी अन्तर्आत्मा किस स्पेस में, दशा में जी रही है, वह महत्वपूर्ण है।

सद्गुरु ओशो कहते हैं कि बाहर की परिस्थिति नहीं, अपने भीतर की मनःस्थिति बदलो। अपने मन को धोओ। हृदय को साफ–सुथरा करो। वह तो ध्यान के द्वारा ही होगा। क्योंकि अगर नहाना ही है तो अपने भीतर की गंगा में स्नान करो। बाहर की गंगा काम न

करेगी। इस बात को खूब अच्छे से समझ लेना कि सद्गुरु ओशो जब किसी चीज का विरोध करते हैं, तो वह विरोध बड़ा सकारात्मक होता है; किसी पॉजिटिव बात को बताने के लिए। भीतर समाधि में डूबो, समाधि में स्नान करो तब तुम्हारी अन्तर्आत्मा तरोताजा और प्रफुल्लित होगी, फूल की तरह खिल सकेगी। परमात्मा में वही असली डुबकी है। गंगाजल वह कार्य न कर सकेगा; वह तो तुम्हें स्वयं अपने भीतर ही करना होगा।

लेकिन फिर भी बाहर की जो चीजें हैं, उनका भी एक महत्व है। उसका महत्व इसलिए हो जाता है, सद्गुरु ने उसकी भी व्याख्या की है कि ये चीजें बिल्कुल निरर्थक भी नहीं हैं।

उदाहरण के लिए अगर लाखों–करोड़ों लोग मानते हैं कि किसी नदी का पानी विशेष प्रकार है और उसके प्रति वे खास भाव रखते हैं; जैसे गंगा को लोग मां कहते हैं। जब उस भाव से कोई जाएगा तो उसके सबकान्शस माइंड की इस धारणा की वजह से ही उसके हृदय का शुद्धिकरण भी संभव है। इस प्रकार की चीजों का भी उपयोग संभव है। तीर्थ स्थान में लाखों लोग मानकर जा रहे हैं कि वह एक विशिष्ट ऊर्जा क्षेत्र है। और उनके ऐसे मानने से, सम्मोहन से वह एक विशिष्ट ऊर्जा क्षेत्र, एक एनर्जी फील्ड बन जाता है। चूंकि एक विशेष प्रार्थना की भावदशा में वे वहां गए हैं, यह जानते हुए कि वहां ईश्वर का साक्षात्कार आसानी से हो सकेगा। प्रभु वहां निकट ही वास करता है। उनकी यह भावदशा ही उनको ध्यान में डुबाने में सहयोगी हो जाएगी। तीर्थ स्थानों का भी उपयोग है।

सद्गुरु ने हर चीज की वैज्ञानिक व्याख्या की है। जो निरर्थक है, उसको निरर्थक बताया। सार्थक क्या है वह भी बताया। परंपरा से प्रतिष्ठित बातों के पीछे क्या गूढ़ अर्थ छिपे हैं, अगर हम उन भावार्थों को पकड़ लें तो वे चीजें भी हमारे लिए सार्थक हो जाएंगी। तो वह निरर्थक भी हो सकता है और सार्थक भी हो सकता है, दोनों बातें हम पर निर्भर हैं।

अगर कोई व्यक्ति केवल क्रियाकांड के रूप में ही गंगा स्नान करता रहा और उसके भीतर कोई भावना नहीं है तो उसको कुछ भी लाभ न होगा। इसके लिए कबीर साहब ने मजाक किया है– गंगा में बहुत–सी मछलियां और मेंढक रहते हैं। मेंढक ही क्यों, मगरमच्छ भी रहते हैं। अगर तुम दो मिनट डुबकी लगाते हो और उससे तुम्हें स्वर्ग मिल जाएगा; तो बेचारे मेंढकों, मछलियों और मगरमच्छों को तो पक्का स्वर्ग मिलेगा। वे तो जन्मे उसी में जल में, उसी में बड़े हुए हैं, उसी में जीवन भर जिए हैं, उसी में मरेंगे। कबीर साहब मजाक कर रहे हैं कि क्रियाकांड के रूप में अगर तुम गंगा स्नान करोगे तो उसका कोई भी अर्थ नहीं है। लेकिन अगर भावनापूर्वक किया, तो बात बदल जाएगी। लेकिन याद रखना, असली फर्क किस चीज से पड़ा? तुम्हारी अंतस की भावना से, न कि गंगाजल से।

खूब साइंटिफिक ढंग से चिंतन करना। गंगाजल ने बदलाहट नहीं की, तुम्हारी भावना ने रूपांतरण किया है। अगर ऐसी धारणा के संग तुम अपने बाथरूम में, अपने नल के पानी से नहाओगे तो वहां भी परिवर्तन घटित हो जाएगा। फिर गंगा जाने की क्या जरूरत?

हम जानते हैं कि बड़ी भीड़ सम्मोहन से जीती है। और इस सम्मोहन का भी सदुपयोग किया जा सकता है। तो तीर्थ स्थानों में विशिष्ट ऊर्जा क्षेत्र निर्मित किए गए हैं। सैंकड़ों संत

उन जगहों पर रहे हैं। उनकी इनर्जी, उनके आशीष वहां बरसे हैं। हजारों–लाखों शिष्यों ने वहां साधना की है। वह जगह उनकी ऊर्जा तरंगों से ओत–प्रोत है। तो सभी धर्मों ने विशिष्ट तीर्थ स्थान निर्मित किए हैं। वहां पर पहुंचकर एक विशिष्ट भाव दशा में पहुंच जाना बड़ा आसान है। विशिष्ट तरंगे, खास प्रकार की वाइब्रेशन्स वहां मौजूद है। अगर एक नया साधक भी वहां आएगा तो वहां की तरंगों से तरंगित हो जाएगा।

सद्गुरु ओशो की एक किताब है– 'गहरे पानी पैठ' जो बाद में 'मैं कहता आंखन देखी' नामक वृहद पुस्तक में संकलित हुई है। इस प्रवचन माला में उन्होंने तीर्थ स्थानों का, मंदिरों का, टीका–तिलक का, माला का तथा विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों के पीछे छिपे हुए विज्ञान को उजागर किया है। तो मंदिर व्यर्थ भी नहीं हैं पूरे सौ प्रतिशत, तीर्थ पूरी तरह व्यर्थ नहीं हैं। हां, निन्यानवे प्रतिशत नासमझ लोगों के लिए व्यर्थ हैं। वे तो मनोरंजन के लिए आ–जा रहे हैं। उनके मन में लोभ है कि शायद वहां पहुंचने से स्वर्ग मिल जाएगा। वह तो उनकी निरर्थक धारणा है। लेकिन एक प्रतिशत सच भी है, अध्यात्म का गहरा विज्ञान भी छुपा है। अगर उस ढंग से तीर्थ आदि का उपयोग हो तो बहुत सहयोगी हो सकता है।

इसको ऐसे समझो कि किसी यूनवर्सिटी में कोई स्टूडेंट पढ़ने जाता है। वहां पढ़ाई–लिखाई का माहौल है। हजारों विद्यार्थी वहां पढ़ रहे हैं। सैंकड़ों पढ़ाने वाले वहां मौजूद हैं। वहां हॉस्टल में सभी लोग बड़ी मेहनत कर रहे हैं। कोई स्टूडेंट उस हॉस्टल में रहेगा तो फिर उसी माहौल में जिएगा और उसके लिए पढ़ाई–लिखाई आसान हो जाएगी।

यह काम वह अपने घर में रहकर भी कर सकता है, लेकिन वहां कठिन होगा। घर में वैसा माहौल नहीं है। दूसरे भाई–बहन हैं। कोई टी. वी. देख रहा है, खेल रहा है, शादी की पार्टी में जा रहा है। कहीं पूरा परिवार सिनेमा देखने जा रहा है, या पिकनिक मनाने जा रहा है। उस माहौल में शायद उसके अध्ययन–मनन में मुश्किल खड़ी होगी। हॉस्टल के माहौल में पढ़ाई–लिखाई आसान हो जाएगी। बस ऐसे ही समझना।

विश्वविद्यालय जैसे ही आत्मविद्या के विद्यालय भी हैं। उन्हीं को हम तीर्थ स्थान कहते हैं, जहां बहुत लोगों ने ब्रह्मविद्या पाई है, बांटी है। ब्रह्मविद्या को पाने के उपाय किए हैं, साधना की है। वहां खास प्रकार की तरंगें हैं। क्यों न उन तरंगों का उपयोग किया जाये! माना कि निन्यानवे प्रतिशत लोगों को तो इस बारे में कुछ ज्ञान नहीं है। वे ऊपर–ऊपर से औपचारिकता निभा रहे हैं। लेकिन जो समझदार हैं वे इस छुपे हुए गुह्य विज्ञान का उपयोग कर रहे हैं। 'गहरे पानी पैठ' नामक प्रवचन माला में ये सूक्ष्म रहस्य उजागर किए गए हैं।

प्रत्येक साधक के लिए यह प्रवचन माला श्रवणीय है, वह किताब पठनीय है। तो जो चीजें परंपरा से चली आ रही हैं, न तो पूरी तरह व्यर्थ हैं, न ही पूरी तरह सार्थक हैं। हमें उसके पीछे छिपा विज्ञान का ख्याल हो तो बड़ी सार्थक हैं। अगर हमें उसका पता नहीं है तो ऊपरी औपचारिकताओं व क्रियाकाण्डों को निभाने में केवल समय की बर्बादी है।

मा मोक्षा– दर्शक मित्रो, अगर आप इन महत्वपूर्ण पुस्तक को पढ़ना या प्रवचनों को सुनना चाहें तो हमें ऑर्डर भेज

सकते हैं। गुरुदेव, ओशो ने हर चीज के पीछे का विज्ञान बताया, उनका नजरिया इतना तर्कसंगत एवं प्रमाणयुक्त था; फिर भी लोगों ने उनको इतना गलत क्यों समझा?

स्वामी शैलेन्द्र जी– क्योंकि अधिकांश लोग तर्कसंगत नहीं, वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले नहीं हैं; किसी भी नई बात को नहीं समझ पाते हैं। भीड़ का बुद्धि मापांक (आईक्यू लेबल) बहुत कम है। आपको जानकर हैरानी होगी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पहली बार वैज्ञानिकों ने आईक्यू टेस्ट करने के उपाय निकाले थे; तो बड़े पैमाने पर सैनिकों का आईक्यू परीक्षण हुआ। आश्चर्य कि औसत आइक्यू, मानसिक उम्र 13–14 साल निकली! यद्यपि शारीरक उम्र 30–35–40 साल थीं। शरीर तो बड़ा हो गया परंतु बुद्धि पीछे अटकी रह गई, बस 13–14 साल के बच्चे बराबर, फिर उसके बाद विकास नहीं हुआ।

संसार की बड़ी भीड़ का बुद्धि–स्तर बहुत कम है। इसलिए जब भी कोई नई घटना घटती है, कोई नया विचार, कोई क्रांतिकारी बात आती है सामने, भीड़ उसका विरोध करती है। और यह मामला सिर्फ आध्यात्मिक ऋषियों का ही नहीं, अन्य क्षेत्रों में भी यही हाल है। यहां तक कि विज्ञान के क्षेत्र में भी नए वैज्ञानिक को बहुत विरोध सहना पड़ता है।

आपको जानकर हैरानी होगी कि अल्बर्ट आइंस्टीन पिछली सदी का महानतम वैज्ञानिक हुआ। उसकी महानतम खोज– 'दि प्रिंसिपल ऑफ रिलेटिविटी' है। उसमें उसको नोबल प्राइज नहीं मिला। इसी के लिए सारी दुनिया उसे जानती है। लेकिन वैज्ञानिकों की कमेटी ने उसको स्वीकार नहीं किया। हैरानी की बात... हम जिनको वैज्ञानिक समझते हैं, उनको तो खुले हृदय का होना चाहिए, ओपन माइंडेड होना चाहिए। वे भी बड़े क्लोज्ड माइंड हो जाते हैं। क्योंकि रिलेटिविटी का प्रिंसिपल पिछले तीन सौ, साढ़े तीन सौ सालों में जो विज्ञान खोजा गया है, उसके सर्वथा विरोध में है। सौ प्रतिशत विपरीत धारणा है। इतनी बड़ी क्रांतिकारी बात को कैसे हजम करें? पिछले साढ़े तीन सौ साल में जितने वैज्ञानिक हुए हैं, क्या वे सब मूर्ख थे? सिर्फ आइंस्टीन बुद्धिमान है, इसे स्वीकारना कठिन है।

भीड़ प्रायः नूतन की विरोधी होती है, चाहे वह चित्रकला का क्षेत्र हो, चाहे अभिनय का, संगीत का, काव्य का, साहित्य का, कोई भी क्षेत्र हो। रूढ़िवादी लोग हमेशा नए की खिलाफत में होते हैं। जब नई प्रकार की 'अकविता' आई– छंदहीन, तुकहीन; तो पुराने साहित्यकारों ने भारी भरकम विरोध किया। उन्होंने कहा कि यह कोई कविता है! यह कैसी कविता जिसमें छंद नहीं, तुक नहीं, मात्राओं की गिनती बराबर नहीं है।

रूढ़िवादी के मुताबिक मात्रा बराबर हो; तभी वह कविता है। धीरे–धीरे वे रूढ़िवादी खो गए। अब नई कविता ने सारे जगत में अपना स्थान बना लिया। मगर बहुत विरोध से गुजरना पड़ा है। जब नए प्रकार की चित्रकला आई तब पुराने चित्रकार उसके खिलाफ हो गए। लेकिन धीरे–धीरे नई कला ने अपना स्थान प्राप्त किया है। मान्यता स्थापित होने के बाद पुराने कलाकार, आलोचक, विरोधी; अपना विरोध छोड़ देते हैं।

ठीक इसी प्रकार अध्यात्म के क्षेत्र में होता है। सद्गुरु ओशो ने बहुत क्रांतिकारी दृष्टि

प्रस्तुत की है और उसकी वजह से भारी विरोध उनको सहना पड़ा; क्योंकि लोग समझ ही नहीं पाए। सच पूछो तो प्रतिभाशाली आदमी का लक्षण यही है। हम जिसको सुपर टैलेंटेड कहते हैं, उसका लक्षण यही है कि उस समय का आम आदमी उसे नहीं समझ पाएगा।

आइंस्टीन से किसी ने पूछा कि आपके सापेक्षिकता के सिद्धांत को कितने लोग दुनिया में समझते हैं? आइंस्टीन ने कहा कि शायद एक दर्जन लोग। अरबों लोगों में से केवल एक दर्जन और वह भी 'शायद'! मुश्किल है बात। अब तो 110 साल बीत चुके, आज भी दुनिया में कितने लोग समझते हैं? कोई पढ़ने की कोशिश करता है, 10-20 पेज पढ़कर छोड़ देता है, क्योंकि उसको लगता है कि बात मेरे सिर के ऊपर से जा रही है।

सद्‌गुरु ओशो से किसी ने पूछा कि आपकी बात हमारे सिर के ऊपर से गुजर रही है। क्या करें? वे मुस्कुराकर बोले- अपना सिर थोड़ा ऊंचा करो।

इस प्रकार के जीनियस हमारे सिर को ऊपर उठाने के लिए आते हैं। हमारा आईक्यू लेबल थोड़ा बढ़े, हम ज्यादा समझदार हों, अधिक ग्रहणशील हों। क्योंकि वे जो कह रहे हैं वह ठोस तथ्य है, यथार्थ पर निर्भर है। आज नहीं, तो कल उसको हमें स्वीकारना ही होगा।

ओशो के विदा होने के बाद से लेकर आज तक, इन 25 सालों के दौरान नई पीढ़ी में उनके प्रति बहुत स्वीकार भाव बढ़ा है। जो लोग विरोध में थे, आज वे उनकी प्रशंसा करते हैं। उनके पाठकों की गिनती करोड़ों में पहुंच गई है। दुनिया की 50 से अधिक भाषाओं में उनका साहित्य अनुवादित एवं प्रकाशित हो चुका है। इंटरनेट पर वे छाए हुए हैं।

समय बीतने के संग उनकी बात और स्वीकृत होती चली जाएगी, मानव-जीवन शैली में समाहित होती जाएगी। आरंभिक विरोध, गलतफहमियां, नासमझियां भी स्वाभाविक थीं। हर प्रतिभाशाली व्यक्ति की किस्मत में यही लिखा होता है।

मा मोक्षा- क्या यह कहना ठीक होगा कि ओशो अपने काल से पहले आ गए?

ओशो शैलेन्द्र जी- हां। हर प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने काल के पहले आ जाता है। इसीलिए तो वह एक नए काल का, युग का निर्माण करता है। वास्तव में हम जिनको भी युगपुरूष कहते हैं, वे यही लोग हैं, जिनसे एक बिल्कुल नई शृंखला शुरू होती है। वे किसी मृत परम्परा के हिस्से नहीं होते। वे एक नए प्रेरणा-स्रोत हैं, सृजनशील मौलिक प्रतिभा हैं, स्वर्णिम भविष्य के दूरदृष्टा हैं। तो निश्चित रूप से आने वाला समय उन्हें बेहतर ढंग से समझ पाएगा।

चुनौती या कठिनाई आने के पहले जब कोई आगाह करे, आग लगने के पूर्व कोई बचने की विधि बताए, बाढ़ आने की संभावना के हिसाब से सावधानी बरतने को कहे; तो अधिकतर लोगों को बात समझ नहीं आती। जब मुसीबत गले आ पड़ती है, तब हमें स्मरण आता है कि अरे, वह व्यक्ति कितनी महत्वपूर्ण सलाह ठीक वक्त पर देकर हमें चेता रहा था।

ओशो की एक पुस्तक का शीर्षक है- 'चेति सकै तो चेत'। उन्होंने तो समय रहते जगाने का यथासंभव प्रयत्न किया। जो जाग सकते हैं, वे जाग गए। शेष यही कहेंगे कि ओशो समय से पहले आ गए थे। आज की चर्चा को यहीं विराम देते हैं। धन्यवाद। जय ओशो।

क्या ओशो अमीरों के गुरु हैं?

मा मोक्षा– आज एक सज्जन ने दो प्रश्न भेजे हैं। पहला– ओशो धर्म को लग्जरी क्यों कहते हैं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– हम अपनी जीवन की आवश्यकताओं को देखें, तो सबसे मूलभूत आवश्यकताएं शरीर से संबंधित हैं। भूख है, भोजन चाहिए। प्यास है, पानी चाहिए। रहने के लिए मकान चाहिए। ठंड, गर्मी, बरसात से बचने के लिए वस्त्र चाहिए। बीमार हैं तो औषधि और चिकित्सा चाहिए। ये हमारी बुनियादी जरूरतें हैं। संक्षेप में जिनको कहते हैं– रोजी, रोटी और मकान। जब ये पूरी हो जाती हैं, थोड़ी समृद्धि आती है तब मन की जरूरतें पैदा होती हैं– मनोरंजन, साहित्य, कला, सृजन, मूर्ति, चित्रकारी और बहुत–बहुत मन के आयाम हैं। जिसकी शरीर की जरूरतें पूरी नहीं हुई, उसको मन की जरूरतों का ख्याल ही पैदा नहीं होता। जैसे पशु–पंछी केवल अपने तन की जरूरतें ही पूरी करने में लगे रहते हैं। वे ही बामुश्किल पूरी हो पाती हैं। इसलिए उसके पास वैसा मन विकसित नहीं हो पाया जैसा मनुष्य के पास है। अगर हम मनुष्य जाति को देखेंगे तो गरीब समाज को कला में उत्सुकता नहीं होती है। अभी पेट ही नहीं भरा। एक पुरानी कहावत है– 'भूखे भजन न होई गोपाला'।

सर्वप्रथम बुनियादी शारीरिक जरूरतें पूरी की जाएंगी। उसके बाद मानसिक जरूरतें पैदा होंगी। जब वे भी पूरी हो जाएंगी तब मनुष्य की भावनात्मक जरूरतें आएंगी। हृदय की आकांक्षा है कि मैं किसी को प्रेम करूं, कोई मुझे प्रेम करे, सम्मान हो, यश हो, प्रतिष्ठा हो। मैं किसी का होऊं, कोई मेरा हो। अपनेपन की भावना हो। मित्र हो, परिवार हो, लोगों से मिलना–जुलना हो। यह हमारे हृदय की आकांक्षा है। जब यह भी पूरी हो जाती है तब और उच्चतर आकांक्षा पैदा होती है– शांत होने की, ध्यानस्थ होने की, समाधिस्थ होने की, सत्य को जानने की, परमात्मा को पहचानने की।

निश्चित रूप से अध्यात्म हमारी बुनियादी आवश्यकता नहीं है। धन बुनियादी जरूरत है, ध्यान नहीं। बिना ध्यान के भी सात अरब लोगों का जीवन दुनिया में चल ही रहा है। यद्यपि जब धन मिल जाएगा तब पता चलेगा कि भीतर की निर्धनता अभी भी नहीं मिटी। तब ध्यान की आकांक्षा पैदा होगी। संसार की भागदौड़, यश, प्रतिष्ठा, राजनीति जब यह पूरी हो जाएगी तब समझ में आएगा कि इससे भी संतुष्टि नहीं हुई। फिर क्या चाहिए?

अंततः परमात्मा चाहिए। उच्चतम प्यास है वह– धर्म को लग्जरी इस अर्थ में सद्गुरु ओशो कहते हैं कि वह अंतिम भोग है, आखिरी विलास है। जब नीचे की सारी बातें पूरी हो गईं तब ऊपर की बात। इसको ऐसे समझो, एक चार मंजिला मकान है। सबसे पहले मकान की बुनियाद रखी जाएगी, नींव भरी जाएगी। तब पहली मंजिल, फिर दूसरी, फिर तीसरी,

अंत में चौथी मंजिल, तब सर्वोच्च शिखर पर स्वर्ण कलश स्थापित किया जाएगा। जो बुनियादी बातें हैं आधार की, नींव की, वे शरीर से संबंधित हैं। फिर मन एवं हृदय से संबंधित बातें हैं। सबसे बाद में आत्मिक खोज है; आध्यात्मिक अभीप्सा है। इसलिए जब समाज समृद्ध होता है, तब धर्म की आवश्यकता आन पड़ती है।

किसी जमाने में भारत सोने की चिड़िया था और उस समय हमारे देश में अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर बुद्ध और महावीर जैसे अनेक व्यक्ति हुए। यह भी आश्चर्य की बात है कि बुद्ध राजकुमार, महावीर भी राजपरिवार से हैं, कृष्ण एवं राम भी राजपरिवार से हैं। राजा जनक तथा जैनों के चौबीसों तीर्थंकर राजपरिवार से हैं। जहां सारी भौतिक जरूरतें, मानसिक व हार्दिक जरूरतें तृप्त हो गईं थीं, वहां पता चला कि अभी कुछ भीतरी खालीपन शेष है। उस खालीपन को भरने के लिए ध्यान, भक्ति, प्रार्थना, साधना के आयाम में व्यक्ति प्रवेश करता है।

स्प्रिचुअलिटी इज दि ग्रटेस्ट लग्जरी। जब बुनियादी जरूरतें पूरी हो गईं तभी अध्यात्म की प्यास का एहसास होता है। उसे हम बुनियादी आवश्यकताओं में नहीं गिन सकते कि रोजी, रोटी, मकान की तरह अध्यात्म भी चाहिए। अधिकांश लोगों को अध्यात्म नहीं चाहिए। उनका काम बड़े मजे से चल रहा है बिना अध्यात्म के। लेकिन जैसे–जैसे समाज समृद्ध होता चला जाएगा वैसे–वैसे अध्यात्म ज्यादा महत्वपूर्ण होता चला जाएगा। इस अर्थ में आध्यात्मिक अनुभूति को अंतिम विलास कहा है, महाभोग या परमभोग कहा है।

मा मोक्षा– इन्हीं मित्र का दूसरा प्रश्न भी है।

ओशो अमीरों के गुरु क्यों कहे जाते हैं?

स्वामी शैलेन्द्र जी– वैसे तो उपरोक्त चर्चा में यह बात भी समाई है। फिर भी...

ओशो के पास जो लोग आए, निश्चित रूप से वे अमीर हैं। अधिकांश लोग धन संपदा के अमीर। कुछ लोग हृदय के अमीर। कुछ लोग मानसिक प्रज्ञा और विवेक के अमीर। याद रखना, अमीरी भी कई प्रकार की होती है। सिर्फ बैंक बैलेंस से ही अमीरी का पता नहीं चलता। हो सकता है किसी के पास बैंक बैलेंस तो बहुत बड़ा हो और दिमाग बिल्कुल बुद्धू का हो। ऐसा व्यक्ति बुद्धत्व में उत्सुक नहीं होगा। प्रखर मेधावी व्यक्तित्व चाहिए, बड़ी इंटेलिजेन्स चाहिए, यह देखने के लिए कि धन पाकर भी निर्धनता नहीं मिटती। अमीर होकर भी भीतर की गरीबी ज्यों की त्यों मौजूद है। इसके लिए बुद्धिमत्ता चाहिए। बुद्धिमत्ता भी एक प्रकार की संपत्ति है। जो लोग बहुत बुद्धिमान हैं, चाहे वे बहुत धनवान न हों, वे भी अध्यात्म में उत्सुक हो सकते हैं। अतीत में भी हम इसका उदाहरण देख सकते हैं।

संत कबीर बहुत गरीब थे– एक दरिद्र जुलाहा। बामुश्किल अपने परिवार का भरण–पोषण कर पाते थे। संत रविदास जूते बनाने का काम करते थे। निम्नतम कार्य था वह समाज का। लेकिन उस दरिद्रता में रहते हुए भी उनके पास इतनी प्रखर बुद्धिमत्ता थी कि वह अध्यात्म–साधना में उत्सुक हुए और उन्होंने परमानंद का चरम शिखर छुआ।

इसलिए अमीरी कई प्रकार की है। बाहरी अमीरी भी अच्छी है, उपयोगी है, होनी चाहिए। लेकिन उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है मानसिक और हार्दिक सम्पन्नता। इन्हें हम

आइ–क्यू और ई–क्यू की सकते हैं– इंटैलिजैंस क्वोशियंट, इमोशनल क्वोशियंट। बुद्धिमत्ता, प्रज्ञा, विवेक के संग सद्भावना भी हमारे भीतर हो। यह आंतरिक अमीरी हैं।

यह बात बिल्कुल ठीक है कि ओशो अमीरों के गुरु कहलाए। क्योंकि उनके पास वे लोग नहीं आ सके जिनको रोजी–रोटी चाहिए थी, जिनकी नौकरी नहीं लगी वे प्रार्थना करने नहीं आए कि नौकरी लगवा दो। ओशो ने ऐसी व्यवस्था की जिसमें ऐसे लोग पास न आएं कि बेटी की शादी नहीं हो रही, प्रभु, शादी करवा दो। ओशो ने किसी की मन्नतें पूरी नहीं की, किसी को आशीर्वाद नहीं दिया। वे तो आत्मज्ञान की उच्चतम दिशा बता रहे थे। उसमें तो उत्सुक वही होगा जिसकी सब प्रकार की जरूरतें पूरी हो गईं।

इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि ओशो अमीरों के गुरु कहलाए।

मा मोक्षा– तीसरा सवाल आया है कि ओशो के कम्यून की व्यवस्था कैसी थीं और कम्यून के लिए उनका क्या नजरिया था?

ओशो शैलेन्द्र जी– ओशो का कम्यून, परिवार का एक विराट रूप था। आजकल महानगरों में लोग छोटे–छोटे एकल परिवारों में रहते हैं, जहां केवल दो–चार सदस्य होते हैं। कुछ साल पहले तक 10–15 लोगों के संयुक्त परिवार हुआ करते थे। आज भी भारत के गांवों में हैं। सौ वर्ष पूर्व 50–50, 60–60 लोग एक कुटुम्ब में रहा करते थे। उसके और पूर्व आदिवासी जमाने में तो कबीले हुआ करते थे। दो–चार सौ लोगों का समूह इकट्ठा जंगल में रहा करता था। मनुष्य समूह में रहने वाला एक प्राणी है, वह अकेला नहीं रह सकता है।

इसकी वजह है कि मनुष्य की जो संतान है, उसे बड़ी सुरक्षा की जरूरत है। जानवरों के बच्चे पैदा होते हैं और चार–छः दिन में चलने–फिरने लगते हैं, अपने आप भोजन करने लगते हैं। महीने भर में उनकी इंडिपेंडेंट लाइफ हो जाती है, माता–पिता से मुक्त हो जाते हैं। समूह की जरूरत बहुत कम है। लेकिन मनुष्य के बच्चों को अपने पैरों पर खड़े होने में करीब 25–30 साल बीत जाते हैं, तब वह आत्मनिर्भर हो पाते हैं। तब भी माता–पिता को भरोसा नहीं आता कि लड़के में अक्ल आ गई! तब भी शक बना रहता है कि बुद्धू है!!

मनुष्य का विकास बड़ी धीमी गति से होता है। उसे सपोर्ट और समर्थन चाहिए, सहयोग चाहिए, सुरक्षा चाहिए तभी विकास हो पाएगा, नहीं तो नहीं हो पाएगा।

प्राचीन समय में कबीले हुआ करते थे। दो सौ–चार सौ लोगों का पूरा गांव एक कबीला कहलाता था। धीरे–धीरे संख्या घटी, संयुक्त परिवार आया। फिर और संख्या घटी, इंडिविजुअल फैमिली, एकल परिवार आया। आज सारी दुनिया में विशेषकर उन्नत देशों में जो स्थिति है कि एकल परिवार भी टूट रहा है। पति–पत्नियों का तलाक हो रहा है। बच्चों की बड़ी दुर्दशा हो रही है। अकेले कोई जीना भी नहीं चाहता और संग–साथ जीना भी मुश्किल हो रहा है। अभी गरीब देशों में यह दुर्घटना अधिक देखने को नहीं मिलती है, पर आने वाले 25–30 सालों में यही घटना सर्वत्र घट रही होगी। भारतीय महानगरों में तलाक होने लगे हैं। धीरे–धीरे गांव–देहात में भी फैल जाएंगे। जैसे–जैसे समाज अमीर होगा, लोग अकेले और स्वतंत्र रहना पसंद करेंगे। लेकिन अकेले रहने के अपने नुकसान हैं। वह जीवन

पद्धति भी सफल नहीं हो सकती। मनुष्य को प्रेम की, संबंध की, मित्रता की स्वाभाविक आकांक्षा है। तो फिर क्या किया जाये? वापस हम संयुक्त परिवार और कबीले में तो जा नहीं सकते। जो बीत गई सो बीत गई। अब तो कुछ नई ही व्यवस्था आनी चाहिए।

परिवार बुरी तरह से टूट रहा है। स्वीडन और कुछ मुल्कों में विवाह बंद हो गया। कई वर्षों से किसी ने शादी नहीं की। परिवार बुरी तरह से तहस-नहस हो गया। वह व्यवस्था आगे नहीं चल सकती। एक नया विकल्प देना होगा।

ओशो ने इस आने वाली समस्या को देखते हुए कम्यून का विकल्प दिया, जहां लोग स्वतंत्र रहें। अपने नीजी जीवन को अपने ढंग से जी सकें और फिर भी एक प्रकार का संग-साथ हो, सहयोग व समर्थन हो। सुरक्षा की जरूरत पड़े तो दूसरे लोग मौजूद हों। अपनत्व की भावना हो, फिर भी स्वतंत्र, कोई बंधन में न हो। अधिक से अधिक स्वतंत्रता वाला परिवार, ऐसा कम्युन को समझें- संयुक्त परिवार या कबीले जैसा बड़ा।

उन्होंने ऐसी व्यवस्था का नाम कम्यून रखा, जिनमें आपस में कम्युनिकेशन है, संवाद है, एक-दूसरे को समझते हैं, सब एक-दूसरे की भावना की कद्र करते हैं लेकिन दूसरे को बंधन में नहीं बांधते। स्वतंत्रता देते हैं और अपनी स्वतंत्रता का भी सम्मान करते हैं।

कम्यून की यही बुनियादी धारणा है- विराट किंतु यथासंभव स्वतंत्र परिवार।

मा मोक्षा- क्या इसे प्रायोगिक रूप से किया गया? और आगे उससे क्या प्रेरणा लेनी चाहिए?

स्वामी शैलेन्द्र जी- ओशो ने जो प्रथम प्रयोग किया, पूना में कम्यून की स्थापना द्वारा। उसमें हजारों लोग आकर रहे। बाद में और भी विराट पैमाने पर द्वितीय प्रयोग किया, अमेरिका के ऑरेगोन नामक प्रांत में एक शहर बसाया- रजनीशपुरम। वहां पांच हजार से ज्यादा लोग स्थाई रूप से निवासी थे और करीब बीस हजार लोग हर साल वहां पर टूरिस्ट की तरह आते थे और कम्यून की जीवनशैली सीखते थे। भिन्न-भिन्न देशों में जहां पहले ध्यान केन्द्र व आश्रम थे; उनको कम्यून में कन्वर्ट किया गया। वहां उस प्रकार के लोग आकर बसने लगे, जिनको कम्यून में रहना अच्छा लगता है। बहुत बड़ी सफलता मिली। जो भी लोग कम्यून में आकर बसे, उन्हें बहुत अच्छा लगा। परिवार वाला बंधन भी नहीं था, स्वतंत्रता का सम्मान था और फिर भी एक भाईचारा था, एक ब्रदरहुड थी।

ओशो संध्या के समय जो कीर्तन का प्रयोग करते थे, उसका नाम ही 'व्हाइट रोब ब्रदरहुड' रखा गया। सब लोग स्वेत वस्त्र पहनकर आते थे और बड़े भाईचारे में, एक ब्रदरहुड के माहौल में, बड़े प्रेमपूर्ण दोस्ताना वातावरण में सब उत्सव मनाते थे। पांच हजार लोग एक साथ रजनीशपुरम के किचन में खाना खाते थे। भोजन पकाने की या सबके कपड़े धुलने की अथवा घरों की सफाई करने की एक सुंदर सामूहिक व्यवस्था थी।

कामों में ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं, ऐसा नहीं कि डॉक्टर को ज्यादा फैसिलिटी मिलेगी और नर्स को कम मिलेगी और कम्पाउंडर को उससे कम मिलेगी और सफाई कर्मचारी को सबसे कम। सब लोगों को जीवन की एक सी सुविधा थी। कार्य से कोई ऊंचा-नीचा नहीं और इसलिए काम भी लगातार बदलते रहते थे। कुछ दिन किसी ने यह

काम किया और कुछ दिन दूसरा काम। कभी मजदूरी करे, कभी सड़क बनाए, कभी इलैक्ट्रिशियन का काम कर ले, कभी कारपेंटर का काम कर ले। जब जो जरूरत होती थी, सभी लोग वह काम करने को तैयार रहते थे। सुपीरियर या इन्फीरियर का सवाल न था!

ओशो ने इस प्रकार की एक अद्‌भुत व्यवस्था बनाई थी। जिसको हम काल मार्क्स के कम्यूनिज्म से भी ज्यादा श्रेष्ठ कह सकते हैं। क्योंकि कम्यूनिज्म में फिर भी हाईरेरिकी बनी रही। कोई ऊपर, कोई नीचे, काम को एक जैसा नहीं देखा गया। समानता आई नहीं। ओशो ने पहली बार समानता की स्थापना की।

अद्‌भुत था यह प्रयोग, खूब सफल रहा। और उसी सफलता के कारण अमरीकी सरकार और वहां के कट्टरपंथी ईसाई बहुत घबरा गए और वे कम्यून-विरोधी हो गए। उन्होंने कम्यून को नष्ट करने की ठान ली। सिर्फ 'कम्यून' शब्द की वजह से उनको लगा कि शायद ये सोवियत रूस के कम्यूनिस्ट एजेंट हैं। सबसे बड़ा प्रजातांत्रिक देश अमेरिका और उसके अंदर आकर कोई विदेशी साम्यवादी व्यक्ति कम्यून बसा रहा है, यानी कम्यूनिज्म फैला रहा है। यद्यपि उनका यह भ्रम गलत था। ओशो काल मार्क्स के पक्षपाती नहीं हैं। वे तो और भी उच्चतर धारणा दे रहे थे। लेकिन उस नाम की वजह से गड़बड़ हो गई। कम्यून और कम्यूनिज्म सुनने में एक से लगते थे। उन्हें लगा कि ये रूस के एजेंट हैं, जो अमेरिका को नष्ट करने के लिए आए हैं।

घबराहट इसलिए भी पैदा हुई कि लाखों लोग उत्सुक हो गए। ये पांच हजार लोग कहां से आ गए जो इतना सुखी जीवन जी रहे हैं। और फिर हम क्यों न जीएं? तो अमेरिका का इंटेलिजेंट व्यक्ति उत्सुक हो गया। मीडिया वाले उत्सुक हो गए। रोज ओशो के प्रवचन चलते थे। रोज उनके इंटरव्यू होते थे, इंटरनेशनल कॉन्फ्रेन्सेस होती थीं। सारे अखबारों में, मैगजीनों में और टी. वी. में ओशो छा गए। और कम्यून की आनंदित जीवनशैली देखकर जनमानस अत्यंत प्रभावित हुआ। मगर सरकार घबरा गई कि इतनी अच्छी व्यवस्था तो हम भी नहीं कर सकते हैं। उन्होंने ठान लिया कि कम्यून को नष्ट किया जाए।

कम्यून की अत्याधिक सफलता ही भयंकर ईर्ष्या की वजह बनी।

किंतु निश्चित रूप से भविष्य में कम्यून ही सुंदर विकल्प होगा। क्योंकि कबीले एवं संयुक्त परिवार के दिन गए। अब तो कोई भी उस ढंग से जीना नहीं चाहेगा। एकल परिवार के दिन भी लगभग गए। इस कटु सत्य को देखने से हम कितनी ही आंखें बचाएं, लेकिन यथार्थ तो देखना ही पड़ेगा। कम्यून ही एकमात्र विकल्प है जो भविष्य में सारी दुनिया में आएगा। ओशो की यह देशना आज नहीं, तो 50-100 साल में दुनिया को आच्छादित करेगी। यह बहुत ही सुन्दर सपना है, एक सुनहरा सपना; जिसमें सारे लोग प्रसन्न रह सकते हैं, स्वतंत्र रह सकते हैं और प्रेमपूर्ण हो सकते हैं।

मा मोक्षा- परिवार संबंधी अनेक तकलीफें आज इंसान भुगत रहा है। इसकी एक सुन्दर वैकल्पिक व्यवस्था देने हेतु सदगुरु ओशो के हम बहुत-बहुत आभारी हैं। मित्रता और स्वतंत्रता, दोनों का सुखद संयोग संभव है- सोने में सुहागा वाली बात!

सभी दर्शक मित्रों को धन्यवाद! जय ओशो।

कम्यून में बच्चों की देख-रेख

मा मोक्षा– पिछली कड़ी में हुई कम्यून व्यवस्था की चर्चा से संबंधित आज एक प्रश्न आया है कि कम्यून में बच्चों की देख–रेख कैसे होगी?

स्वामी शैलेन्द्र जी– बच्चों की देख–रेख कम्यून मिलकर करेगा। जैसे कि रजनीशपुरम में, अमेरिका में बच्चों की देख–रेख के लिए एक स्पेशल डिपार्टमेंट था। कुछ लोग उसमें कार्य करते थे। लगभग दो सौ बच्चे थे। बड़ी उम्र के बच्चे, छोटे उम्र की बच्चों की देखभाल करते थे। उनको वैसा गाइडेंस दिया जाता था। एक बहुत सुन्दर व्यवस्था थी। जैसे पुराने परिवार में बड़े भाई–बहन, छोटे भाई–बहनों की देखभाल करते थे। ठीक इसी प्रकार की एक सुन्दर व्यवस्था वहां पर बनाई थी कि उनके भोजन की व्यवस्था, उनकी देख–रेख, समय पर स्नान कराना, सुलाना, जगाना इत्यादि। कुछ बड़े–बुजुर्ग स्त्री–पुरुषों की प्रतिदिन ड्यूटी बदलती थी जो बच्चों की देखभाल अच्छे से कर सकें, जिनको पेरेंट होने का अनुभव है, उनको बारी–बारी से सेवा का अवसर मिलता था। अगले दिन कोई और होते, फिर अगले दिन कोई और होते। इस प्रकार माता–पिता का बच्चों के ऊपर आधिपत्य नहीं रहता था और बच्चों को भी विविध प्रकार के लोगों का प्रेम मिलता, उनसे संपर्क होता था।

सब लोग वहां पर माता–पिता नहीं, बल्कि अंकल–आन्ट्स हो गए। जो भी केयर ले रहे है, वे अंकल और आन्टी हैं। सालभर में पचासों प्रकार के चाचा–चाचियों से संबंध बनता। इससे बच्चों का हृदय भी विस्तीर्ण होता, खुलता है। जब एक ही माता–पिता के नियंत्रण व अनुशासन में बच्चे जीते हैं तो उनके भीतर 'सुनिश्चित धारणाएं' पैदा होती है। कट्टरपंथी दिमाग की शुरूआत वहीं से होती है। कोई मुस्लिम या ईसाई घर में पैदा हुआ, उसको केवल एक ही एक बात सुनने को मिली हमेशा। वह सिद्धांतवादी और कट्टरपंथी हो जाता है। जब बहुत प्रकार के लोगों से, भांति–भांति के लोगों से मिलना–जुलना होगा और वे केयर लेंगे, प्रेम देंगे, संबंधित होंगे तो बच्चे के अंदर भी विविधता का सम्मान होगा। बच्चे भिन्न–भिन्न प्रकार के अंकल और आन्ट्स से विभिन्न प्रकार की बातें सीखते– अलग–अलग प्रकार की क्रिएटिविटी, भाषाएं और रहन–सहन के ढंग अलग–अलग! रजनीशपुरम एक इंटरनेश्नल कम्यून था। छोटे बच्चे कई भाषाएं सीखे; सभ्यता, संस्कृति की शैलियां सीखे। वे उदारवादी बन सके, कट्टरवादी नहीं।

कभी कोई जर्मन आंटी उनकी केयर ले रहे है, तो कभी फ्रेंच। कभी इंग्लिश तो कभी इंडियन आंटी केयर ले रही है। बच्चे के भीतर सबके प्रति सद्भाव पैदा होगा। वह जानेगा कि मनुष्य, मनुष्य सब एक हैं। प्रेम देने वाली इतनी महिलाएं हैं, इतने पुरूष हैं, सभी अच्छे लोग हैं। जातिवाद की धारणा, राष्ट्रवाद एवं रंगभेद की धारणा, गोरे–काले में अंतर पनप ही नहीं सकता। वहां बच्चे पाएंगे कि साल में दस बार अफ्रीकन निग्रो ने उनकी केयर ली, उनके प्रति भी प्रेम व सम्मान का भाव पैदा होगा। रंगभेद ही मन से मिट जाएगा। गोरे बच्चे भी हैं और काले बच्चे भी संग–साथ रह रहे हैं, एक साथ जी रहे हैं। सबमें आपसी मित्रता है। बच्चा पाता है कि ये भी अच्छे इंसान हैं जैसे अन्य इंसान हैं। रंग का क्या महत्व?

इस प्रकार कम्यून में बच्चों की केयर कम्यून मिलजुल कर लेता था। जो लोग इसमें अनुभवी हैं, वो लोग आगे आते थे। उनको मौका दिया जाता था कि कुछ दिन वे केयर लें,

ताकि बच्चों के मन में विविधता का सम्मान जागे।

बच्चे कई प्रकार के कार्य भी करते थे। जिससे जो बन सकता था, उनसे खुद ही पूछा जाता था कि वे किस विभाग में जाना चाहते हैं ताकि थोड़ा–थोड़ा अनुभव उनको सारे काम–काज का हो जाए। पढ़ाई–लिखाई के अलावा कम से कम चार घंटे काम करना जरूरी था ताकि वे आत्मनिर्भर हों। हो सकता है कि कोई बच्चे पढ़ाई में कमजोर हों, कोई बात नहीं, वह पढ़ाई न करें लेकिन कोई काम सीख लें, मैकेनिक बन जाएं कि ड्राइवर बन जाए, प्लंबर या कारपेन्टर बन जाए। जिसमें रुचि हो, ऐसा कोई काम सीख लें। ऊंच–नीच की भावना न हो, कि कोई ज्यादा बुद्धिमान है कि कोई कम बुद्धिमान है। सभी समान स्तर का जीवन जीते थे। सबको एक सी सुख–सुविधाएं थीं और कम्यून की देखभाल जिस प्रकार सबलोग मिलजुल कर करते थे, बच्चों की देखभाल भी वैसे ही की जाती थी।

मा मोक्षा– इतनी विविधता होनी तो बहुत अच्छी बात है। क्या उसमें स्थिरता भी आती है, ठहराव भी आता है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– बाहरी विविधता के साथ भीतरी स्थिरता आती है। कम्यून सिर्फ एक सामाजिक व्यवस्था ही नहीं थी, बल्कि वहां ध्यान प्रयोग हो रहे थे। भक्ति में डूबना भी सिखाया जा रहा था। मुख्य बात यह थी कि सभी लोग ओशो के शिष्य थे, ओशो के प्रति प्रेम एवं श्रद्धाभाव से भरे थे। यह भावना अपने भीतर स्थिरता प्रदान करती है। अगर केवल कोई कम्यून बसाना चाहे, ऊपर–ऊपर से ऐसा करना चाहे तो मुश्किल होगी। बीच में एक सेन्ट्रल फिगर होना चाहिए जो सबके आकर्षण का बिंदु है और सभी लोग उसके प्रति श्रद्धा से जुड़े हैं। तब वह केन्द्र हमें स्थिरता प्रदान करता है। बाहर के लोग, शिक्षक, केयर लेने वाले अंकल–आंटी बदलते रहेंगे। लेकिन एक कामन फैक्टर सबके भीतर है कि सभी लोग सद्गुरु के प्रति समर्पित हैं, एक विशेष प्रकार की सद्भावना और श्रद्धा में जी रहे हैं। तो अत्यंत सकारात्मक बात है, जो ठहराव प्रदान करती है।

मा मोक्षा– कम्यून वासियों का नाराः 'वर्क इज वर्शिप' कर्म ही पूजा है– इसके बारे में आप कुछ बताएंगे?

स्वामी शैलेन्द्र जी– बहुत ही महत्वपूर्ण है यह बात। ओशो चाहते हैं कि एक दिन ऐसा आना चाहिए कि अलग से कोई ध्यान–विधि करने की जरूरत न हो। शुरूआत करने के लिए मेडिटेशन टेक्नीक ठीक है, ध्यान की झलक पा लो। लेकिन धीरे–धीरे तुम्हारे जीवन में होश और प्रेम की भावना चौबीस घंटों पर फैल जानी चाहिए। केवल एक घंटे भर की विधि तक ही सीमित न रहे। चौबीस घंटे जागरूकता एवं प्रेमभाव से ओत–प्रोत हो जाएं। तुम्हारी खुशी, तुम्हारी उमंग, तुम्हारा उत्साह, तुम्हारे छोटे–छोटे कार्यों में अभिव्यक्त हों। तुम जो भी करो उसको पूजा स्वरूप करो। वर्क इज इक्वल टू वर्शिप।

ऐसा कम्यून में घटित हुआ। यह केवल सिद्धांत की बात नहीं थी। ऐसा वस्तुतः हो गया था। सब लोग इस प्रकार काम करते थे जैसे अर्चना कर रहे हों, आराधना कर रहे हों। अलग से किसी मूर्ति की पूजा नहीं, किसी ईष्ट देव की उपासना नहीं करनी है। लेकिन अपने कार्य को ऐसे प्रेम से ओत–प्रोत कर दिया था, जैसे कबीर साहब कहते हैं–

'कैसा ताना, कैसा बाना, कौन तार से बीनी चदरिया;
राम–नाम रस बीनी चदरिया, झीनी रे झीनी चदरिया।'

भीतर का रस उंडेल दिया। प्रभु का रंग कपड़े में भी रंग दिया। कबीर की तरह जो भी काम करो, उसे प्रेमभाव से, भक्तिभाव से करो तो वह स्वयं अपने आप में पूजा हो जाता है।

रजनीश पुरम में सभी प्रकार के कंस्ट्रक्शन वर्क थे। मकानों व सड़कों का निर्माण हो रहा था। बिजली के तार व टेलीफोन लाइनें बिछाई जा रहीं थीं। पानी के डेम बनाए गए। नदियों को सुचारू ढंग से बहने का इंतजाम किया गया। एक शहर में जितने भी काम होते हैं, वे सभी प्रकार के काम वहां पर हुए। कुछ लोगों का काम व्यवस्थापन का था। इन सभी कामों को लोग पूजा स्वरूप कर रहे थे बड़े प्रेम भाव से, बड़े होश से। अलग से फिर ध्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं, सबकुछ ध्यानपूर्ण हो गया, पूजामय हो गया।

मा मोक्षा– कम्यून की प्रेमपूर्ण व्यवस्था में क्या कभी पुलिस या कानून के हस्तक्षेप की जरूरत पड़ी?

स्वामी शैलेन्द्र जी– शुरूआत में तो पुलिस व्यवस्था की जरूरत नहीं महसूस की गई, सबलोग आपस में प्रेमपूर्वक रहते थे। बाद में जरूरत इसलिए पड़ी, क्योंकि जो लोग बाहर से आते थे उसमें अमरीकी सरकार द्वारा नियुक्त किए गए जासूस, कुछ डिस्ट्रक्टिव एजेंटों की आने की संभावना रहती थी। षड़यंत्र रचना बहुत आसान था– किसी जगह पर खुद ही जाकर कोई नशीले पदार्थ छिपा दिए, और बाद में आकर छापा मारा कि यहां पर नशीली चीजें पाई गईं। उसका दोषारोपण कम्यूनवासियों पर लगा दिया जाएगा। इस प्रकार के शरारती लोगों से बचने के लिए सुरक्षात्मक सावधानियां बरतनी पड़ीं।

जैसे–जैसे अमरीकी सरकार दुश्मन होती चली गई, वैसे–वैसे कुछ अनुशासन बनाने पड़े बाहर के आक्रमणकारियों से बचने के लिए। क्योंकि वे आकर कुछ भी शैतानी कर सकते हैं और उसका दोषारोपण फिर कम्यून पर लगेगा। उनसे बचने के लिए संन्यासियों ने पुलिस व्यवस्था बनाई गई, सुरक्षा हेतु। ओशो के ऊपर कई लोगों ने आक्रमण करने की कोशिश की। उन्हें ड्राविंग का शौक था। रोज घंटे डेढ़ घंटे कार ड्राइव करते थे। तो उनकी कार के ऊपर आश्रम के सुरक्षा अधिकारी हेलीकॉप्टर से उड़ा करते थे ताकि आसपास कहीं भी अगर कोई कुछ गड़बड़ करने के इरादे से बैठा हो तो उसको देखा जा सके। वे दूरबीन से देखते थे चारों तरफ। उनके हाथों में भी राइफल होती थीं। क्योंकि लोग राइफल लेकर आक्रमण करने आते थे, जब ओशो निकलते थे ड्राइविंग के लिए। केवल ऐसे हिंसक तत्वों से निपटने के लिए सुरक्षा व्यवस्था बनाना अनिवार्य हो गया था।

आंतरिक रूप से तो सभी बहुत सुंदर तरीके से चल रहा था। उसमें तो पुलिस की, कानून की कोई जरूरत नहीं थी। जहां प्रेम हो वहां कानून की आवश्यकता नहीं रह जाती। लेकिन जहां प्रेम नहीं है, बाहर के लोग घृणा कर रहे हैं, ईर्ष्या कर रहे हैं तो वहां फिर कानून का सहारा लेना पड़ा और अपनी खुद की सुरक्षा व्यवस्था करनी जरूरी हो गई।

मा ओशो मोक्षा– इस तरह की घृणा या ईर्ष्या वाली परिस्थिति के बावजूद लोग कंपित, डरे हुए थे अथवा फिर भी प्रफुल्लित थे?

स्वामी शैलेन्द्र जी– लोग प्रफुल्लित थे, तभी तो वहां रह रहे थे। कोई मजबूरी थी नहीं रहने की, कोई लाचारी तो थी नहीं। जो भी लोग वहां आए अपनी स्वेच्छा से आए। वे सबकुछ समर्पित करके आए। अगर उनको डर या भय लगता तो वे खुद ही छोड़ कर चले जाते। सब संन्यासी आनंद में, मस्ती में, उत्सवपूर्ण शैली में जिंदगी जी रहे थे। आश्चर्य!

मुझे याद आता है एक समय अमरीकी सरकार ने कुछ ऐसा प्रगट करना शुरू किया कि वे तोपों से हमला करेंगे और ऊपर हवाई जहाज से बम गिराएंगे। तो सरकारी जैट विमान रजनीशपुरम के बिल्कुल ऊपर से गुजरते थे, जहां सद्‌गुरु ओशो प्रवचन देते। उस भवन का नाम रजनीश मंदिर था। बीस हजार लोग उस विराट मंदिर में बैठ सकते थे।

जब ओशो प्रवचन देते, ठीक उसी समय मिलेट्री के जेट वहां से गुजरते। मुश्किल से 20 फुट ऊपर से। जबकि ऐसा करना गैर-कानूनी है। किसी आवासीय शहर के ऊपर से इतनी नीची उड़ान भरना मिलेट्री के कानून के खिलाफ है। लेकिन वहां की सरकार स्वयं गैर कानूनी काम कर रही थी। इतना नीचे से विमान गुजरता था, इतनी जोर की गड़गड़ाहट होती थी कि प्रवचन की आवाज सुनाई नहीं देती थी। कुछ मिनट के लिए भारी शोरगुल हो जाता और ओशो चुप हो जाते। जब वह जेट गुजर जाता, वे पुनः बोलना शुरू करते थे।

अमरीकी सरकार ने पूरी कोशिश की कि आतंक फैला दिया जाए, ताकि टेरर में लोग छोड़-छोड़कर भाग जाएं। ऐसा लगता था कि अब बम गिरा कि अब गिरा। किसी भी क्षण मौत हो सकती है। लेकिन आश्चर्य की बात हजारों संन्यासीगण शांत ध्यान में डूबकर ओशो का प्रवचन सुनते थे। उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता था। एक मिनट के लिए शोरगुल हुआ, जेट विमान गुजरा उसके बाद गहन सन्नाटा, गहन मौन, वही शांति। फिर ओशो बोलना शुरू कर देते। जहां बात छोड़ी थी, वहीं से पुनः शुरू हो जाती थी। जैसे कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा हो। बाहर से तो कंपाने की कोशिशें चलीं, किंतु भीतर से साधक निष्कंप रहे।

बहुत दिनों तक इस प्रकार की धमकी चलती रही। बिल्कुल ऐसा लगता था कि अब प्राण गए, अब प्राण गए; लेकिन कोई भी कंपित न हुआ। सद्‌गुरु के प्रति शिष्य के हृदय में जो प्रेम, श्रद्धा, विश्वास होता है, वही है इस निष्कंपता का कारण। भीतर एक स्थिरता होती है क्योंकि ओशो के साथ जीते हुए जीवन का अमृतरस पी लिया। ऐसा लगता है कि अब मर भी जाएं तो कोई फरक नहीं पड़ता। जो जानने योग्य था, वह जान लिया। इसके आगे तो कुछ भी होने को नहीं है। तो एक प्रकार की ऐसी अद्‌भुत तृप्ति और संतोष सब लोगों के भीतर था कि उन्हें मृत्यु तक का भय नहीं। जहां गहन प्रेम होता है, वहां मौत का भी डर नहीं रह जाता। ऐसी निर्भयता, अकंपता हमें रजनीशपुरम में हमें स्पष्ट दिखाई देती थी।

मा मोक्षा– एक अन्य मित्र ने प्रश्न भेजा है कि ओशो का मौलिक संदेश क्या है? संक्षेप में बताने की कृपा कीजिए।

ओशो शैलेन्द्र जी– ओशो का मौलिक संदेश अध्यात्म और विज्ञान का मिलन है। हम बाहर से सुविधा व सम्पन्नता में जिएं और भीतर से शांति व सौन्दर्य में जिएं। अतीत में मनुष्य जाति विभाजित रही है। कुछ व्यक्ति थे भौतिकवादी, मेटेरियलस्टिक और कुछ लोग रहे आत्मवादी, स्प्रिचुअलस्टिक। आत्मवादी बाहर से दीन, दरिद्र, अशिक्षित रह गए और मेटेरियलस्टिक भीतर अशांति, बेचैनी, परेशानी में पड़ गए। दोनों ही दुख में जिए। उनके दुख अलग-अलग किस्म के थे, लेकिन दोनों ही दुखी थे, दोनों परेशान थे।

क्या यह नहीं हो सकता कि हम बाहर से विज्ञान का सहारा लें और भीतर से ध्यान का सहारा लें? हम बाहर धनी हो जाएं और भीतर ध्यानी हो जाएं? बाहर हम सुविधा में जिएं, भीतर हम समाधि में जिएं? यह सुनिश्चित रूप से संभव है और यही ओशो की मौलिक देशना है। इसको ओशो संक्षेप में कहते हैं– 'झोरबा द बुद्धा'। यहां झोरबा एक ग्रीक उपन्यास से लिया गया नाम है, एक काल्पनिक पात्र का नाम जिसके ऊपर एक फिल्म भी बनी थी

'झोरबा दि ग्रीक'। वह पदार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है और 'गौतम दि बुद्ध' अध्यात्मवादी नजरिये के प्रतीक हैं।

ओशो कहते हैं कि बुद्ध भी अधूरे हैं और झोरबा भी अधूरा है। दोनों का एक महासंगम होना जरूरी है और तभी यह मनुष्य जाति बच सकेगी। पुराने ढंग से जीते हुए यह धरती बच न सकेगी। दोनों विफल हो गए हैं; धर्म भी और विज्ञान भी। विज्ञान धीरे-धीरे विध्वंसक होता चला गया; परमाणु बम, जैविक हथियार और स्टार वार्स पर पहुंच गया है। क्योंकि भीतर शांति नहीं है। मन में अशांति है, हिंसा है, ईर्ष्या है, वैमनस्य है।

काश, विज्ञान के साथ धर्म जुड़ जाए, तब विज्ञान भी सद् परिणाम लाने वाला हो जाएगा। फिलहाल विज्ञान निरंतर दुष्परिणामों की ओर बढ़ रहा है। सावधान! अकेला अध्यात्म भी सफल नहीं हुआ। उससे भीतर कुछ लोगों को शांति मिली लेकिन बड़े तल पर समाज दरिद्रता में, दीनता-हीनता में जीता रहा। वह भी उचित नहीं। पदार्थवादी भीतर अहंकारग्रस्त है, तनाव से भरा है; बेचैन है। इसलिए पश्चिमी जगत में मानसिक रोग बढ़ता ही चला जा रहा है।

सावधान! एक समन्वय जरूरी है। विज्ञान और अध्यात्म का एक महासंगम अनिवार्य है। तभी यह धरती स्वर्ग बन सकती है, उसके बिना यह संभव नहीं। जैसे मनुष्य का होना- शरीर और आत्मा का जोड़ है। इन दोनों में आपस में कोई विरोध नहीं है। ऐसा समझें कि आत्मा निकल जाए तो शरीर क्या बचेगा? मुर्दा लाश। और शरीर के न होने से आत्मा क्या होगी? भूत-प्रेत। ठीक ऐसे ही अतीत में जो अध्यात्म था केवल आत्मा-परमात्मा पर जोर दे रहा था, शरीर की उपेक्षा कर रहा था। वह भुतहा अध्यात्म था। और पश्चिम का जो भौतिकवाद मुर्दा लाश की तरह है। इन दोनों का सुखद संयोग हो, तभी एक जीवित व्यक्ति हो सकता है।

हमने बचपन से ही जंगल में लगी भीषण आग की वह कहानी सुनी है जिसमें एक अंधा और लंगड़ा, आपसी सहयोग द्वारा अपने प्राण बचाते हैं। लंगड़ा अंधे के कंधे पर बैठकर चलने की दिशा बताता है, और अंधा अपने मजबूत पैरों से भागकर वन की आग से बाहर सुरक्षित निकल आता है। यह कथा मनोरंजक ही नहीं, गहन रूप से प्रेरणास्पद भी है। जीवन के विभिन्न आयामों पर लागू होती है। पूरब के पास शांति है, दृष्टि है, मगर शक्ति नहीं है। पश्चिम के पास ताकत है, किंतु दिशा-बोध नहीं है, लक्ष्य नहीं है। पूरी मनुष्य जाति खतरे में है। आतंकवाद, तृतीय विश्वयुद्ध की संभावना, आर्टिफिशियल इंटैलीजेन्स एवं बायोलॉजिकल वेपन्स के खतरे, विक्षिप्त महत्वाकांक्षा की आग आदमियत को सामूहिक आत्मघात, ग्लोबल सुसाइड की कगार पर ले आई है। यह हमारी घृणा-आधारित जीवन शैली, तथाकथित दमनवादी सभ्यता और जीवन-विरोधी धर्मों का भयानक दुष्परिणाम है। समय रहते चेत जाना जरूरी है।

सद्गुरु ओशो की मौलिक देशना यही है कि वे चाहते हैं कि 'पूर्ण मनुष्य' पैदा हो। उसको वे कहते हैं- नया मनुष्य, दि न्यू मैन। वह वैज्ञानिक हो, कलाकार भी हो, वह पदार्थवादी हो और अध्यात्मवादी भी। वह बाहर से सारे सुखों का भोग करेगा, वह त्यागी तपस्वी नहीं होगा। भीतर वह शांति, प्रेम और समाधि को जानेगा, खुद में परमात्मा को पहचानेगा। ऐसा व्यक्ति ही पूर्ण आनंद को उपलब्ध हो सकता है। यही सद्गुरु ओशो का मूल संदेश है।

मा मोक्षा- गुरुदेव, आपका बहुत-बहुत धन्यवाद हमें कम्यून की व्यवस्था को सूक्ष्मता से समझाने के लिए।

दर्शक मित्रो; आओ, ओशो के मौलिक संदेश- झोरबा दि बुद्धा होकर हम सब अपनी जीवन शैली को संवारें और निखारें।

धन्यवाद। जय ओशो।

पिताश्री का महापरिनिर्वाण

मोक्षा– गुरुदेव, आज एक प्रश्न आया है कि ओशो के पिताजी के निर्वाण के बारे में हमें कुछ बताइये?

स्वामी शैलेन्द्र जी– उस घटना के पूर्व थोड़ी सी भूमिका की बातें बताऊं।

पिताजी को खानदानी मधुमेह एवं हृदय की बीमारी थीं। उनकी देख–रेख के लिए मैं उन दिनों अस्पताल में ही रहता था। वे लगभग डेड़ महीने अस्पताल में भर्ती रहे। अंतिम दिन उन्हें कोई विशेष घटना घटीं। लगभग सुबह 4 बजे वह रोज उठकर ध्यान करते थे। ऐसा वे पिछले बीस साल से करते आ रहे थे। उस दिन जब वह सुबह चार बजे उठे, ध्यान किया। उसके बाद उन्होंने जब आंखें खोलीं, हम लोग जो वहां मौजूद थे, उन्होंने हमको बुलाया और कहा कि आज कुछ अद्‍भुत घटना घटी है। इसको समझना ही मुश्किल है और मैं अत्यंत आनंदित हूं। न जाने आज ध्यान में क्या हुआ, मैं बड़ा प्रफुल्लित हूं। कुछ गजब हुआ!

उनके शरीर के जैसे सारे रोग उस दिन विदा हो गए। कुछ देर बाद सुबह की जांच करने के लिए जब कंसल्टेंट डॉ. एच.वी. सरदेसाई आए तो वे भी आश्चर्यचकित थे कि इनका स्वास्थ्य तो बहुत ही अच्छा हो गया। उन्होंने कहा– अब आप बिल्कुल ठीक हैं। कल सुबह अस्पताल से डिस्चार्ज कर देंगे। कल आप घर जाने की तैयारी कर लीजिए।

पिताजी ने हम लोगों से कहा– ओशो को संदेश भेजो कि मैं मिलना चाहता हूं।

ओशो को संदेश भेजा गया। ओशो ने कहा कि वे दोपहर को मिलने आएंगे भोजन के पश्चात्। पिताजी बहुत प्रसन्न हुए कि ओशो मिलने आएंगे। लेकिन दोपहर का समय आते–आते पिताजी ने कहा कि ओशो को खबर कर दो कि अब आने की जरूरत नहीं रही।

आश्चर्य की बात थी यह! ओशो को ऐसी ही खबर भेजी गई।

ओशो ने कहा– मैं भोजन के पश्चात् जरूर आऊंगा।

ओशो मिलने के लिए आए। पिताजी से हालचाल पूछा– शरीर के स्वास्थ के बारे में। पिताजी ने शरीर की बात ही नहीं की। वे कहने लगे कि मुझे भीतर बड़ा अनूठा आनंद आ रहा है। अदभुत भाव उमगा है और अत्यंत रसपूर्ण महसूस कर रहा हूं।

ओशो शरीर की बात पूछते। पिताजी शरीर की बात ही नहीं बताते। वे कहते– छोड़ो स्वास्थ्य को। मेरे भीतर जो घटना घट रही है, यह अद्‍भुत है। मैं अहोभाव में डूब गया हूं।

ओशो ने पिताजी से बड़ी पदार्थवादी बातें कीं। कहा कि आपके लिए फलाँ कार बुलवा रहे हैं, एक ड्राइवर रख देंगे, आपको कहीं भी आना–जाना हो तो आ–जा सकते हैं। पिताजी ने कोई इंट्रेस्ट नहीं दिखाया। ओशो ने कहा कि आपका बाथरूम रेनोवेट हो रहा है, उसमें इस रंग का संगमरमर लगेगा। पिताजी ने मानो सुना ही नहीं।

पिताजी अपने भीतर की बात बताते गए कि मुझे क्या हुआ, कैसा आनंद झर रहा है!

बाद में फिर ओशो ने बताया कि मैं उनकी परीक्षा ले रहा था कि क्या बाहर की चीजों में अभी भी उनका रस शेष है या नहीं? ओशो ने इस बात की भी चर्चा की कि उन्होंने दोपहर को आने के लिए मुझे क्यों मना कर दिया था। क्योंकि दोपहर के पहले तक उनके मन में मेरे प्रति आसक्ति थी, मोह था। पुत्र के रूप में नहीं, गुरु के रूप में। दोपहर होते–होते वह

आसक्ति भी विदा हो गई थी। उनका अंतिम बंधन भी टूट गया था। शेष सारे बंधन तो पहले ही टूट गए थे, आखिरी बंधन जो गुरु–शिष्य का होता है, वह भी समाप्त हो गया। इसीलिए उन्होंने खबर भेजी थी कि अब आने की जरूरत नहीं।

ओशो ने कहा कि जैसे ही यह खबर आई, मैं समझ गया कि अब उनका आखिरी बंधन भी छूट गया और अब वे शायद इस देह में भी नहीं रह पाएंगे; संभवतः यही उनका आखिरी दिन है। अब वे पूर्णतः मुक्त हो गए हैं। शरीर से भी वे मुक्त हो जाएंगे।

ओशो के विदा होने के थोड़ी ही देर बाद, संध्या बेला में पिताजी ने देह त्याग दी। ओशो के निर्देशानुसार आश्रम में खूब महोत्सव मनाया गया। ओशो ने कहा, यह तारीख आठ सितंबर, महापरिनिर्वाण दिवस के रूप में प्रतिवर्ष मनाया जाए। सिर्फ ये मेरे पिताजी का ही नहीं, आने वाले समय में और भी मेरे संन्यासी विदा होंगे, उन सबका महापरिनिर्वाण महोत्सव के रूप में मनाया जाए। 1979 से वैसा उत्सव हर साल मानाया जाता है।

सामान्य व्यक्ति की मृत्यु दुखदायी होती है, अफसोस वाली होती है; क्योंकि बड़े बंधनों में बंधा होता है। वह जाना नहीं चाहता और जाना पड़ता है। यमराज के दूत घसीट कर ले जाते हैं क्योकि वह जाने को तैयार ही नहीं। लेकिन जो व्यक्ति सारे बंधनों से मुक्त हो गया और उसे कोई भी मोह बाक़ी नहीं, जो जाने को तैयार ही बैठा है।

कबीर साहब कहते हैं–

'जिस मरणी से जग डरै, मेरो मन आनंद; कब मरिहों, कब भेंटिहों पूरण परमानंद।।'

ऐसा व्यक्ति तो शान से जाता है, उत्सव से जाता है। उसका जीवन भी उत्सव है, उसकी मौत भी उत्सव है। ओशो के पिताजी की अंतिम विदाई एक अद्‌भुत घटना थी। उनके शिष्यों में वे प्रथम व्यक्ति हैं जो महापरिनिर्वाण को उपलब्ध होकर गए। बाद में तो फिर और भी लोग गए। ओशो ने आश्रम में उन लोगों की समाधियां बनवाईं, जो लोग पूर्ण मुक्ति पाकर विदा हुए। ऐसी सात समाधियां और भी हैं।

मा मोक्षा– ओशो आश्रम में किसी की मृत्यु होती है, तो सब लोग नाचकर उसे विदाई देते हैं। क्या यह सच है?

स्वामी शैलेन्द्र जी– बिल्कुल सच है। हंसते हैं, गाते हैं। जिन्दगी भर जिसके साथ नाचे, गाए, उत्सव मनाए, झूमे, क्या उसे रो–रोकर विदा देंगे? अच्छी–खासी विदाई देनी चाहिए, उत्सवपूर्ण होनी चाहिए। संत कबीर के साथ इस परंपरा की शुरूआत हुई थी। बीच में वह विलुप्त हो गई थी। ओशो ने पुनः उस परंपरा को जीवित किया है।

स्वयं ओशो की विदाई भी महोत्सव के साथ हुई। जीवन भर जो व्यक्ति आनंद से जिया है, उसे रो–रोकर क्यों विदा करना? आनंदपूर्वक विदा करो। जीवन का भी स्वीकार हो, मृत्यु का भी स्वीकार हो। दोनों ही इस महाजीवन के हिस्से हैं।

पिताजी के देहावसान के समय ओशो जो प्रवचनमाला दे रहे थे, बाद में उन्होंने उसका उपशीर्षक बदला। किताब का नाम था 'काहे होत अधीर'। ओशो ने उसके नीचे लिखा– 'महाजीवन है अभी और यहीं'। थोड़े दिनों पहले उसकी एमपी थ्री भी प्रकाशित हुई है दो भाग में। एक का नाम है 'महाजीवन है अभी', दूसरे का नाम है 'महाजीवन है यहीं'।

महाजीवन का अर्थ है– वह विराट जीवन, जिसके अंदर जन्म, जीवन, मृत्यु जैसी

छोटी–छोटी घटनाएं लाखों बार घटती हैं। एक–दो बार नहीं, हजारों दफे हम यहां आ चुके हैं, आगे भी आएंगे। ये छोटी–मोटी घटनाएं हैं। महाजीवन वह बेहतर परिप्रेक्ष्य है, जिसमें ये सब कुछ घट रहा है– वह संदर्भ, वह कांटेक्स्ट– जो शाश्वत है, सनातन है। यह आना–जाना तो खेल की तरह है। इसको उत्सव की भांति लेना, लीलावत– यही ओशो ने सिखाया है।

पिताजी के एवं स्वयं ओशो के निर्वाण पर भी महोत्सव हुआ। अन्य संन्यासी भी जब–जब विदा हुए, उनका सेलिब्रेशन मनाया गया। स्वस्थ जीवन शैली ऐसी होनी चाहिए– मृत्यु का भी स्वीकार। मृत्यु हमारी दुश्मन नहीं है, शत्रु नहीं है। अगर हमने ठीक ढंग से जीवन को जिया है, तो मृत्यु हमें मित्र की भांति, हितैषी जैसी लगती है। यह शरीर जीर्ण–शीर्ण हो गया, पुराना हो गया, मृत्यु हमसे कह रही है कि चलो, इसको छोड़ो। तुम्हें एक नया शरीर देते हैं, फिर नए बच्चे की तरह खेलना, कूदना, उछलना, मजा–मौज करना।

जैसे कोई आदमी पुराने खंडहर में रह रहा है, उसे कहा जाये कि इस मकान से बाहर निकलो, एक नया बंगला, बड़ा महल आपको देते हैं, उसमें निवास करो। जो हमको लेने आया है संदेशवाहक, यह दुश्मन है कि दोस्त है? निश्चित ही हमारा मित्र है, हितैषी है। वह कह रहा है पुराने खंडहर में क्यों जी रहे हो? ठीक इसी प्रकार यह शरीर आत्मा का निवास स्थल है। समय के साथ जराजीर्ण होता है। किसी को हृदय रोग, किसी को किडनी रोग, किसी को मस्तिष्क रोग होगा, किसी को चोट, किसी को केंसर या कुछ और। एक दिन ऐसा आएगा कि तकलीफ बहुत ज्यादा हो जाएंगी। तब कोई जरूरत नहीं इसमें रहने की।

इस संदर्भ में याद आया कि पिताजी के पैर की नसों में थ्रांबोसिस हो गई थी, खून के थक्के जम गए थे। डॉक्टरों ने कहा कि खतरा है, ये थक्के ब्लड सर्कुलेशन में आएंगे; अगर हृदय में पहुंच गए तो हृदयाघात होगा या मस्तिष्क में पहुंच गए तो लकवा लग जाएगा। इसलिए पैर का ऑपरेशन करना जरूरी है। चूंकि मल्टीपल थ्रांबोसिस हैं, इसलिए एक नस काटने से नहीं होगा, पूरा पैर ही काटना पड़ेगा, एम्प्यूटेशन करना होगा।

पिताजी ने कहा कि पहले ओशो से पूछ लो वे क्या कहते हैं? अगर वे कहेंगे तो मैं राजी हूं, वे नहीं कहेंगे तो फिर सर्जरी नहीं करना। ओशो से पूछा गया कि डॉक्टर की सलाह यह है कि एक पैर काटना होगा। ओशो ने कहा कि नहीं, पैर काटने की जरूरत नहीं। उन्होंने अपना जीवन परिपूर्णता से जिया है। अब जो हो, सो हो; अंग–भंग नहीं करना।

पिताजी बोले, मैं ऑपरेशन नहीं करवाऊंगा। मेरे गुरु ने मना किया है।

डॉक्टर ने समझाया कि खतरे हैं। वे बोले– कोई बात नहीं, जो भी हो मैं राजी हूं।

ऐसी सम्यक दृष्टि होनी चाहिए कि किस सीमा तक इलाज करवाना है और किस सीमा के बाद इलाज नहीं। कहां तक चिकित्सा हमारे लिए वरदान है और कहां चिकित्सा स्वयं एक अभिशाप हो जाती है। क्या जरूरत है हाथ–पैर कटवाकर जीने की। एक नया शरीर मिल जाएगा। बच्चे बनकर फिर खेलो, कूदो, उछलो, मजा करो। क्या जरूरत है पुराने खंडहर में रहने की। ऐसी समग्र दृष्टि में मृत्यु की भी स्वीकृति है मित्र की भांति।

बौद्ध परंपरा में निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है– अहंकार रूपी दीपक का बुझ जाना। परमानंद की दशा। ऐसे निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति की देह छूटने पर आवागमन से मुक्ति हो जाती है। मोक्ष की उपलब्धि को ही बौद्ध परंपरा में महापरिनिर्वाण कहा जाता है।

मा मोक्षा– अभी आप कह रहे थे कि यहां पर एक

कार्यक्रम होता है: महाजीवन प्रज्ञा। उसके बारे में कुछ बताएंगे?

स्वामी शैलेन्द्र जी– महाजीवन प्रज्ञा में पिछले जन्मों के स्मृति को जगाया जाता है। भगवान बुद्ध और महावीर ने इस प्रक्रिया को आरंभ किया था। इसका नाम उन्होंने रखा था जाति–स्मरण। अब तो पश्चिमी मनोवैज्ञानिक भी इस पद्धति को उपयोग में ला रहे हैं।

हम महाजीवन प्रज्ञा के पहले सुझाव देते हैं कि सम्मोहन प्रज्ञा शिविर में भाग लें। क्योंकि सम्मोहन की कला ही उपयोग में आती है, महाजीवन को जानने के लिए। सम्मोहन की कला में हम अपने भीतर के सब–कान्शस माइंड में पहुंचने का गुर सीख जाते हैं। हमारे अवचेतन मन के तहखाने में सारी स्मृतियां मौजूद हैं। धीरे–धीरे हम अपनी पिछले जन्मों की स्मृतियों को जगा सकते हैं। पिछले जन्मों की घटनाएं याद आ जाएंगी। उसी का नाम है महाजीवन प्रज्ञा, यह त्रिदिवसीय शिविर है।

कई जन्मों की याद आ जाने के उपरांत यह स्पष्ट हो जाता है कि मैं कितनी बार जन्मा, कितनी बार जिया, कितनी आजीविका कमाई, कितनी घर–गृहस्थी बसाई और कितनी बार मरा। उन शरीरों से उस समय में मेरा तादात्म्य हो गया था और मैं समझता था वही मैं हूं। लेकिन वह शरीर तो चिता में राख हो गया, मैं तो फिर भी रहा। मैं कोई और ही हूं। तो अपनी देह से तादात्म्य टूटता है, और मन से भी आइडेंटिफिकेशन छूटता है। फिलहाल मैं इस घर में रह रहा हूं लेकिन मैं यह घर नहीं हूं। मैं घर के भीतर रहने वाला चैतन्य हूं। यह घर एक दिन खराब होकर गिर जाएगा। मैं नए घर में प्रवेश कर जाऊंगा। घर बदल जाएगा, मैं नहीं बदलूंगा। मैं कोई और ही हूं।

जाति–स्मरण की प्रक्रिया बुद्ध और महावीर के जमाने में कठिन थी। इस बीच में जो मनोविज्ञान विकसित हुआ है, उसके माध्यम से विशेषकर सम्मोहन की कला के माध्यम से अपने पिछले जन्मों का ज्ञान हासिल करना बहुत ही सुगम और सरल हो गया है। मैं आपको आमंत्रित करता हूं कि आइए, सम्मोहन प्रज्ञा और महाजीवन प्रज्ञा, कुल मिलाकर तीन–तीन दिन के दोनों कार्यक्रमों में भाग लीजिए और अपने पिछले जन्मों का स्मरण कीजिए। आप अचानक पाएंगे कि सारे जीवन से आसक्ति विदा हो गई। तब आप जीवन को एक खेल की भांति लेंगे। कुछ भी गंभीर नहीं रहेगा। सब कुछ उत्सवपूर्ण हो जाएगा।

अपने स्वयं के अनुभव से एक अद्‌भुत समझ पैदा होती है। हो सकता है कि आप में से बहुतेरे लोग पुनर्जन्म के सिद्धांत में विश्वास करते हों। लेकिन उनका विश्वास बस अंधविश्वास ही है। जब उनके जीवन पर कोई संकट आन पड़ेगा, तब वे व्यथित हो जाएंगे, आकुल–व्याकुल हो जाएंगे, परेशान हो जाएंगे। तब पुनर्जन्म का सिद्धांत काम नहीं आएगा। लेकिन जिस व्यक्ति ने अपने कई–कई जन्मों को देख लिया, उसके लिए अब वह केवल बौद्धिक सिद्धांत नहीं है। अब सिर्फ शास्त्रीय या किताबी बात नहीं रह गई। यह किसी गुरु का वचन, पैगंबर का संदेश या अवतार की वाणी नहीं है। अब यह स्वानुभव की बात है।

ऐसा व्यक्ति फिर मृत्यु से नहीं डरेगा। क्योंकि वह खुद की मृत्यु को अनेक बार देख चुका है। खेल जैसी बात हो गई। इस जीवन से विराटतर जीवन को उसने जान लिया, उसी का नाम महाजीवन है। एक बार ओशो की किताब का शीर्षक स्मरण दिला दूं– 'महाजीवन है अभी और यहीं'। यह किसी परलोक की बात नहीं, वर्तमान में मौजूद है।

मा मोक्षा– डेथ सेलिब्रेशन की तरह ही आश्रम में संन्यास सेलिब्रेशन भी होता है। कृपया इसके बारे में तथा संन्यास के अभिप्राय के विषय में भी कुछ बताइए?

स्वामी शैलेन्द्र जी– संन्यास का अभिप्राय यही है कि हम पूर्णता से जीएंगे, समग्रता से जीएंगे। अपने जीवन को ध्यानपूर्वक, होशपूर्वक, भक्तिपूर्वक जीएंगे, प्रार्थना और अहोभाव में जीएंगे। जीवन को एक सृजनात्मक, रचनात्मक मोड़ देंगे। क्रिएटिविटी में, मेडिटेटिव अवेयरनैश में, लव एंड डिवोशन में जीने के संकल्प का नाम संन्यास है।

पुराने संन्यास से इसका भेद स्पष्ट कर दूं। पुराना जो संन्यास था, वह त्यागवादी, तपस्यावादी, दुखवादी, पलायनवादी था। वह समाज से, परिवार से, जिम्मेवारियों से, उत्तरदायित्वों से मुंह मोड़ने का नाम था। ओशो ने जो संन्यास दिया है, वह उत्सव का नाम है, उदासी का नहीं। पुराना संन्यासी निराशा में जीता था। ओशो का संन्यासी उत्सव में जीता है। पुराना संन्यासी त्याग व कष्टों में जीता था। ओशो का संन्यासी सुख–सुविधा में जीता है। जीवन का महाभोग करता है। सच पूछो तो ध्यानस्थ व्यक्ति ही जीवन का परमभोग कर पाता है। इस प्रकार ओशो के संग संन्यास ने बिल्कुल नया ढंग ले लिया।

निश्चित ही ऐसे संन्यास में दीक्षित होना भी उत्सव का माध्यम हो गया। इसलिए आश्रम में उत्सव मनाया जाता है, जब लोग संन्यास दीक्षा लेते हैं। क्योंकि वस्तुतः अब वे नए ढंग से अपनी जीवन शैली को निखारने की ओर कदम बढ़ा रहे हैं। सच्चिदानंद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अभी तक का जीवन तो नाम मात्र का ही जीवन था। अब असली जीवन की शुरूआत हो रही है। कहना चाहिए, महाजीवन में प्रवेश हो रहा, एक नया जन्म हो रहा है।

पुराने जमाने में ऐसे व्यक्ति को द्विज कहा जाता था, दोबारा जन्मा। एक जन्म माता–पिता ने दिया, वह देह का जन्म था। दूसरा जन्म सद्गुरु ने दिया, जब हमारे भीतर शिष्यत्व की भावना पनपती है और हम साधना के मार्ग पर आगे बढ़ना शुरू करते हैं। उसे ऐसा ही समझो कि दोबारा जन्म की प्रक्रिया में, द्विज अर्थात् ब्राह्मण होने की दिशा में चले।

निश्चित ही यह तो बड़े उत्सव की बात है। जब शरीर के जन्म तक की खुशी मनाई जाती है, तो आत्मा के जन्म की खुशी का तो कोई ठिकाना ही नहीं होना चाहिए। संन्यास महोत्सव है। क्योंकि इसके बाद तो जीवन का क्षण–क्षण ही उत्सव हो जाएगा और अंततः मृत्यु भी महापरिनिर्वाण बन जाएगी, वह भी महोत्सव हो जाएगी। सदगुरु ओशो ने बंगाल के संत चंडीदास की एक प्यारी पंक्ति को अपने नव–संन्यास की परिभाषा बताते हुए, इस वचन को अपनी किताब की शीर्षक भी चुना है– 'उत्सव आमार जाति, आनंद आमार गोत्र।'

मा मोक्षा– गुरुदेव, आपका लाख–लाख धन्यवाद! आपने महाजीवन के बारे में बताया, जन्म–मृत्यु की लीला समझाई, ओशो के नव–संन्यास का उत्सवमय स्वरूप उजागर किया।

मित्रो, सद्गुरु आशो की जिन पुस्तकों एवं आडियो सीडी का जिक्र हुआ, आप ईमेल या फोन द्वारा हमें आर्डर भेज सकते हैं। सम्मोहन प्रज्ञा, महाजीवन प्रज्ञा तथा नव–संन्यास दीक्षा हेतु हमारा आमंत्रण स्वीकारें। धन्यवाद।

जय ओशो। जय ओशो।। जय ओशो।।।